श्री ज्ञानचन्द्र जी आर्य्य
सभासद् सार्वदेशिक आर्य्य प्रतिनिधि सभा

ओ३म्

सत्य-निर्णय

अर्थात्

महात्मा गांधी जी के आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक पर किये
आक्षेपों तथा महात्मा जी के माने हुये हिन्दू-धर्म की
असलियत

लेखक

श्री ज्ञानचन्द आर्य,

सभासद आर्य्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली।

प्रकाशक

श्री महात्मा नारायण स्वामी जी,

प्रधान सार्वदेशिक आर्य्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली।

हिन्दी संस्करण १००० | १९३३ ई० | मूल्य १॥)

विषय-सूची

कृतज्ञता

पाठक-वृन्द ! इस पुस्तक के उर्दू संस्करण को प्रकाशित हुये लगभग ढाई वर्ष हो चुके हैं और उसका हिन्दी अनुवाद भी आपके सामने आगया है। परन्तु आपकी जानकारी के लिये यह लिख देना उचित समझता हूं कि जिस समय मैं इस पुस्तक को लिख रहा था उस समय महात्मा गांधी जी के उग्र-व्यक्तित्व से प्रभावित हुये कतिपय आर्य्य सज्जनों ने मुझे यह सलाह दी थी कि मैं इस पुस्तक को न लिखूँ। किन्तु जिस समय यह पुस्तक प्रकाशित हुई और उन्होंने पढ़ी उस समय उन्होंने और दूसरे पुस्तक पढ़नेवाले आर्य्य विद्वानों ने न केवल उसकी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा ही की अपितु, प्रत्येक हिन्दू व मुस्लिम लीडर को भेजने तथा उसका हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद कराकर मुद्रित कराने की भी प्रार्थना की। इसलिये मैंने आपकी आज्ञा को शिरोधार्य करके इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कराया है। अंग्रेजी अनुवाद चाहने वाले सज्जनों की सेवा में यह निवेदन है कि यदि मेरा स्वास्थ्य अच्छा रहा तो इसका अंग्रेजी अनुवाद कराने का भी यत्न करूँगा।

—ज्ञानचन्द्र

ओ३म्

प्रार्थना

ग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
'योध्यस्मज्जुहुराण मेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥

ले (यजु० अ० ४० मंत्र १६)

भजन १

कि मातु सहायक स्वामि सखा, तुम ही इक नाथ हमारे हो।
भक के कछु और अधार नहीं, तिनके तुम ही रखवारे हो॥
ा भाँति सदा सुख-दायक हो, दुख-दुर्गुण नाशन हारे हो।
प्रतिपाल करो सगरे जग को, अतिशय करुणा उर धारे हो॥
भुलिहैं हम ही तुमको, तुम तो, हमरी सुधि नाहिं बिसारे हो।
उपकारन को कछु अन्त नहीं, छण ही छण जो विस्तारे हो॥
महराज! महा महिमा तुम्हरी, समझैं विरले बुधवारे हो।
शुभ, शान्ति-निकेतन, प्रेमनिधे! मन-मन्दिर के उजियारे हो॥
यहि जीवन के तुम जीवन हो, इन प्रानन के तुम प्यारे हो।
तुम सों प्रभु पाय "प्रताप" हरी! केहिके अब और सहारे हो॥

भजन २

मुझे धर्म-वेद से हे पिता! सदा इस तरह का प्यार दे।
कि न मोड़ूँ मुँह कभी उससे मैं, कोई चाहे सर भी उतार दे॥

वह कलेजा राम को जो दिया, वह जिगर जो बुद्ध को अता किया।
वह फ़राख़ दिल दयानन्द का, दयाकर मुझे एक बार दे॥
न हो दुश्मनों से मुझे गिला, करूँ मैं बदी की जगह भला।
मेरे लब से निकले सदा दुआ, कोई चाहे कष्ट हजार दे॥
न हो मुझको ख़ाहिशेमर्तबा, न हो मालो ज़र की हवस मुझे।
मेरी उम्र ख़िदमते ख़ल्क़ में, करके रहबरी तू गुज़ार दे।
मुझे प्राणि-मात्र के वास्ते, करो सोज़ेदिल वह अता पिता
जलूँ उनके ग़म में मैं इस तरह, कि न ख़ाक तक भी गुबार दे
न किसी का मर्तबा देखकर, जले दिल में नारेहसद कभी।
जहाँ जिस तरह रहूँ, रहूँ शान्त मैं, मुझे ऐसा सब्रो क़रार दे॥
लगे ज़ख़्म दिल पै किसी के गर, तो मेरे दिल में तड़प उठे।
मुझे ऐसा दे दिले दर्दरस, मुझे ऐसा हृदय उदार दे।
है 'प्रेम' की यही कामना, यही एक उसकी है आरज़ू
कि वह चन्दरोज़ः हयात को, तेरी याद में ही गुज़ार दे।

(शब्दार्थ) अता किया = प्रदान किया। फ़राख़ = विशाल
गिला = शिकायत। लब = ओंठ (मुख)। मर्तबा = प्रतिष्ठा
ज़र = रुपया-पैसा। हवस = लोभ। ख़ल्क़ = जनता। रहबरी =
मार्ग-प्रदर्शन। सोज़ = जलन। ख़ाक = मिट्टी, धूल। नारेहसद = ईर्ष्या
की अग्नि। क़रार = स्थिरता। गर = अगर। दर्दरस = दर्दमन्द
चन्दरोज़ः = क्षणभंगुर। हयात = जीवन।

भूमिका

कुछ समय हुआ, महात्मा गान्धी ने भारतवर्ष के राजनीतिक ार्यों में झगड़े रहने के कारणों पर विचार करते हुए आर्यसमाज ी आलोचना की थी। उस लेख में केवल आर्यसमाज ही पर ापारोपण नहीं किया गया था वरन् आर्यसमाज के प्रवर्त्तक तथा ार्यसमाज में प्रचलित प्रथायें आदि भी उनकी चोट से न बच की थीं। इस आक्षेप को देश के शिक्षित-वृन्द ने साधारणतया इस ारण अनुचित ठहराया था कि वह आक्षेप समालोचना की सीमा बाहर चला गया। उस आलोचना की आड़ में महात्मा जी ने यह ट्रा की थी कि मुसलमानों को इस आक्षेप से प्रसन्न करें जिससे न्दू-मुसलमानों में मेल होकर देश को लाभ पहुँच सके। भारतवर्ष लगभग, नाम लेने के योग्य, सभी समाचार पत्रों ने इस आक्षेप र अपने विचार प्रकट किये और उनके वे विचार महात्मा जी की ालोचना के विरुद्ध ही थे। यह सब बातें प्रसिद्ध हैं और अब तक ोगों को स्मरण हैं।

लाला ज्ञानचन्द्र आर्यसमाज के स्वाध्यायशील पुरुषों में से एक । उनको जो कोई भी जानता है वह इस बात से भी परिचित है क उनका स्वाध्याय कितना गहरा है। जिस प्रकार की समालोचनाएँ श में की गईं उनसे उनको सन्तोष नहीं हुआ; क्योंकि उनमें

महात्मा गान्धी के आक्षेप को अनुचित सिद्ध करते हुए केवल यही प्रकट किया गया था कि आर्यसमाज देश के लिये साधारणतः और हिन्दू-जाति के लिए विशेष कर बहुत ही लाभप्रद समाज है। उन समालोचनाओं में आक्षेप किये हुये विषयों के अनुकूल और प्रतिकूल पक्षों पर प्रकाश नहीं डाला गया था। इसलिये लाला ज्ञानचन्द्र जी ने चाहा कि महात्मा जी के आक्षेपों की वैज्ञानिक विधि से जाँच और पड़ताल की जाय। उनकी इस जाँच-पड़ताल का परिणाम यह ग्रन्थ है जो अब सर्वसाधारण के हाथों में पहुँच रहा है। ग्रन्थ में लेखक ने, जहाँ आर्यसमाज तथा उसके प्रवर्त्तक और उसके सिद्धान्तों पर किये हुए आक्षेपों में से एक-एक पर विस्तार से विचार किया है, वहाँ महात्मा जी के बतलाए हुये उनके सिद्धान्तों की भी समालोचना की है।

इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें जो कुछ पक्ष या विपक्ष में कहा गया है उनमें से एक भी बात बिना प्रमाण के नहीं है। स्थान-स्थान पर महात्मा गान्धी के उन लेखों के उद्धरण दिये गये हैं जो समय-समय पर उनके समाचारपत्रों, यंग इण्डिया और नवजीवन, के द्वारा प्रकाशित हुए हैं।

दूसरी बात जो ग्रन्थ पर साधारण दृष्टि डालने से ही स्पष्ट हो जाती है यह है कि महात्मा गान्धी के सिद्धान्तों तथा आक्षेपों का, उचित उक्तियों तथा प्रमाणों के साथ, पूर्णतया खंडन करते हुए भी, जहाँ कहीं उनकी चर्चा की गई है वहाँ उनके व्यक्तित्व और सम्मान का पूरा ध्यान रक्खा गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के कोई-कोई अंश तो अत्यन्त रोचक हो गये हैं। महात्मा जी ने एक जगह आर्यसमाज के संस्थापक, स्वामी दयानन्द सरस्वती, पर यह दोष लगाया है कि उन्होंने हिन्दू-धर्म को संकुचित बना दिया है। लेखक ने जहाँ इस आक्षेप का खंडन किया है वहाँ यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि स्वामी दयानन्द ने ही हिन्दू-धर्म में आई हुई संकीर्णता को दूर करके उसे और भी विस्तृत और विशाल बना दिया है। स्वामी दयानन्द से पहले का हिन्दू-धर्म आज्ञा नहीं देता था कि वेदों को अहिन्दू या शूद्र वर्णवाले पढ़ सकें; लेकिन स्वामी दयानन्द ने इस बन्द द्वार को खोलकर घोषणा कर दी कि वेद ईश्वर-रचित पदार्थ, सूर्य, वायु, जल की भांति एक ईश्वर-प्रदत्त वस्तु हैं, और जिस तरह सूर्य, हवा अथवा पानी को एक-एक प्राणी अपना अधिकार समझ कर प्रयुक्त करता है उसी तरह प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है कि वह वेद को पढ़े और उससे लाभ उठाये। उस समय का हिन्दू-धर्म आज्ञा नहीं देता था कि स्त्रियाँ और शूद्र शिक्षा प्राप्त कर सकें; लेकिन स्वामी दयानन्द ने इस बन्द दरवाजे को भी खोल दिया, और आर्यसमाज ने सैकड़ों पाठशालाएँ खोलकर कन्याओं और शूद्रों को पढ़ाना आरम्भ कर दिया। इसी तरह की और भी बहुत सी बातों की चर्चा करते हुए लेखक ने महात्मा गान्धी से प्रश्न किया है कि क्या इसी का नाम हिन्दू-धर्म को संकुचित करना है। पुस्तक का यह अंश अत्यन्त मनोरञ्जक और पढ़ने के योग्य है।

महात्मा गान्धी ने स्वामी दयानन्द पर एक और आक्षेप किया था कि उन्होंने जहाँ मूर्त्तिपूजा को हिन्दू-धर्म से निकाला वहाँ वेद को ईश्वरकृत और उसके एक-एक शब्द और मंत्र को पूज्य ठहरा कर एक सूक्ष्म मूर्त्तिपूजा का प्रचार कर दिया। पहले तो यह आक्षेप स्वामी दयानन्द पर लगता ही नहीं था; क्योंकि स्वामी दयानन्द से पूर्व हिन्दू-धर्म में वेद को ईश्वरकृत मानने का विचार साधारणतः प्रचलित था, परन्तु यदि इस आक्षेप को स्वामी दयानन्द पर आरोपित होता हुआ मान भी लिया जाय तो यह आक्षेप जितना स्वामी दयानन्द पर आरोपित हो सकता है उतना ही मुहम्मद साहब पर भी होता है; क्योंकि उन्होंने भी .कुरान को ईश्वरकृत मानकर उसके एक-एक शब्द को पूज्य ठहराया है। परन्तु महात्मा गान्धी ने स्वामी दयानन्द पर तो आक्षेप किया है और मुहम्मद साहब को इस आक्षेप की चोट से बचा कर सिद्ध कर दिया है कि उनका आक्षेप पक्षपात से रहित नहीं था। पुस्तक का यह भाग भी बड़ा ही रोचक है। पुस्तक के वे अंश भी बड़े मनोरञ्जक हैं जिनमें महात्मा गान्धी के माने हुए सिद्धान्तों की समालोचना की गई है।

शुद्धि की प्राचीनता ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध की गई है और दिखलाया गया है कि किस तरह अनेक जातियाँ हिन्दू-धर्म में यदा-कदा प्रविष्ट होती रही हैं। लेखक ने ग्रन्थ के आरम्भ में इस बात को भली-भांति स्पष्ट कर देने की चेष्टा की है कि महात्मा गान्धी का यह लेख या आक्षेप सत्य की सत्यता और असत्य की असत्यता सिद्ध करने के अभिप्राय से नहीं था किन्तु उसका

उद्देश राजनीजिक था और देश की नीति को लक्ष्य में रख कर ही महात्मा जी ने यह आक्षेप किया था।

ग्रन्थ को आदि से अन्त तक पढ़ जाइये। इसका हर एक भाग ज्ञानपूर्ण और लेखक के विस्तृत विचार का प्रमाण है। कोई भी इसको पढ़ कर लाभ उठाये विना नहीं रह सकता।

ग्रन्थ कुछ विलम्ब से अवश्य प्रकाशित हो रहा है। परन्तु विषयों के विचार से यह आर्यसमाज के स्थिर साहित्य का एक अंग है। इसलिए ग्रन्थ की उपयोगिता, देर से छपने के कारण, न कम ही हुई, न जाती ही रही।

प्रधान,
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

नारायण स्वामी

भूमिका

यह मनुष्यों का कर्त्तव्य है अथवा मनुष्य मनुष्यता के नाते इस बात का उत्तरदाता है कि वह उन भूलों और दोषों को यथा-शक्ति दूर करने का यत्न करे जो मनुष्यों को भ्रम में डालनेवाले हों, चाहे वह किसी नेता के हों या साधारण पुरुष के। बल्कि यदि ऐसी भूलें किसी प्रसिद्ध और बड़े आदमी से हुई हों तो उनका दूर करना और भी अधिक आवश्यक हो जाता है; क्योंकि उस व्यक्ति पर विश्वास रखने वाले, परन्तु वास्तविकता से अपरिचित लोग, केवल इस अन्धविश्वास के कारण ही उन भूलों को भी सत्य मान लेते हैं कि वे अमुक महापुरुष की कही या मानी हुई हैं। इसके सिवाय प्राचीन आर्य अन्वेषकों की कार्य-प्रणाली भी बतलाती है कि वह किसी बात को केवल इस कारण ही सत्य नहीं मान लेते थे कि वह किसी बड़े आदमी के विचार व आचार के अनुसार है; बल्कि वे उसको तभी सत्य और धर्म मानते थे जब वह युक्ति-युक्त या लोक-परलोक के लिए लाभप्रद होती थी। जैसा कि मनुस्मृति अ० १२ श्लोक १०६ में लिखा है—

"यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः"

अर्थात् जो तर्क से सिद्ध हो उसको ही धर्म जानो दूसरे को नहीं। यही शिक्षा महात्मा गान्धी जी के निम्नांकित लेखों से भी

मिलती है—"संसार के सब धर्म तर्क तथा युक्तियों की कसौटी पर परखे जा सकते हैं। यदि आज मुझे कुछ ऐसे शब्द वेदों, पुराणों या शास्त्रों से दिखलाये जायँ जो युक्ति-युक्त न हों तो मैं वेदों और शास्त्रों को मानने से इन्कार कर दूँ। यदि हिन्दू अपने धर्म से अछूतपन को दूर करने के लिए समय पर सावधान न हुए तो उन्हें याद रखना चाहिए कि उनका धर्म संकट में है।"—(प्रताप, लाहौर, १६ मार्च सन् १९२५—यंग इण्डिया से उद्धृत)।

यह उद्धरण महात्मा जी के उस भाषण में से लिया गया है जो उन्होंने १२ मार्च सन् १९२५ को, क्यूलन, दक्षिणी भारत में म्यूनिसिपैलिटी के ऐड्रेस के उत्तर में दिया था। एक और स्थान पर महात्मा जी उस अध्यापक की चिट्ठी का जवाब देते हुए लिखते हैं जिसने अपने विद्यार्थियों को चर्खा कातना इस कारण सिखलाया था कि यह महात्मा गान्धीजी की आज्ञा है :—

"हर एक मनुष्य की अपनी रुचि तथा अरुचि होती है। परन्तु जब एक मनुष्य का किसी महापुरुष पर विश्वास हो जाता है तो वह युक्तियों को तिलाञ्जलि देकर उस महापुरुष का पुजारी बन जाता है। मैं इसे अन्ध हीरो वरशिप (महापुरुषों की अन्धविश्वास-युक्त पूजा) समझता हूँ।……हममें से जो सब से महान् व श्रेष्ठ हो उसके वचनों और कार्यों पर भी कड़ी दृष्टि रखनी चाहिये। हीरो भी तो आख़िर नाशवान् हैं। उनसे भी भूल होना ऐसा ही सम्भव है जैसा कि हममें से सबसे निर्बल से भी भूल का होना संभव है। उनकी शक्ति का रहस्य,

उनकी निर्णायक योग्यता तथा कार्य करने की शक्ति में है। अतः यदि महापुरुष भूल करते हैं तो वह भयंकर हो जाती है। और जो मनुष्य या जाति उनकी अन्धाधुन्ध पूजा करती है और अपने महापुरुप के वचनों तथा कार्यों का विना विचारे अनुकरण करती है वह दुःख व विपत्तियों में फँस जाती है। अतएव युक्तियों का अन्धाधुन्ध अनुकरण करने की अपेक्षा 'महापुरुप की अन्धाधुन्ध पूजा' अधिक दोपयुक्त है"—(यंग इण्डिया, २६ जूलाई सन् १६२६—तेज, देहली, ५ अगस्त सन् १६२६)।

अतः मैं महात्मा जी के इस कथन को सर्वथा उचित मानता हुआ अपना कर्तव्य समझता हूँ कि आर्यसमाज तथा उसके प्रवर्त्तक के सम्बन्ध में महात्मा जी कृत अशुद्ध तथा अनुचित समालोचना और उनके धार्मिक विचारों की तर्क और प्रमाणों द्वारा जाँच करूँ। मेरी इस चेष्टा का मुख्य उद्देश्य एक तो यह है कि अपने सम्मान-योग्य नेता महात्मा जी का विना सोचे समझे अनुकरण करनेवाले विश्वासी भक्त और आर्यसमाज तथा उसके धार्मिक सिद्धान्तों से अनभिज्ञ लोग भ्रम से बचें, दूसरा उद्देश्य यह भी है कि श्री महात्मा जी को भी अपनी यथार्थ सम्मति के बदलने और अपने अनिश्चित तथा अव्यवस्थित धार्मिक विचारों पर पुनर्वार विचार करने की प्रेरणा हो। यह बात श्री महात्मा जी की निम्नलिखित इच्छा तथा आज्ञा के सर्वथा अनुकूल है :—

"समाजी भाइयों से मेरी प्रार्थना है कि निर्मल भाव से प्रकट की गई मेरी सम्मति पर क्रोध करने के बजाय वे मेरी टीका को

सीधे अर्थ में लें। इसकी छानबीन करें। अगर कहीं मेरी भूल हुई हो तो मुझे दिखा दें और अन्त को मेरी राय उनसे न मिले तो परमात्मा से प्रार्थना करें कि मुझे ज्ञान प्राप्त हो"—(नवजीवन, १५ जून १९२४)।

"मैं अपने समाजी मित्रों को विश्वास दिलाता हूँ कि यदि मैंने उनकी समालोचना की है तो वह उसी दृष्टि से की है जिस दृष्टि से मेरी आलोचना उन्हें करने का अधिकार है। इसलिए हम दोनों अपना हिसाब चुकता करलें"—(नवजीवन, २२ जून ११२४)।

इसके अतिरिक्त मेरी इस पुस्तक से एक बड़ा भारी लाभ यह भी होगा कि लोगों को भारत के इस समय के सबसे बड़े जगत् प्रसिद्ध राजनीतिक नेता महात्मा जी के उन बिखरे हुए धार्मिक विचारों का इसमें संग्रह मिलेगा जिनको आप समय-समय पर प्रकाशित करते रहे हैं और जिनको मैंने बड़ी सावधानी से एकत्रित किया है। मेरा निश्चय है कि इनके पढ़ने से उन भाइयों को अपना ज्ञान शुद्ध बनाने में जरूर मदद मिलेगी जिन्होंने महात्मा जी के कई धार्मिक विचारों को कभी-कभी पढ़कर या सुनकर आपकी धार्मिक स्थिति समझने में भूल की होगी; क्योंकि भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न विचारों के पढ़ने अथवा सुनने से कभी भी किसी की वैसी शुद्ध स्थिति ज्ञात नहीं हो सकती जैसी कि उसके विचारों को समष्टि रूप से एक ही स्थान पर एक ही समय में क्रमशः पढ़ने से होती है। इसका कारण मनुष्यों की स्मरणशक्ति की निर्बलता है; क्योंकि उसके कारण वे पूर्वापर-सम्बन्ध को ठीक तौर पर मिला

नहीं सकते। मैं यहाँ पर यह भी निवेदन कर देना उचित और आवश्यक समझता हूँ कि मैंने महात्मा जी के धार्मिक विचारों के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करने में पूरी सावधानी से काम लिया है। अर्थात् मैंने जहाँ इस बात का पूरा ध्यान रक्खा है कि कहीं पर महात्माजी के किसी भाषण तथा लेख से आपके अभिप्राय के विरुद्ध अर्थ न लिया जाय, वहाँ इस बात का भी ध्यान रक्खा है कि मैं खींचा-तानी के दोष से भी बचा रहूँ। इसलिए मैंने अपनी समझ के अनुसार आपके अभिप्राय को आपके भाव में ही समझाने की चेष्टा की है और जहाँ कहीं किसी लेख का कोई स्पष्ट भाव नहीं निकाल सका वहाँ विभिन्न भावों को अलग-अलग दिखलाकर उन पर अपने विचारों को प्रकट किया है। इतने सावधान होने पर भी यह सम्भव है कि कहीं पर असली भाव के समझने में ग़लती हो गई हो। इसके लिए भी मैं इस कारण दोषी नहीं ठहराया जा सकता कि उसकी ज़िम्मेदारी भी अधिकतर महात्माजी के उन अपने बहुरंगे लेखों पर ही है जो कि असली अभिप्राय जानने के इच्छुकों को भी भूलभुलैयों में डालते हैं। इसलिए महात्मा जी अगर इतना लिखकर ही मेरी समालोचना का खंडन करना चाहें कि मैंने आपके लेख तथा भाषण का एक अंश लेकर आपके अभिप्राय के विरुद्ध उसका अभिप्राय समझा है अथवा आपका लेख और भाषण जिस विशेष समय में जिस विशेष अभिप्राय को प्रकट करने के हेतु था, उसको मैं समझ नहीं सका; तो यह तब तक काफ़ी और ठीक न होगा जब तक आप अपने

प्रत्येक विवादास्पद लेख और भाषण का वास्तविक अभिप्राय बतला कर मेरे निकाले हुए भाव को असत्य सिद्ध करने की कृपा न करेंगे। इसके साथ ही साथ यह भी जरूरी होगा कि जिस लेख का जो असली अभिप्राय बतलाया जाय उस लेख के शब्दों से वही अभिप्राय निकल सके।

नम्र निवेदक—

ज्ञानचन्द्र

ओ३म्

सत्य-निर्णय

शिष्टाचार

महात्मा गान्धी जी एक जगत्प्रसिद्ध, उच्चकोटि के भारतीय राजनीतिक नेता हैं। आप आदर्श-त्यागी, अहिंसक और तपस्वी महापुरुष हैं। आपके हृदय में मनुष्य-मात्र के लिए प्रेम है। देश-भक्ति में निमग्न तथा देश-सेवा के लिए आप सदैव सर्वस्व समर्पण करने के लिए तैयार रहते हैं। आप अपने इन पवित्र गुणों के कारण हम सब भारतीयों के पूज्य हैं।

आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक पर लगाये हुए दोषों का कारण

भारतीय स्वराज्य की प्राप्ति ही इस समय आपका उद्देश्य है। इसलिए उसके साधनों, हिन्दू-मुस्लिम-एकता आदि की सिद्धि के लिए भी आप यथा-शक्ति, दिन-रात निस्स्वार्थ-भाव से यत्न करते रहते हैं। अभागे भारत की तबाही का कारण और हिन्दू-मुस्लिम-एकता का नाश करनेवाला अगस्त १९१९ ई० का मोपला-दंगा जिस समय हुआ उस समय आप स्वतंत्र थे, और उसकी जाँच के

लिए आप मालाबार जाना चाहते थे; परन्तु सरकार ने जाने की आज्ञा न दी। उन्हीं दिनों केवल देश-हित तथा देश-प्रेम के अपराध के कारण भारतीय सरकार ने आपको देश के राजनीतिक-मार्ग-प्रदर्शन से हटाकर जेल में बन्द कर दिया।

हिन्दुओं पर मोपला-मुसलमानों की ओर से जिस जहादी* आक्रमण का आरम्भ महात्मा जी की स्वतंत्रता के समय में ही मालाबार से शुरू हुआ था उसका सिलसिला आपकी क़ैद के समय में भी बराबर जारी रहा और साम्प्रदायिक स्वार्थों के पूरा करने वाले तथा गुप्त-संगठन की आन्तरिक प्रेरणा से विह्वल मजहबी दीवाने मुसलमानों की तरफ़ से मुलतान, अजमेर और सहारनपुर इत्यादि स्थानों के हिन्दुओं के जान व माल, बहू-बेटियों और देवमन्दिरों पर अकथनीय अमानुषिक-अत्याचार किये गये थे। इसी गुण्डेपन के युग में महात्मा जी के अपेण्डीसाईटीज (Appendicites) अर्थात् पेट के फोड़े का आपरेशन होने के बाद आपको जेल से मुक्त कर दिया गया। जेल से बाहर आकर आपको हिन्दू-मुस्लिम-दंगों का हाल विशेष रूप से मालूम हुआ, जिससे आपको बहुत दुःख हुआ। उन दिनों बहुत निर्बलता के कारण महात्मा जी स्वयं तो दंगा होने वाले स्थानों में घूमकर दंगों के ठीक समाचारों को जानने में विवश थे ही; परन्तु इसके सिवाय यह भी निश्चित है कि उन दिनों दंगों के ठीक समाचारों को बताने वाले जो लेख डाक द्वारा

---

* मज़हब इस्लाम के निमित्त।

आपकी सेवा में भेजे जाते थे वे भी आप तक पहुँचने नहीं पाते थे। इसका रहस्य हम पर उस समय खुला जब कि मैं और मेरे कई आर्य भाई, आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक पर किये हुए दोषों का प्रमाण पूछने के लिए देहली में महात्मा जी की सेवा में उपस्थित हुए। उस समय हमने आपसे पूछा था कि क्या हमारी भेजी हुई "मालाबार और आर्यसमाज" नामक पुस्तक आपको मिली थी ? उत्तर में आपने कहा कि "नहीं मिली"। फिर आपने उसी समय हमारे सामने ही अपने पुत्र महाशय देवीदास जी को बुलाकर पूछा कि क्या "मालाबार और आर्यसमाज" नाम की कोई पुस्तक हमारे नाम आई थी ? जिसका उत्तर उन्होंने यह दिया कि आई थी। इस पर फिर आपने पूछा कि वह मुझे क्यों नहीं दिखलाई गई ? इसका जवाब उन्होंने कुछ न दिया और चुप हो रहे। अतः इन अवस्थाओं में यह तो असम्भव था कि आप ठीक दशाओं को जान सकते। फलतः स्वयं महात्मा जी ने भी २९ मई सन् १९२४ की अपनी प्रसिद्ध घोषणा में मालाबार आदि स्थानों के दंगों के सम्बन्ध में राय देने से पहले दंगों की स्थानीय घटनाओं से अपनी अनभिज्ञता को इन शब्दों में स्वीकार किया है—

"सर्वसाधारण मुझसे यह आशा न रक्खें कि मैं विभिन्न स्थानों के दंगों पर निर्णय दूँ, और अगर मुझे यह निर्णय करना पड़े तो भी मेरे सामने घटनाएँ नहीं हैं।"—(तेज, देहली, २ जून सन् १९२४ ई०)। परन्तु अपनी इस अज्ञानता के होते हुए भी आपने

समुद्र के किनारे जूहू में बैठे बैठे २९ मई सन् १९२४ ई० को "हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य, उसका कारण और उसकी चिकित्सा" शीर्षक एक घोषणा प्रकाशित कर दी। इसमें जहाँ मालाबार आदि स्थानों के दंगों के सम्बन्ध में घटनाओं के बिलकुल विरुद्ध सम्मति देते हुए आपने मुसलमानों का प्रत्यक्ष पक्षपात और हिन्दुओं के प्रति अन्याय किया वहां बिना सम्बन्ध और बिना प्रमाण के आर्य-समाज, उसके प्रवर्त्तक और सत्यार्थ-प्रकाश पर भी बिलकुल अनुचित आक्षेप किये। जो सज्जन महात्मा जी के उद्देश्य को जानते हैं वह यह तो मान ही नहीं सकते कि आपने उस समय यह दोषारोपण किसी धार्मिक विचार या केवल सत्यान्वेषण के लिये किया था। क्योंकि न तो महात्मा जी का यह लेख इस उद्देश्य से ही लिखा गया था जैसा कि लेख के शीर्षक से प्रकट है और न महात्मा जी के उस समय के कार्य-क्रम में धार्मिक-अन्वेषण का विषय ही सम्मिलित था। जिस समय यह घोषणा की गई थी वह समय भी इस आक्षेप का प्रेरक न था। इस हेतु जहाँ यह मानना पड़ेगा कि उस असामयिक आक्षेप के, महात्मा जी जैसे सावधान सज्जन से, प्रकट होने का कारण धार्मिक या सत्यान्वेषण नहीं वरन् केवल राजनीतिक था, वहाँ यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि यह आक्षेप महात्मा जी की आन्तरिक प्रवृत्ति का नहीं किन्तु बाहरी प्रभावों का परिणाम था जो कि महात्मा जी की बीमारी और हिन्दू-मुस्लिम-दंगों के हेतु से उत्पन्न हुये दुःख से दुखी और समाचारों से अनभिज्ञता की दशा में लिखा गया था।

मेरे इस कथन की पुष्टि महात्मा जी के निम्नांकित लेखों से होती है—

(१) महात्मा जी की समालोचना के सम्बन्ध में जो तार आर्यसमाज आगरा ने आपको दिया था उसका उत्तर आपने यह दिया था—"मैंने समाज या ऋषि दयानन्द या स्वामी श्रद्धानन्द के सम्बन्ध में एक शब्द भी बिना विचार किये नहीं लिखा। मैं अपनी राय को आसानी से दबा सकता था, लेकिन जब कि उसका सम्बन्ध वर्त्तमान दशाओं से है, तब सत्य का अवलम्बन करते हुए मैं ऐसा न कर सका। हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य एक जीवित घटना है। उसको दूर करने की देश को बड़ी ज़रूरत है। असल घटनाओं को छोड़ देने या रोकने से यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। ऐसे अवसरों पर सचाई को प्रकट करना अनिवार्य है। सत्य चाहे कितना कड़ुवा क्यों न हो।"—(नवजीवन, ८ जून १९२४, तेज, देहली, ८ जून सन् १९२४)।

(२) डाक्टर महमूद ने मालाबार के मोपला उपद्रव का जो वर्णन महात्मा जी को दिया था, आपने उनका यह अंश घोषणा में लिखने से छोड़ दिया था जो मोपलों द्वारा हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाने का अपराधी ठहराता था। इस पर जब घटनाओं को जाननेवाले सज्जनों ने डाक्टर महमूद को उनके वर्णन को असत्य समझकर कड़ी-कड़ी बातें लिखीं तब उन्होंने महात्मा जी को लिखा कि आपने मेरा सारा वर्णन अपनी घोषणा में नहीं लिखा, इसलिए लोग मुझे मिथ्या वर्णन के लिए कोस रहे हैं।

कृपया 'यंग इण्डिया' में उसको अवश्य शुद्ध कर दीजिये। इस पर महात्मा जी ने अपनी उस गलती को मानकर खेद के साथ यह कहा था कि घोर वैमनस्य के समय में मनुष्य अधिक सावधान या अधिक शुद्ध नहीं हो सकता।"—(नवजीवन, २६ जून सन् १९२४; तेज, देहली, ३० जून सन् १९२४; यंग इण्डिया से उद्धृत)।

(३) महात्मा जी लिखते हैं "मैं आपको (आर्यसमाजियों को) विश्वास दिलाता हूँ कि मैंने दुखित-हृदय से वह टीका (समालोचना) लिखी थी। अब यह देखकर कि उससे बहुतों के हृदय को चोट पहुँची है मुझे भी उतना ही दुःख होता है।"—(नवजीवन, १५ जून सन् १९२४)।

(४) बाह्य-प्रभावों के कारण आक्षेप किये जाने के सम्बन्ध में यह सन्देह अवश्य हो सकता है कि महात्मा जी जैसा उत्तर-दायित्वपूर्ण-नेता केवल दूसरों के कथन पर विश्वास करके ऐसी गलती नहीं कर सकता। इस सन्देह को दूर करने के लिए अगले पृष्ठों में जहाँ महात्मा जी के निजी लेख पेश किये जायँगे वहाँ पर मैं यह भी निवेदन कर दूँगा कि आपके भीतर यह दोष अब तक मौजूद है जैसा कि आपके निम्नांकित लेख से प्रकट है—"मैं अनुभव करता हूँ कि एक पब्लिक कार्यकर्त्ता को दूसरों के भरोसे इस तरह काम नहीं करना चाहिए और ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए जिसकी स्वयं जाँच न कर ली हो, या जिसका उसको पूरा निश्चय न हो। सत्य की पूजा करने वाले

को बड़ी सावधानी से काम करना चाहिए। किसी की ऐसी बात पर विश्वास करना जिसकी जाँच स्वयं न की हो, मानो सचाई को पीछे फेंकना है। मुझे यह स्वीकार करते हुए दुःख होता है कि मैं यह जानता हुआ भी अपने इस विश्वास कर लेने के स्वभाव पर अब तक विजय नहीं पा सका हूँ, और इसका कारण यह है कि मैं शक्ति से अधिक कार्य करने का इच्छुक रहता हूँ। इस इच्छा के कारण मेरे साथ कार्य करने वालों को मेरी अपेक्षा अधिक कठिनाई होती है।"—(यंग इण्डिया २२ सितम्बर सन् १९२७; तेज,' देहली, २९ सितम्बर सन् १९२७; महात्मा जी की आत्म-लिखित जीवनी से)।

अत: उपर्युक्त प्रमाणों से जहाँ मेरे ऊपर के इस कथन की पुष्टि होती है कि महात्मा जी की समालोचना केवल राजनीतिक प्रयोजन के लिए थी और वह बड़े दुःख की अवस्था में असावधानी से की गई थी, वहाँ आपकी अति वैमनस्य और असावधान दशा में की गई समालोचना के ठीक होने को भी सन्दिग्ध बनाती है। इस हेतु यहाँ पर यह कहना बहुत ठीक होगा कि महात्मा जी की इस खेद अथवा दुःख की अवस्था में, केवल देश के प्रयोजनार्थ आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक के धार्मिक मन्तव्यों और कार्यों पर की हुई समालोचना, आपकी सरासर भूल थी। आपको सम्मति देने वाले, आर्यसमाज की धार्मिक और सामाजिक कार्य-तत्परता से भयभीत, उसके धार्मिक विरोधियों की ओर से आर्यसमाज के विरुद्ध सनातनधर्मी हिन्दुओं और जैनियों आदि को भड़का कर

आर्यसमाज को कुचलने अथवा निर्बल बनानेवाली एक राजनीतिक चाल थी जिसका यंत्र सरल-हृदय महात्मा को संभवत: यह विश्वास दिलाकर बनाया गया होगा कि आर्यसमाज ही हिन्दू-मुस्लिम एकता में एक रुकावट और दंगों का कारण है, और उसकी जड़ में आर्यसमाज के प्रवर्त्तक के रचे सत्यार्थ-प्रकाश के लेख हैं। यदि इसका प्रभाव सर्वसाधारण हिन्दुओं पर न रहे तो ऐक्य होना और दंगों का रुकना संभव है।

पाठक-वृन्द! मैंने जो कुछ कहा है वह मेरी कोरी कल्पना नहीं है। इसके लिए प्रबल प्रमाण भी मौजूद हैं और वे यह हैं कि महात्मा जी ने न केवल अपने 'झट विश्वास कर लेने' के स्वभाव-वश अपने साथी मुसलमान कार्य-कर्त्ताओं के प्रभाव में पड़कर अपनी प्रसिद्ध घोषणा में आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक पर अनुचित आक्षेप ही किये वरन् ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज ने जिन इस्लामी सिद्धान्तों की असत्यता को प्रकट किया था, केवल उनको महात्मा गाँधी ने मुसलमानों के पक्षपातवश इस्लाम की रक्षा के विचार से ही उनके प्रभाव को नष्ट करने के लिए, जहाँ इस्लाम की अयुक्तिपूर्ण प्रशंसा की। वहाँ हिन्दुओं को इस्लाम की प्रतिष्ठा करने की भी प्रेरणा की, इसका प्रमाण आपके निम्नांकित लेखों से अच्छी तरह मिलता है—"जब पश्चिम अन्धकार और अप्रसिद्धि के गर्त्त में पड़ा था, पूर्वी क्षितिज पर एक तारा चमका और समस्त संसार को उसने प्रकाश और सुख पहुँचाया। इस्लाम कोई झूठा मजहब नहीं है अगर हिन्दू इसे सच्चे दिल से सन्तोष के साथ पढ़ें तो वह इसका उतना ही

सम्मान करेंगे जितना कि मैं करता हूँ" ।—(यंग इण्डिया, २९ मई सन् १९२४; नवजीवन, जून सन् १९२४; तेज, देहली, २ जून सन् १९२४)।

कदाचित् महात्मा जी के गौरव का ध्यान रखते हुए अनेक सज्जन यह कहें कि चाहे यह प्रशंसा शुद्ध है या अशुद्ध, महात्मा जी ने यह प्रशंसा मुसलमानों के पक्षपात-वश या ख़ुशामद के विचार से नहीं लिखी, वरन् इस्लाम के अध्ययन से बने हुए विश्वास या अपनी जांच के आधार पर लिखी है, तो मैं उनके सामने, उनके इस विचार का खंडन करने वाला, महात्मा जी का वह लेख रक्खूँगा जो कि इस प्रशंसा के किये जाने के बाद अनेक मुसलमानों की तरफ से महात्मा जी को मुसलमान बनने का लगातार निमंत्रण मिलने पर आपने एक मुसलमान भाई के सवाल का जवाब देने के लिए लिखा था—

"एक मुसलमान भाई लिखते हैं। आपका दावा है कि मैं सत्याभिलाषी, सत्यशोधक और सत्यग्राहक हूँ, साथ ही आपने यह भी लिखा है कि इस्लाम झूठा मजहब नहीं है, फिर भी आप मुसलमान क्यों नहीं होते? इन भाइयों ने आग्रहपूर्वक जवाब माँगा है। यह धर्म कहाँ नहीं सुना कि जितनी बातें झूठी न हों वे हर आदमी को स्वीकार करनी चाहियें। जिस तरह मैं इस्लाम को झूठा नहीं मानता उसी तरह मैं ईसाई, पारसी, यहूदी-धर्म को भी झूठा नहीं मानता। ऐसी अवस्था में मुझ जैसे सत्यशोधक को क्या करना चाहिये। मुझे तो इस्लाम में गुण दिखलाई दिये, इसलिए मैंने कहा कि वह धर्म झूठा नहीं है। यह कहने की ज़रूरत इसलिए

हुई कि इस्लाम पर आक्रमण होते हैं और मुसलमान भाइयों से मैं मैत्री रखना चाहता हूँ, इसलिए मैंने उनके धर्म का बचाव किया। सबको अपना धर्म औरों से श्रेष्ठ मालूम होता है, इसी से वे उसमें रहते हैं। इसी न्याय के अनुसार हिन्दू-धर्म मुझे झूठा नहीं मालूम होता वरन सबसे श्रेष्ठ ही मालूम होता है। इसलिये मैं हिन्दू-धर्म का पल्ला पकड़ कर बैठा हूँ। जिस तरह बालक माँ के साथ रहता है, परन्तु बालक जिस प्रकार पर-माता का तिरस्कार नहीं करता उसी प्रकार मैं भी पर-धर्म का तिरस्कार नहीं करता" ।—(नवजीवन, ८ सितम्बर सन् १९२४; तेज, देहली, १९२४) ।

अब इसके साथ ही साथ यह भी ज़रूरी मालूम होता है कि महात्मा जी के ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के विचारों और आचारों के सम्बन्ध में २९ मई सन् १९२४ की प्रसिद्ध घोषणा में की हुई समालोचना को भी यहाँ पर लिख दिया जाय, जिससे पाठकों को तथ्य के समझने में सुगमता हो।

१—उन्होंने (स्वामी दयानन्द ने) संसार के सबसे अधिक सहनशील और उदार हिन्दू-धर्म को संकुचित बना डालने का प्रयत्न किया है।

२—उन्होंने सत्य का और बिलकुल सत्य का ही पक्षपात करने का दावा किया है, परन्तु ऐसा करते हुए उनसे अनजान में जैन-धर्म, इस्लाम, ईसाई और स्वयं हिन्दू-धर्म के अर्थ का अनर्थ हो गया है।

३—ऐसे महान् सुधारक का लिखा हुआ निराशा-जनक ग्रन्थ (सत्यार्थप्रकाश) मैंने नहीं पढ़ा।

४—यद्यपि वह स्वयं मूर्त्तिभंजक थे, तो भी उनके प्रयत्न का फल सूक्ष्म से सूक्ष्मरूप में मूर्त्तिपूजा की स्थापना हुई है। क्योंकि उन्होंने वेद के एक-एक अक्षर को ईश्वर स्वरूप बना दिया है।

५—इस समय के विज्ञान के हर एक तथ्य को वेद से सिद्ध करने की चेष्टा की है।

६—आज आर्यसमाज की जो प्रतिष्ठा है वह मेरी अल्प-बुद्धि में सत्यार्थ-प्रकाश की शिक्षा के कारण नहीं वरन् उसके प्रवर्त्तक के महान् उदात्तशील के कारण है।

७—जहाँ-जहाँ आप आर्यसमाज को देखेंगे वहाँ-वहाँ जीवन और तत्परता दिखाई देगी। ऐसा होते हुए भी संकुचित दृष्टि और विवादप्रिय-स्वभाव होने के कारण अन्यान्य सम्प्रदायों के मनुष्यों के साथ, और जब वह न मिलें तो आपस में झगड़ा करते हैं।

८—मेरी राय में तो ईसाइयों की तरह और उससे कम इस्लाम की तरह दूसरे मजहब वालों को भ्रष्ट करके अपने धर्म में मिला लेने की विधि हिन्दू-धर्म में है ही नहीं। ऐसा मालूम होता है कि इस बात में आर्यसमाजियों ने ईसाइयों का अनुकरण किया होगा।

इन प्रमाणों के लिखने के बाद पूर्ण-निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि यदि पाठक-वृन्द महात्मा जी के उपर्युक्त लेखों को ध्यान-पूर्वक पढ़ेंगे तो वह मेरे साथ इस बात के मानने में सहमत होंगे

कि उनसे मेरे दावे के अक्षरशः समर्थन करने वाले निम्नलिखित तथ्यों का प्रकटी-करण होता है।

(१) महात्मा जी ने अपनी घोषणा में जो यह लिखा था कि इस्लाम झूठा मजहब नहीं है, उसका आशय यह नहीं था कि आप इस्लाम को सर्वांश में सत्य या ठीक मानते हैं। बल्कि उसका अभिप्राय यह था कि इस्लाम बिलकुल झूठा मजहब नहीं है। उसमें केवल दोष ही दोष नहीं हैं। उसमें कुछ गुण भी हैं। अथवा महात्मा जी यह कदापि नहीं मानते कि इस्लाम में अशुद्धियाँ या दोष नहीं हैं। इसका प्रमाण इस पुस्तक में लिखित आपके अनेक लेखों से भी मिलता है और इस लेख में आपका हिन्दू-धर्म को सबसे अच्छा बतलाना भी इस बात को सिद्ध करता है।

(२) आपने केवल मुसलमानों से मैत्री रखने के निमित्त उनके इस्लाम की रक्षा के लिये उसकी अतिशयोक्ति-पूर्ण प्रशंसा कर दी थी, न कि सत्य के प्रकाशनार्थ।

(३) आपने यह संरक्षणात्मक प्रशंसा मुसलमानों की मैत्री के प्रभाव के अधीन, ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के बतलाये हुए दोषों (महात्मा जी के शब्दों में किये आक्रमणों) के प्रभाव को नष्ट करने के लिये ही की थी जैसा कि आपके इन शब्दों से प्रकट है—"यह कहने की आवश्यकता इसलिये हुई कि इस्लाम पर आक्रमण होते हैं (ये आक्रमण आर्यसमाज के सिवाय दूसरे के नहीं हो सकते) और मैं मुसलमान भाइयों से मित्रता रखना चाहता हूँ, इसलिये मैंने यह कह कर इस्लाम की रक्षा की है।"

(४) आपके शब्द "परन्तु बालक जिस प्रकार पर-माता का तिरस्कार नहीं करता उसी तरह मैं भी दूसरे के धर्म का तिरस्कार नहीं करता" इस बात को बतलाते हैं कि वास्तव में इस्लाम और ईसाई आदि मज़हबों के सम्बन्ध में जो कुछ आपने लिखा था वह केवल सहिष्णुता के विचार से ही लिखा था, नहीं तो आपने यह लिखकर अपना असली विश्वास प्रकट कर दिया है कि मुझे तो हिन्दू-धर्म ही सब से उत्तम मालूम होता है।

(५) महात्मा जी ने ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के सम्बन्ध में जो सम्मति दी थी वह "हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य, उसके मूल हेतु और उनकी चिकित्सा" के शीर्षक के आधीन दी थी। इस हेतु उसका प्रयोजन सिवाय इसके और कुछ नहीं हो सकता कि आपकी यह सम्मति ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के जिन-जिन विचारों और आचारों के सम्बन्ध में थी, आपके विचार में वे हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य के कारण थे और आपने उस वैमनस्य को दूर करने के लिये ही चिकित्सा के तौर पर उन पर अपनी सम्मति को प्रकट किया था। फलतः पीछे लिखा हुआ जो उत्तर आपने आगरा आर्यसमाज के तार का दिया था उसके निम्नलिखित शब्दों से भी उसकी सत्यता सिद्ध होती है।

(ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के सम्बन्ध में) मेरी सम्मति का सम्बन्ध वर्त्तमान परिस्थिति से (हिन्दू-मुस्लिम-झगड़ों के सम्बन्ध में) है और हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य दूर करने के लिये देश को इसकी बड़ी आवश्यकता है।

अब यहाँ पर यह देखना है कि महात्मा जी की यह सम्मति हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य की चिकित्सा किस प्रकार कर सकती है। इसका उत्तर महात्मा जी के ऊपर के लेखों के आधार पर ही यह दिया जा सकता है कि —

(क) दोष नं० ४-५ का हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य की चिकित्सा से इसके अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध मालूम नहीं होता कि दोष नं० ४ का मूर्तिभंजक शब्द मूर्तिपूजक हिन्दुओं को आर्यसमाजियों से पृथक् करने में कुछ सहायता दे।

(ख) इनके सिवाय दोष ये हैं—स्वामी दयानन्द ने हिन्दू-धर्म को संकुचित बनाने की चेष्टा की। उन्होंने इस्लाम, ईसाई और हिन्दू-धर्म के अर्थ के अनर्थ कर दिये। सत्यार्थ-प्रकाश निराशा उत्पन्न करने वाली पुस्तक है। आर्यसमाजी झगड़ालू हैं और इनकी शुद्धि ईसाइयों का अनुकरण है। अगर इनको और इनके साथ ही महात्मा जी की, की हुई इस्लाम की प्रशंसा और हिन्दुओं को अपने उदाहरण से इस्लाम का सम्मान करने की प्रेरणा को एक जगह रक्खा जाय तो यह सब मिलकर, इस तरह पर ही हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य की चिकित्सा हो सकते हैं कि आपके दोषारोपण से हिन्दुओं के धार्मिक-भाव आर्यसमाज के विरुद्ध जाग्रत हों जिससे वह आर्यसमाज का साथ छोड़ दें, तथा हिन्दू महात्मा जी के प्रबल व्यक्तित्व के इस स्पष्ट विचार से कि "इस्लाम झूठा मजहब नहीं है" ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के बतलाये हुए इस्लाम के दोषों को मिथ्या समझ कर इस्लाम का सम्मान करने लग जायँ। इस

परिणाम के निकलने से ही महात्मा जी के इच्छानुसार जहाँ इस्लाम की रक्षा होकर आपकी तरफ़ से मुसलमानों की मित्रता का कर्त्तव्य पूरा हो सकता था वहाँ अगर मुसलमानों का यह कहना ठीक हो कि आर्यसमाज ही हिन्दू-मुस्लिम-एकता में रुकावट और झगड़ों का कारण है तो इससे आर्यसमाज-रूपी-कंटक दूर होकर झगड़े रुक सकते थे और हिन्दू-मुस्लिम-एकता भी सम्भव और सुगम बनाई जा सकती थी।

पाठक-वृन्द! यह है महात्मा जी के लेखों का निचोड़ जो कि मैंने बिना किसी खींचातानी के आपके सामने रख दिया है। परन्तु, यदि यहाँ यह कहा जाय कि महात्मा जी का यह आशय नहीं था जो कि ऊपर परिणाम निकाला गया है, वरन् उनका आशय यह था कि उनके बतलाये दोषों को दूर करके आर्यसमाज देश के लिए अधिक लाभप्रद हो। इसके उत्तर में मैं यह निवेदन करूँगा कि—

(१) मेरा यह दावा तो कदापि नहीं है और न मैं ऐसा दावा कर ही सकता हूँ कि महात्मा जी के लेखों का जो परिणाम मैंने निकाला है ज्यों का त्यों वही परिणाम आपको भी निकालना स्वीकार था, परन्तु इतना अवश्य कह सकता हूँ कि मेरी समझ में महात्मा जी के लेखों का मेरे निकाले हुए परिणाम के सिवाय और कोई आशय नहीं निकल सकता और जनता ने उसका यही आशय निकाला। चाहे महात्मा जी को वह स्वीकार था या नहीं, लेकिन यह कहना है कि इस प्रकार की आलोचना केवल

आर्यसमाज के सुधार के लिए की गई थी, तो यह "मुद्दई सुस्त, गवाह चुस्त" के मसले को चरितार्थ करता है। महात्मा जी स्वयं लिखते हैं कि 'यह समालोचना देश की आवश्यकता को पूरी करने के लिए की गई थी'। देश की आवश्यकता उसी अवस्था में पूरी हो सकती थी, जिस अवस्था को मैंने अपने निकाले हुए परिणाम में दिखलाया है। जब यह दशा है तो फिर इसका अन्य तात्पर्य कैसे हो सकता है।

(२) जिस ढंग और जिस क्षेत्र (पोलिटिकल) से यह समालोचना की गई थी वह ढङ्ग और क्षेत्र भी धार्मिक सुधार का नहीं हो सकता, और फिर ऐसी अवस्था में जब कि आर्यसमाज पर दोष लगाये गये हों और उसके साथ ही इस्लाम की तारीफ़ की गई हो।

(३) सुधार के लिए ऐसी सम्मति देने का वह समय भी कदापि उचित न था, क्योंकि सुनाने वाले (महात्मा जी) और सुनने वाले (आर्यसमाज) दोनों की मानसिक अवस्था शान्त नहीं थी।

(४) यह समालोचना इसलिए भी सुधार के निमित्त नहीं हो सकती क्योंकि वह प्रमाण-शून्य और केवल महात्मा जी की सम्मति-मात्र है, और सम्मति भी उस महानुभाव की जो आर्यसमाज के शास्त्रार्थ सिद्धान्तों के सम्बन्ध में आक्षेप तो करता है, लेकिन इस बात को भी मानता है कि आपको वेदादि-शास्त्रों का साक्षात् ज्ञान ही नहीं है। इसलिए आर्यसमाज जैसे विचार-शील

समाज से यह आशा करना ही व्यर्थ है कि वह केवल महात्मा जी की सम्मति होने के कारण ही उसको सत्य मान लेगा और उसके नेतृत्व में अपने विचारों और आचारों को बदल देगा। यदि किसी ने ऐसा समझा है तो उसने आर्यसमाज को ठीक तौर पर नहीं समझा और वह सुधार करना जानता ही नहीं।

इसके अतिरिक्त महात्मा जी का मालाबार, मुलतान और सहारनपुर आदि स्थानों के दंगों से सम्बन्ध रखनेवाला वह वर्णन भी आपके मुस्लिम-पक्षपात या मुसलमानों के प्रभाव के अधीन होने की सत्यता का अधिक समर्थन करता है, जो कि आपने अपने उसी २९ मई, सन् १९२४ ई० की प्रसिद्ध घोषणा में ही किया था। उसमें उक्त-स्थानों के मुस्लिम-प्रभाव में जो अमानुषिक-अत्याचार निरपराध हिन्दुओं पर किये गये, उनका कुछ भी वर्णन नहीं किया गया और डाक्टर महमूद के बयान का वह अंश भी नहीं लिखा गया, जिससे मोपला-मुसलमान हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाने के अपराधी सिद्ध होते थे। यदि केवल इतना ही होता कि आप भविष्य के वातावरण को शुद्ध करने के लिये हिन्दुओं पर किये हुए मोपलों के वास्तविक ख़ूनी अत्याचार को लिखकर उनकी याद को ताज़ा न बनाते तो आपकी ज़िम्मेदारी का विचार करते हुए इसको अनुचित न समझा जाता; परन्तु खेद तो इस बात का है कि आपने तो उन (अत्याचारों) के अस्तित्व से ही इन्कार करने-

वाला यह बयान प्रकाशित कर दिया कि "असली बात क्या है? कोई नहीं जानता······और ठीक-ठीक सचाई तक पहुँचना असम्भव है और अपने कार्यशैली को नियमित बनाने के लिए यह अनावश्यक है"।—(यंग इण्डिया, २६ मई सन् १६२४ ई०, नवजीवन, १ जून सन् १६२४ ई०)। यह बयान इससे पूर्व प्रकाशित उन बयानों के बिलकुल विरुद्ध था, जो कि महात्मा जी के क़ैद-बन्धन के समय में ही घटनास्थल पर पहुँच-कर जांच करनेवाले मालाबार-कांग्रेस के उत्तरदायी कार्यकर्त्ता और अरनाड-खिलाफ़त-कमेटी के मुसलमान सेक्रेटरी ने सम्मिलित रूप से और मिस्टर देवधर, सेक्रेटरी सर्वेण्ट्स आव् इंडिया सोसा-इटी, ने व्यक्तिगत रूप से प्रकाशित कराये थे और जिनमें हिन्दुओं पर किये गये अत्याचारों को सत्य बतलाया गया था, (विवरण देखिये—आर्यसमाज और मालाबार नामक पुस्तक)। इसी तरह मुलतान और सहारनपुर आदि स्थानों के उपद्रवों के सम्बन्ध में लिखते हुए भी आपने अत्याचारी और पीड़ित को बराबर का दोषी ठहराकर कुछ सुने-सुनाये पीड़ित-हिन्दुओं के सम्बन्ध में भी ऐसे दोष लिखे थे, जो इतने निराधार थे कि उनको साधारण बुद्धि भी ठीक नहीं मान सकती थी। आपने भी उन्हें अप्रमाणित बतलाया था। उपद्रव-सम्बन्धी उन सब वर्णनों को विस्तार-पूर्वक यहाँ लिखने के लिए स्थान नहीं है। यदि आवश्यकता हुई तो उनको भी इस पुस्तक के परिशिष्ट के रूप में लिख दिया जायगा। हाँ, डाक्टर महमूद के बयान के जिस

अंश की चर्चा पीछे की गई है, उसे पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ लिखता हूँ—

महात्माजी लिखते हैं "हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य के सम्बन्ध में जो लेख मैंने 'यंग इण्डिया' में प्रकाशित किया था, उस पर मुझे बहुत से पत्र प्राप्त हुए हैं। किसी में तो खेद और क्रोध को प्रकट किया गया है और किसी में गाली दी गई है। इनमें से एक चिट्ठी सरल और युक्ति-युक्त थी। यह चिट्ठी माधवन नायर ने मेरे पास इस वर्णन के विरुद्ध, प्रोटेस्ट (विरोध-प्रदर्शन) के तौर पर लिखी थी, जिसे मैंने डाक्टर महमूद पर प्रकट किया था। मैंने यह चिट्ठी डाक्टर महमूद को रवाना कर दी थी कि वह इसके सम्बन्ध में जवाब दें, जिससे मैं पाठकों को उनका बयान भी दे सकूँ; परन्तु मेरी भेजी हुई चिट्ठी डाक्टर महमूद के पास पहुँचने के पूर्व ही उन्होंने स्वयं एक चिट्ठी इसी विषय पर मेरे पास भेज दी थी; क्योंकि उनको भी इस बारे में पहले ही से बहुत से प्रोटेस्ट प्राप्त हुए थे। मैं डाक्टर महमूद की उर्दू चिट्ठी से एतत्सम्बन्धी अंश का अनुवाद करके पाठकों के सामने रखता हूँ—

"मुझे अनेक हिन्दू सज्जनों के पत्र प्राप्त हुए हैं, जिनमें मुझ पर यह दोष लगाया गया है कि मैंने आपको मालाबार-घटना के सम्बन्ध में झूठी सूचना दी है। उनमें से किसी ने मुझे गाली देने की भी कृपा की है। मैं समझता हूँ कि उनकी अप्रसन्नता न्यायोचित है। मालूम होता है कि कुछ भ्रम हो गया है। मैंने तो केवल यह कहा था कि खतना करके जबरदस्ती धर्म-परिवर्त्तन का कोई उदाहरण नहीं

पाया गया। इस प्रकार की केवल एक ही घटना की सूचना प्राप्त हुई थी, जिसे मिस्टर ऐण्ड्रयूज ने देखा था और उसमें क़ानून के अनुसार जाँच नहीं हो सकती थी; परन्तु तुर्की टोपी (फ़ैज़ कैप) पहनाकर, स्त्रियों की दशा में कमीज पहनाकर, और चोटियाँ काट कर जो धर्म-परिवर्त्तन कराया गया है, उसके बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। मैंने जो बयान मिस्टर शर्यब को दिया था, उसमें भी इस बात की चर्चा कर दी थी। कृपया 'यंग इण्डिया' में इसका आवश्यक संशोधन कर दें, नहीं तो समाचार-पत्रों में इसके सम्बन्ध में नई उलझन आरम्भ हो जायगी"—(नवजीवन, २६ जून सन् १९२४ ई०)।

डाक्टर महमूद की चिट्ठी का उपर्युक्त अंश लिखने के बाद महात्मा जी लिखते हैं:—

"मैं देखता हूँ कि मैंने डाक्टर महमूद के साथ अन्याय किया है। मैं ज़बरदस्ती धर्म-परिवर्त्तन को केवल ख़तना करने पर ही ख़याल करता था; क्योंकि इससे हिन्दू-भावों को बहुत अधिक चोट पहुँचती है। अस्तु, किसी दूसरी बात से बढ़कर मुझे तो इससे ही दुःख पहुँचा था"—(नवजीवन, २६ जून सन् १९२४ ई०)। इससे आगे यह शीर्षक "जिस विषय की डाक्टर महमूद ने चर्चा की है वह निम्नलिखित है" देकर आप डाक्टर महमूद का निम्नांकित वह बयान लिखते हैं, जिसको आपने 'यङ्ग इण्डिया' में २९ मई सन् १९२४ ई० की प्रसिद्ध घोषणा में लिखने से छोड़ दिया था।

ज़बरदस्ती धर्म-परिवर्त्तन (अ) ख़तना करके कोई प्रत्यक्ष साक्षी नहीं, कोई सीधी गवाही नहीं मिलती। ऐसी कोई घटना

वर्णन नहीं की गई। हिन्दुओं में से विश्वस्त सज्जन यह वर्णन करते हैं कि तीन या चार घटनाएँ ऐसी हुई हैं। इस बारे में केवल एक ही साक्षात् गवाही है। मिस्टर ऐण्ड्रयूज़ ने बयान किया है कि उन्होंने इस प्रकार खतना किये हुए आदमियों को देखा था; परन्तु इसका भी प्रमाण नहीं मिला। (आ) कलमा पढ़वाना (१) ज़बरदस्ती (२) ज़बरदस्ती किये बिना, केवल आतंक से। (इ) चोटियों का काटना, (ई) हिन्दू-पुरुषों को टोपी पहनाना और हिन्दू-स्त्रियों को पैराहन (मुसलमानी-वस्त्र) आदि पहनाना। (ब) से लेकर (र) तक हिन्दुओं का बयान है कि अठारह सौ (१८००) से लेकर दो हज़ार (२०००) तक मनुष्यों का धर्म-परिवर्तन कराया गया"—(नवजीवन, २६ जून, सन् १६२५ ई०)।

डाक्टर महमूद के इस बयान को लिखने के बाद महात्मा जी लिखते हैं—"परन्तु मैं अब देखता हूँ कि घोर वैमनस्य के दिनों में मनुष्य अधिक सावधान या अधिक शुद्ध नहीं हो सकता है। मैंने डाक्टर महमूद के साथ उचित बर्ताव करने में अन्याय किया है।* मैं पाठक-वृन्द को विश्वास दिलाता हूँ कि प्रत्येक घटना के सम्बन्ध में घटित-घटना तक ही सीमित रहा

* डाक्टर महमूद का उपर्युक्त बयान न लिखने में जो अन्याय आपने उनके साथ किया था, उसे तो आपने स्वीकार कर लिया; परन्तु इस बयान के न लिखने से पीड़ित-हिन्दुओं के साथ जो बड़ा अन्याय आपसे हो गया था, उसे अब तक आपने स्वीकार नहीं किया—लेखक।

हूँ। जो कागज़ात मेरे पास हैं, वे दोनों पक्षों के विरुद्ध बड़े-बड़े दोष लगाते हैं; मगर मैंने हर एक घटना में दोष को हलका कर दिया है।—(नवजीवन, २६ जून, सन् १६२४ ई० तेज, देहली, ३ जून, सन् १६२४ ई०)।

पाठक-वृन्द यदि उपर्युक्त सत्य घटना और उसके सम्बन्ध में महात्मा जी के सफ़ाई के बयान को ध्यान से पढ़ेंगे तो उन्हें मानना पड़ेगा कि मोपलों को अपराधी ठहरानेवाले डाक्टर महमूद के बयान का जो अंश महात्मा जी ने नहीं लिखा था, उसका प्रयोजन चाहे कितनी ही निर्दोषता, सहृदयता और भूल पर निर्भर हो तो भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उससे सचाई का छिपाना और मुसलमानों के लिये पक्षपात हुआ। यही कारण था कि घटनाओं से परिचित माधवन नायर ऐसे सज्जनों को भी उसके विरुद्ध प्रोटेस्ट करना पड़ा।

अतः उपर्युक्त प्रमाणों को लिखने के बाद में समझता हूँ कि मैंने महात्मा जी के निजी लेखों से ही इस बात को अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि महात्मा जी ने मुसलमानों के मज़हबी पक्षपात में ही आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक और सत्यार्थ-प्रकाश पर दोष लगाये थे और आर्यसमाज को कुचलनेवाली मुसलमानों की पालिसी के आप साधन बने थे, नहीं तो इन दोषों का उस समय के हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य के साथ कोई सम्बन्ध न था। फलतः उसकी सिद्धि भी महात्मा जी के हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य के उन वर्णित कारणों से होती है, जिनको आपने आर्यसमाज के सम्बन्ध

में समालोचना करने के बाद ८ जून, सन् १९२४ ई० के 'नवजीवन' में लिखा था—

"(१) मोपला-विद्रोह, (२) मिस्टर फ़ज़ल हुसेन की हिन्दुओं के विरुद्ध पालिसी (३) शुद्धि-आन्दोलन, (४) सबसे अधिक अहिंसा से ऊबना और इस आशंका का होना कि अहिंसा की अधिक दिनों तक शिक्षा मिलने से दोनों जातियाँ बदला लेने और आत्मरक्षा करने के नियम को भूल जायँगी, (५) मुसलमानों का गोवध करना और हिन्दुओं का मसजिद के सामने बाजा बजाना, (६) मुसलमानों का गुण्डापन, (७) हिन्दुओं की न्याय-प्रियता पर मुसलमानों का अविश्वास।"*

पाठक-वृन्द! इन कारणों को पढ़ जाइये। आपको इनमें सिवाय शुद्धि के आर्यसमाज पर लगाये हुए दोषों का कहीं नाम तक नहीं मिलेगा, इसलिए मैं पूरे विश्वास से कह सकता हूँ कि इन दोषों का कारण सिवाय उसके और कोई नहीं हो सकता, जो मैंने पहले बतलाया है। मैं यह मानता हूँ और सच्चे हृदय से मानता हूँ कि महात्मा जी ने किसी निजी स्वार्थ के लिये मुसलमानों का पक्ष नहीं लिया और ख़ुशामद नहीं की, वरन् केवल देश-प्रेम तथा देश की आवश्यकता के निमित्त ही आपने ऐसा किया है, जिसको आप

---

* यह इसलिये नहीं होना चाहिये कि बावजूद मुसलमानों के हिन्दुओं को मुसलमान बनाने पर भी हिन्दू फ़साद नहीं करते, यदि यह सम्भव था तो इससे यह समझा जा सकता है कि मुसलमानों की तबलीग़ की वजह से हिन्दुओं ने फ़साद किये।

स्वयं इन शब्दों में प्रकट करते हैं—"मैं मुसलमानों के निमित्त अत्यन्त कष्ट सहने के लिये जो तैयार हो गया था, उसका प्रयोजन स्वराज्य तो था ही, और यह तो मामूली बात थी; परन्तु इससे गाय की रक्षा करना भी था और यह एक बड़ी बात थी ·········· मैं मुसलमानों को यह समझाने की शक्ति प्राप्त करना चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान में हिन्दुओं के साथ रहकर गोहत्या करना हिन्दुओं के वध के बराबर है··········इसलिये मैं आज मुसलमानों का साथ दे रहा हूँ कि उन्हें दुःख न पहुँचे। उनकी ख़ुशामद करता हूँ और यह इसलिए कि उनका धर्म-भाव (ईमान) जाग्रत हो"—(नवजीवन, २९ जनवरी, सन् १९२५ ई०; शीर्षक, गोरक्षा का अर्थ; प्रताप, लाहौर, ४ फ़रवरी, सन् १९२४ ई०)।

इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान देने के योग्य है कि यदि आर्यसमाज, उसका प्रवर्त्तक और सत्यार्थ-प्रकाश वास्तव में हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य का कारण होता तो उसे उसके पहले क्यों न प्रकट करता; क्योंकि सत्यार्थ-प्रकाश और आर्यसमाज तो लगभग पचास वर्ष से मौजूद था और वह अपने जन्म-दिन से ही असत्य का खंडन और सत्य का मंडन तथा शुद्धि बराबर करता रहा। फिर वह केवल मुसलमानों के ही वैमनस्य का कारण क्यों है? दूसरे मजहबवालों से क्यों नहीं? क्योंकि उसका खंडन और शुद्धि का सिलसिला केवल मुसलमानों तक ही सीमित नहीं है। यदि आर्यसमाजियों का मुसलमानों से द्वेष होता तो

आर्यसमाजी खिलाफ़त फंड में मदद् क्यों देते? खिलाफ़त की स्वतंत्रता के लिये कुँवर चाँदकरण जैसे प्रसिद्ध आर्यसमाजी महानुभाव जेल में क्यों जाते? सच तो यह है कि आर्यसमाज की मुसलमानों से क्या, किसी भी मज़हब के माननेवालों से कदापि कोई शत्रुता नहीं है; क्योंकि उसके लिये वेदों की यह शिक्षा है— "मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे" अर्थात् प्राणीमात्र को मित्र की दृष्टि से देखो। हाँ, असत्य और अन्याय जहाँ कहीं है, आर्यसमाज उसका विरोधी अवश्य है और रहेगा। वह यथा-शक्ति उसको दूर करने का यत्न करता रहा है और सदैव करता रहेगा। अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करना उसका आठवाँ उद्देश्य भी है। इसलिये यदि कोई अधर्म-रूप असत्य और अन्याय का पक्षपाती उसके इस कार्य के कारण उसको अपना विरोधी समझता है तो यह उसकी भूल है। उपर्युक्त उद्देश्य से प्रेरित होकर केवल सर्वसाधारण के हितार्थ (पब्लिक गुड के लिये) ऋषि दयानन्द ने मुसलमानों तथा ईसाइयों का ही नहीं, वरन् इस्लाम तथा ईसाइयत आदि मत-मतान्तरों के असत्य और अन्याय का विरोध किया था और उसे आर्यसमाज करता है।

आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक की यह बात कोई अनोखी नहीं है। महात्मा ईसा, हज़रत मुहम्मद, महात्मा बुद्ध और शंकर आदि सुधारकों ने भी तो ऐसा ही किया है। स्वयं महात्मा जी भी आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक के विचारों और आचारों की समालोचना करने से नहीं चूके। वे तो आर्य-

समाजियों और उसके प्रवर्त्तक के व्यक्तित्व पर दोषारोपण करने से भी नहीं रुके। हिन्दुओं के विचार, आचार और व्यवहार की आलोचना भी आप समय-समय पर करते रहते हैं। उसके बहुत से प्रमाण इस पुस्तक से भी मिल सकते हैं। वर्त्तमान शासन-प्रणाली की समालोचना तो आपके जीवन का उद्देश्य ही बना हुआ है, इसलिए यदि आप कल्पना की दृष्टि से आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक-द्वारा की हुई मत-मतान्तरों की समालोचना को एकता के लिए हानिकारक समझेंगे तो आपको सब रिफ़ार्मरों और अपने आपको भी इस दोष का कुछ न कुछ दोषी मानना पड़ेगा; क्योंकि कोई भी सुधारक जिस क्षेत्र में सुधार करना चाहेगा, उसको उस ओर के दोषों, अवगुणों और अशुद्धियों को बतलाकर उसी प्रकार दूर करना होगा, जिस प्रकार स्वतः उत्पन्न काँटेदार झाड़ियों की जड़ों को निकालकर ही उत्तम फल-युक्त वृक्षों और फूलों को लगाया जा सकता है। वह डाक्टर कभी दूरदर्शी नहीं समझा जा सकता, जो फोड़े के दर्द से दुखी होकर रोगी के साथ सहानुभूति तो करता है; परन्तु नश्तर लगाकर फोड़े से मवाद निकालकर रोगी को स्वस्थ बनाने का यत्न नहीं करता। इसके साथ ही विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता को स्वीकार करनेवाले मनुष्य को यह भी मानना पड़ेगा कि प्रत्येक अन्वेषक को पूरा अधिकार है कि वह किसी समाज और जनता के विचार और आचार की समालोचना निष्पक्ष होकर करे। हाँ, यह आवश्यक है कि समालोचना द्वेष और स्वार्थ पर निर्भर

न हो। यतिवर दयानन्द के सम्बन्ध में किसी को स्वप्न में भी यह अनुमान नहीं हो सकता कि उनका किसी से द्वेष था या उनका कुछ स्वार्थ था। वरन् यह निश्चित बात है कि उनका यह काम केवल सत्य के प्रकाशनार्थ और सर्वसाधारण के हितार्थ ही था और आज खुली आँखोंवाला, न्यायशील मनुष्य इस सचाई से इन्कार नहीं कर सकता कि ऋषि के इस काम से विशेष कर हिन्दुओं और उनके पौराणिक मत का, और साधारणतः दूसरे मतों का सुधार हुआ है। चाहे इसके लिये उन्हें कुछ भी क्यों न कहा गया हो, चाहे उन्हें सर्व-प्रिय होने का प्रमाणपत्र मिला हो या न मिला हो। यदि कोई समालोचक यह कहे कि ऋषि दयानन्द के खण्डन में कड़ाई है तो वह यह नहीं जानता कि कटुवचन का स्वरूप क्या है। खण्डन चाहे कितने ही उचित शब्दों में और सत्य पर निर्भर क्यों न हो, अन्ध-विश्वासी लोगों को कड़ा और अप्रिय ही प्रतीत होगा, लेकिन उनके कठोर या कुत्सित समझने से यह नहीं माना जा सकता कि वास्तव में वे कठोर और कुत्सित हैं। वास्तव में शुद्ध-हृदय, सच्चे सुधारक वैसी लाग-लपेट की (झूठी-मीठी) बातें नहीं किया करते, जैसी कि साधारण लोग चाहते हैं; क्योंकि ऐसे ढङ्ग से सुधार नहीं हो सकता। वह तो जो चीज़ जैसी होती है, उसको वैसा ही कथन करते हैं, जिससे लोग उसके तत्व को समझकर सुधार कर सकें। इस आक्षेप का विस्तृत उत्तर महात्मा जी के निम्नांकित लेखों में से अच्छी तरह दिया गया है :—

"परन्तु गाली कहते किसे हैं ? गाली का अर्थ है अनुचित प्रयोग, दुरुपयोग, अतएव यदि हम चोर को चोर और दुष्ट को दुष्ट कहें तो यह गाली नहीं है। कोढ़ी का कोढ़ी कहने से वह बुरा नहीं मानता। हाँ, यह अवश्य है कि ऐसे विशिष्ट शब्दों का प्रयोग उसी नियत से होना चाहिए और प्रयोग करनेवाले को उसे प्रमाणित करने के लिए तैयार रहना चाहिए।······ जब कि किसी व्यक्ति को इसलिए धिक्कारा जाता है कि वह अपने बुरे स्वभाव को छोड़ दे या श्रोता उसका संग त्याग दे तो ऐसी भर्त्सना सर्वथा उचित है············यही क्यों ? उन पापाचारियों के जो नाम चुने गये हैं, वे भी उनके गुणों के सूचक हैं। ईसामसीह उन लोगों पर दैवी-कोप का प्रहार करने से नहीं हिचके, जिनको वे दुष्टों, धूर्तों और मुर्दारों की सन्तान कहते थे। बुद्ध ने उन लोगों को नहीं छोड़ा, जो धर्म के नाम पर निरपराध बकरों का बलिदान करते थे और न .कुरान * न जेन्दावस्ता ही ऐसे प्रयोग से बचे हैं। हाँ, उन सब ऋषियों और

---

* महात्मा जी का यह कथन मिर्ज़ा .गुलाम अहमद साहब के निम्नलिखित लेखों से बिलकुल ठीक प्रमाणित होता है। जिसको "नूर अफ़शाँ" समाचार-पत्र ने अपने २ जनवरी सन् १६३० ई० के अङ्क में लिखा है :—

"तो फिर स्वीकार करना पड़ेगा कि सम्पूर्ण .कुरान शरीफ़ गालियों (कुवाक्यों) से पूर्ण है, क्योंकि जो कुछ मूर्तियों के अपमान व मूर्त्तिपूजकों से घृणा और उनके सम्बन्ध में शाप और अपवाद के कटु शब्द .कुरान

पैग़म्बरों की कोई बदनियती उनके प्रयोग करने में नहीं थी। उन्हें तो जो लोग जैसे थे और जो वस्तु जैसी थी, वैसा ही उनका वर्णन करना था। (यंग इण्डिया, हिन्दी भाग, तीसरा पृष्ठ ३३२)।

"(एक महाशय)—पर इससे दूसरे को दुःख होता है। (महात्मा जी)—नहीं, किसी को दुःखी तो न बनाना चाहिए, पर मेरे सत्य कहने से यदि मेरे पुत्र को भी दुःख हो तो उस दुःख की चिन्ता किये बिना मुझे सत्य कहना चाहिए।"—नवजीवन, ३० मार्च सन् १९२४ ई०;

शरीफ़ में प्रयोग किये गये हैं वह कभी भी ऐसे नहीं हैं, जिनके सुनने से मूर्त्तिपूजकों के मन प्रसन्न हुए हों, किन्तु निस्सन्देह इन शब्दों ने उनके क्रोध की मात्रा में अति वृद्धि की होगी।"

क्या .ख़ुदा तआला (परब्रह्म) का कुफ़्फ़ार मक्का को सम्बोधन करके यह कहना "अन्नकुम् व मा तअबुदूना मिन्दूनिल्लाहि हसबा जहन्नम्" (अर्थ—तुम और जिनको तुम ईश्वर के अतिरिक्त पूजते हो, जहन्नम में डाले जावेंगे) आक्षेपक के मनगढ़न्त नियमानुकूल गाली में सम्मिलित नहीं है? क्या .क़ुरान शरीफ़ में कुफ़्फ़ार को "शर्रुल् बरीया" (अर्थ—श्रेष्ठ पदार्थों में नीचतम) ठहराना और सब नीच और निकृष्ट योनियों में अत्यन्त नीच प्रकट करना यह आक्षेपकर्त्ता के विचारानुसार गाली देने में शामिल नहीं होगा? क्या .ख़ुदा तआला (परब्रह्म) ने .क़ुरान शरीफ़ में "वग्लुज़ अलैहिम" (अर्थ—उन पर तुन्दी व सख़्ती करो) नहीं कहा? क्या मोमिनों के चिह्नों में "अशद्दाए अलल् कुफ़्फ़ार" (अर्थ—काफ़िरों पर अत्याचार करनेवाले) नहीं कहा गया?—(अज़ाला औहाम् पृष्ठ ६००)

फिर आप इसी ग्रन्थ के ६०४ से ६०७ तक की टिप्पणी में लिखते हैं कि ".क़ुरान शरीफ़ जिस उच्चस्वर से कटु-भाषण के प्रकार को प्रयोग में ला रहा है, एक अत्यन्त मंद-बुद्धि व मूर्ख भी उससे अप्रभावित नहीं

प्रताप, लाहौर, ९ अप्रैल, सन् १९२४ ई० महात्मा जी से अछूतों के सम्बन्ध में उनके एक भक्त सनातनधर्मी का वार्त्तालाप)।

मेरी उपर्युक्त यथार्थ बातों के अतिरिक्त यदि पाठक-वृन्द मत-मतान्तरों की मूर्खता, भ्रमजाल और स्वार्थपरता से पूर्ण उस दुरावस्था

रह सकता। जैसे वर्त्तमान काल के सभ्य पुरुषों के निकट किसी को शाप देना एक सख़्त गाली है, लेकिन क़ुरान शरीफ़ कुफ़्फ़ार को सुना-सुनाकर इनको शाप देता है, जैसा कि कहता है—"उलाइका अलैहिम् लअनतुल्लाहि व मलाइकते वन्नासि अज्मईन्" (अर्थ—उन्हीं पर शाप है ईश्वर का फ़रिश्तों का और सब लोगों का, पड़े रहेंगे उसमें हमेशा) सूरतुल् बक़र—"उलाइका यल्अनहुमुल्लाहु व यल्अनहुमुल्लाइनून्" इन्हीं पर शाप है ईश्वर का और शाप देनेवालों का—ऐसा ही प्रकट है कि किसी मनुष्य को पशु कहना भी एक प्रकार की गाली है, लेकिन क़ुरान शरीफ़ न सिर्फ़ हैवान (पशु) किन्तु कुफ़्फ़ार और मुनकिरीन् (अर्थात् इस्लाम के अविश्वासियों) को संसार के सारे जीवधारियों से नीच ठहराता है, जैसा कि कहता है कि "इन शर्रद्दवाबिब इन्दल्लाहिल्लज़ीना कफ़रू" (अर्थ—जो अविश्वासी हैं, वह ईश्वर के निकट सब जानवरों में अत्यन्त नीच व अधम हैं)। ऐसा ही प्रकट है कि किसी विशेष पुरुष का नाम लेकर या संकेत के रूप में उसको लक्ष्य बनाकर उसको गाली देना वर्त्तमान काल की सभ्यता के विरुद्ध है; लेकिन ख़ुदा तआला ने क़ुरान में किसी का नाम "अब्बूल हब" ज्वाला का बाप, और किसी को कुत्ता और सूअर कहा और "अब्बूज हल" मूर्खता का बाप तो प्रख्यात ही है इत्यादि इत्यादि—अज़ालः औहाम, पृष्ठ ६०४ से ६०७ तक उद्धृत—प्रकाश, लाहौर, १२ जनवरी सन् १९३० ई०।

को सामने रक्खेंगे, जो कि ऋषि दयानन्द के कार्यारम्भ करने के समय थी और जिनके सुधार का बीड़ा उन्होंने उठाया था तो उन्हें मानना पड़ेगा कि ऋषि दयानन्द इस प्रकार के लेखों के लिखने में न्याययुक्त थे और सुधार के लिए उनकी बड़ी आवश्यकता थी, अतः ऐसी दशा में उनको ऐक्य का विरोधी बतलाना दूसरे शब्दों में सत्य को दबाना और सत्य का विरोध करना है तथा अन्वेषकों और सुधारकों के मार्ग में काँटे बिखेरना है।

शिकायत

पाठक-वृन्द! महात्मा जी के आर्यसमाज पर लगाये हुए दोषों का वास्तविक कारण बतलाने और आर्यसमाज तथा उसके प्रवर्त्तक की निर्दोषता जतलाने के बाद, मैं उस सच्ची शिकायत को भी आपके सम्मुख रक्खूँगा, जो कि आर्यसमाज को महात्मा जी से है। हम विचार-स्वातंत्र्य के पक्षपाती हैं, इसलिए हम मानते हैं कि महात्मा जी का पूरा अधिकार था कि वे आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक और उनके मन्तव्यों की समालोचना करते, अतः आर्यसमाज को यह शिकायत कदापि नहीं है कि महात्मा जी ने समालोचना क्यों की। आर्यसमाज तो अपने जन्मकाल से ही समालोचना सुनने का अभ्यासी है। विरोधियों ने उसकी कड़ी से कड़ी और बुरी से बुरी आलोचना की; परन्तु वह कभी नहीं घबराया; क्योंकि आर्यसमाज को अपने मन्तव्यों की सचाई पर पूरा विश्वास है और वह समालोचकों के आक्षेपों का उत्तर देने का सामर्थ्य भी रखता है, और यदि उसका दोष हो तो वह अपने उद्देश्य की सिद्धि में यह मानने के लिए भी तैयार रहता है कि "सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने के लिए सदा तैयार रहना चाहिए" परन्तु इतने पर भी आर्यसमाज को महात्मा जी से शिकायत अवश्य है और वह यह है कि आपने अपनी स्थिति के बिलकुल विरुद्ध आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक के विषय में

अनुचित और प्रमाण-रहित सम्मति देने के साथ इस्लाम की अयुक्तिपूर्ण प्रशंसा करके मुसलमानों का प्रत्यक्ष पक्षपात किया और आर्यसमाज के साथ अन्याय। हाँ, आर्यसमाज को और भी शिकायत है, और वह यह कि आपने राजनीति के विचार से एक राजनीतिक नेता के रूप में, केवल अपने व्यक्तित्व के आधार पर आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक पर जैन, इस्लाम, ईसाई और हिन्दू-धर्म के अर्थ के अनर्थ करने इत्यादि का झूठा कलङ्क लगाकर उनके विरुद्ध अनजाने भ्रम, अज्ञान और घृणा फैलाने का काम किया। यही कारण था कि न केवल आर्यसमाज ही ने इसका घोर विरोध किया और उत्तर में उसकी सभाओं और प्रसिद्ध आर्यसमाजियों ने लेख और ट्रैक्ट लिखे, वरन् मिस्टर केलकर, लाला लाजपतराय, मिस्टर सी० एस० रंगा अय्यर, महात्मा टी० एल० वास्वानी, स्वामी सत्यदेव जी, प्रयागस्थ लीडर के सम्पादक तथा अनेक आर्यसमाजी महानुभावों ने भी इसका घोर विरोध किया। महात्मा जी ने अपने इस अन्याय की क्षति-पूर्त्ति में यह उत्तर दिया है कि हमने आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह आर्यसमाज को अपना समझकर एक हिन्दू की हैसियत से लिखा है। महात्मा जी का यह उत्तर उस भूल का कदापि संशोधन नहीं करता, जो आपसे इस्लाम की प्रशंसा करने तथा आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक की निन्दा करने में हुई है; क्योंकि अपनों के साथ अन्याय करना भी तो शिष्टाचार

नहीं कहलाता। सत्य तो यह है कि अपना बनकर भ्रम और घृणा फैलाने का साधन बनना और भी भयानक होता है। इस शिकायत को छोड़कर भी यह आवश्यक प्रतीत होता है कि अपनी निर्दोषता के लिये जहाँ आपकी की हुई समालोचना के दोषों को दर्शाया जाय, वहाँ आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक को दोषी ठहरानेवाले महानुभाव महात्मा के लिखे हुए हिन्दू-धर्म के तत्त्व को भी जनता के सामने रक्खा जाय, जिससे उसके एक महामान्य व्यक्ति के विचार होने मात्र के कारण सर्वसाधारण में भ्रान्ति न फैले और यह भी विदित हो जाय कि महात्मा जी के कथनानुसार ऋषि दयानन्द ने हिन्दू-धर्म के वह कौन से अनर्थ किये हैं, जो आपने नहीं किये।

पहला लांछन

(महात्मा जी)—उन्होंने अर्थात् स्वामी दयानन्द ने संसार के सबसे अधिक सहनशील और उदार (हिन्दू) धर्म को संकुचित बना डालने की चेष्टा की है।

(आर्य)—इसके पूर्व कि महात्मा जी के लगाये हुए दोषों पर और आपके हिन्दू-धर्म पर विचार किया जाय, यह देखना आवश्यक है कि वह हिन्दू-धर्म कौन सा है, जिसको संकुचित करने का दोष स्वामी दयानन्द पर लगाया गया है। यदि हम इस पर ध्यान देंगे तो विदित होगा कि—

(१) हिन्दू-धर्म शब्द ही निरर्थक है; क्योंकि सिवाय ईसाइयों और मुसलमानों के सब हिन्दुस्तान के रहनेवालों को सामान्यतः हिन्दू कहा जाता है। वे शैव, शाक्त, वैष्णव और जैन आदि बहुत से ऐसे सम्प्रदायों में विभक्त हैं, जिनमें परस्पर बहुत सी भिन्नता है और उनका इस समय तक कोई एक मत नहीं है। वास्तव में हिन्दू शब्द का सम्बन्ध धर्म से नहीं, वरन् हिन्दुस्तान और उसकी सभ्यता के साथ है और यह वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा कि इंग्लिश का इंग्लिस्तान और तुर्क का तुर्किस्तान के साथ है। जिस तरह इंग्लिश और तुर्क मज़हब नहीं हैं, बल्कि इंग्लिस्तान और तुर्किस्तान की जातियाँ हैं, उसी तरह हिन्दू भी कोई धर्म नहीं

है, वरन् हिन्दुस्तान की जाति है। जिन लोगों की जन्म-भूमि हिन्दुस्तान है अथवा जिन्होंने हिन्दुस्तान को अपनी जन्म-भूमि बनाया और उसकी सभ्यता को अपनाया है, वे हिन्दू या हिन्दी हैं, चाहे उनके साम्प्रदायिक विश्वास भिन्न-भिन्न और कुछ ही क्यों न हों; इसलिये हिन्दू शब्द देशी और जातीय भावों का द्योतक है न कि धर्म का। वास्तव में हिन्दू-धर्म शब्द तो हिन्दुस्तान के मत-मतान्तरों से अनभिज्ञ, केवल विदेशी लोगों का प्रयोग किया हुआ है, जिसको स्वयं महात्मा जी ने भी 'नवजीवन' १७ अक्टूबर, सन् १९२१ ई० के पृष्ठ ६३ में इस प्रकार माना है—"हिन्दू-धर्म तो हिन्दुस्तान के रहनेवाले लोगों के धर्म का विदेशियों द्वारा रक्खा हुआ नाम है।"

इसके अतिरिक्त आपने एक पत्र-लेखक के उन कुछ प्रश्नों में से, जिनके उत्तर यंग इण्डिया में दिये हैं और जिनका अनुवाद १६ अप्रैल, सन् १९२६ ई० के प्रताप लाहौर में छपा है उनमें से एक प्रश्न यह है—

"आजकल कोई वैसे मन्तव्य व सिद्धान्त नहीं हैं, जिनको निश्चित रीति से सनातनी कहा जा सके और जिनका पूर्णतया पालन होता हो। प्रत्येक हिन्दू अपने-अपने पुरोहित के आचार-व्यवहार को ही सनातनी आचार-व्यवहार समझता है।"

इसका उत्तर महात्मा जी ने यह दिया है—

"परन्तु हिन्दुइज़्म (धर्म) एक ऐसी जीवित सत्ता है, जिसमें उन्नति और अवनति की सब सामर्थ्य पाई जाती है और जो

प्राकृतिक नियम के अधीन है। यद्यपि इस धर्म का मूल एक है, जो कि स्वयं अखण्डनीय है; परन्तु यह उस वृक्ष के समान है, जो बढ़ते-बढ़ते बढ़ गया है और जिसकी शाखाएँ बहुत फैल गई हैं। इस धर्म-वृक्ष पर भी ऋतुओं का प्रभाव पड़ता है। पतझड़ व वसन्त प्रभाव डालते और गरमी व सर्दी अपना प्रभाव दिखाती है। वर्षा ऋतु में इसको शक्ति व वृद्धि प्राप्त होती है। इसका आधार शास्त्रों पर है भी और नहीं भी, क्योंकि हिन्दू-धर्म की आज्ञाएँ किसी एक पुस्तक में नहीं लिखी हैं। यद्यपि गीता की प्रतिष्ठा हिन्दू-मात्र के हृदयों में है तथापि वह केवल मार्ग दिखाने का काम करती है, प्रथाओं और रीतियों पर कठिनाई से उसका प्रभाव पड़ता है। भगवती गङ्गा की तरह हिन्दू-धर्म अपने स्रोत स्थान पर नितान्त शुद्ध और निर्मल है; परन्तु ज्यों ज्यों यह अधिक मार्ग तय करता है, उसमें गंगा की भाँति अधिक मैल मिलता जाता है। गंगा की भाँति समष्टिरूप से धर्म ही लाभ पहुँचानेवाला है। प्रत्येक प्रान्त में यह धर्म प्रान्तीय रूप धारण कर लेता है; परन्तु प्रत्येक स्थान पर इसका मूलाधार ज्यों का त्यों स्थिर रहता है। रीति व प्रथा को धर्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जहाँ रीतियाँ बदलती रहती हैं, वहाँ धर्म स्वतः स्थिर या अपरिवर्त्तनशील रहता है। (यंग इण्डिया, ८ अप्रैल, सन् १९२९ ई०)

पाठक-वृन्द ! इस सम्पूर्ण उत्तर को पढ़ जाइये। इसमें हिन्दू-धर्म की प्रशंसा तो बड़ी लम्बी-चौड़ी की गई है; परन्तु इसमें यह कहीं

पर नहीं बताया गया कि वह हिन्दू-धर्म है क्या ? इसके अतिरिक्त जो प्रशंसा की गई है, वह भी अद्भुत है; क्योंकि इसमें जहाँ धर्म को मूल रूप मानकर उसको अखण्डनीय माना है, वहाँ उसको वृक्ष-रूप मानते हुए उसकी शाखाएँ भी मानी हैं; परन्तु यह तर्क समझ में नहीं आता कि जो मूल स्वयं प्रतिष्ठित है, वह वृक्ष और शाखाओं के रूप में कैसे आ गया ? और जो धर्म वृक्ष-रूप है, वह स्वयं प्रतिष्ठित कैसे है ? यदि धर्म स्वयं प्रतिष्ठित है और प्रथाएँ व रीतियाँ धर्म नहीं हैं तो फिर धर्म प्रान्तीय रूप कैसे धारण कर लेता है ? अथवा जो धर्म प्रान्तीय रूप धारण कर लेता है, वह स्वयं प्रतिष्ठित कैसे ? क्योंकि प्रान्तीय प्रथाएँ तथा रीतियाँ और मतवादियों की मिथ्या कल्पनाएँ और अन्ध-विश्वास ही तो उसका प्रान्तीय रूप बनाते हैं। महात्मा जी की इस युक्ति से सिद्ध न होने-वाले परस्पर विरोधी लेख से मालूम होता है कि आपने धर्म शब्द के वास्तविक अर्थों पर ध्यान ही नहीं दिया। अगर ध्यान देते तो न तो हिन्दू-धर्म शब्द ही लिखते, क्योंकि धर्म शब्द के साथ हिन्दू, ईसाई आदि सम्प्रदायों के नाम जोड़कर उसको हिन्दू-धर्म और ईसाई-धर्म आदि नामों से पुकारना धर्म शब्द के साथ अन्याय करना है और उसके सार्वभौम महत्व को मिटाकर उसे साम्प्रदायिक बनाना है। विदित होता है कि शायद आपने धर्म को रिलीजन (Religion) मत और मजहब का पर्याय समझ लिया है; परन्तु वास्तव में यह अशुद्ध है। इनमें परस्पर बहुत बड़ा अन्तर है; क्योंकि विभिन्न सम्प्रदायों का आधार एक को दूसरे से पृथक्

करनेवाले विशेष व्यक्ति और विश्वास होते हैं। इस हेतु वह एक देशी होने से अलग अलग हो सकते हैं; परन्तु धर्म ईश्वरीय और प्राकृतिक है, जिसको स्वयं महात्मा जी ने भी माना है, इसलिये वह भी अन्य प्राकृतिक पदार्थों की भाँति सार्वभौम और मनुष्य-मात्र के लिये एक ही है। "धर्म" वैदिक साहित्य का शब्द है और वैदिक साहित्य में न तो उसका किसी विशेष मनुष्य-समुदाय के साथ प्रयोग किया गया है और न कहीं पर उसको मजहब (सम्प्रदाय) के अर्थ में ग्रहण किया गया है; इसलिये धर्म और मजहब पर्यायवाची नहीं हो सकते। अस्तु, महात्मा जी के इस लेख से इस बात का पता तो जरूर लग जाता है कि धर्म एक है और वह अपरिवर्त्तनशील है और मत-मतान्तर उसके अशुद्ध प्रान्तिक रूप हैं। इन मत-मतान्तरों की गंगा में कुछ तो धर्म रूप गंगोत्री का शुद्ध जल है और शेष उसमें अनेक प्रान्तिक नदी-नालों के गन्दे जल की भाँति प्रान्तिक प्रथाएँ व रीतियाँ और अनेक मत-मतान्तरों की निजी मिथ्या कल्पनाओं और अन्ध-विश्वासों का अपवित्र जल है; परन्तु इसमें गंगा की भाँति हिन्दू-धर्म को अपने स्रोत पर शुद्ध और निर्मल मानते हुए भी यह नहीं बतलाया गया कि जिस तरह गंगा का शुद्ध जल गंगोत्री में मिलता है, उसी तरह हिन्दू-धर्म का शुद्ध स्वरूप भी संसार में कहीं पर मिलता है या नहीं। इस पर भी एक अचरज यह कि मीमांसनीय प्रश्न के सम्बन्ध में यह लिखकर आपने इसको और भी जटिल बना दिया है कि हिन्दू-धर्म का आधार

शास्त्रों पर है भी और नहीं भी। इसका कारण यह बतलाया है कि हिन्दू-धर्म की सारी आज्ञाएँ किसी एक पुस्तक में नहीं लिखी हैं, इसलिये उसका आधार शास्त्रों पर नहीं है। यदि एक पुस्तक में नहीं है तो अनेक में तो हैं। फिर शास्त्रों से बाहर हिन्दू-धर्म का आधार क्योंकर और कैसे हुआ? यदि इसको पत्र-लेखक के प्रश्न का उत्तर समझकर इसका यह आशय समझा जाय कि किसी ऐसे हिन्दू-धर्म का आधार शास्त्रों में नहीं है, जिसको समस्त हिन्दू मानते हों तो इस दशा में प्रश्न का उत्तर महात्मा जी ने यह दिया है कि वास्तव में सम्पूर्ण हिन्दुओं का कोई एक धर्म है ही नहीं, अतः जब कि किसी एक हिन्दू-धर्म का अस्तित्व है ही नहीं तो फिर उसको स्वामी दयानन्द जी ने संकुचित कैसे बना दिया?

(२) सम्भव है कि महात्मा जी का हिन्दू-धर्म से यहाँ पर आशय वैदिक-धर्म से हो और आपने अपने उपर्युक्त लेख में उसी के सम्बन्ध में "अपरिवर्त्तनशील धर्म के मूल" का प्रयोग किया हो। इस अवस्था में मैं निवेदन करूँगा कि पहले तो वैदिक-धर्म को हिन्दू-धर्म कहना ही अनुचित है, क्योंकि यह शब्द इसका ईसाई और इस्लाम आदि सम्प्रदायों से भेद करता है। हालाँ कि वह मनुष्यों की हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि संज्ञाओं के बनने से बहुत पूर्व का है और ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण मनुष्य-मात्र के लिये है। उसको मनुष्य जाति के किसी विशेष भाग से सम्बद्ध करना उसके सार्वभौम मूल्य को घटाना और उसको संकीर्ण

बनाना है। इसके सिवाय वैदिक-धर्म में संकीर्णता और विशा-लता का आना ही सम्भव नहीं; क्योंकि वह तो उन प्राकृतिक सच्चाइयों का समुदाय है, जो कि सदा रहनेवाली और परिवर्त्तन-रहित हैं, जिसके सम्बन्ध में महात्मा जी ने भी यह लिखा है—"वेद सत्य का भण्डार है और अनन्त है; परन्तु किसे इनका पूर्ण ज्ञान हुआ है। जिन पुस्तकों को आजकल वेद कहा जाता है, वह पूर्ण-ज्ञान का दस लाखवाँ अंश भी नहीं है। केवल यही नहीं, वरन् जो चार पुस्तकें हमारे पास हैं उनके अर्थ को भी पूर्णतया कौन समझ सकता है।" (यंग इण्डिया, ८ अप्रैल, सन् १९२६ ई०; प्रताप, लाहौर, १६ अप्रैल, सन् १९२६ ई०)।

इस लेख में महात्मा जी ने वर्त्तमान चारों वेदों को पूर्ण ज्ञान के दस लाखवें हिस्से से भी कम माना है, परन्तु माना है परमात्मा के पूर्ण-ज्ञान का एक अंश और आपका यह कहना है भी बिलकुल ठीक, क्योंकि वास्तव में ईश्वर का ज्ञान ही पूर्ण और अनन्त है। वर्त्तमान चारों वेद उसी ज्ञान का थोड़ा सा वह अंश है, जो कि मनुष्यों की आवश्यकता के अनुसार परमात्मा ने उनको सृष्टि के आरम्भ में दिया है। इसी सार्वभौम वैदिक-धर्म को ऋषि दयानन्द ने बिना घटाये-बढ़ाये ज्यों का त्यों लोगों के सामने रख दिया और मनुष्य-मात्र के लिये उनका मार्ग खोल दिया, जो मतवादी हिन्दुओं की भूल से बन्द था। यही कारण है कि आज हिन्दुओं को पतित बनानेवाले ईसाई और मुसलमान भाई उसके सार्वभौम निमंत्रण और सच्चाई से भयभीत होकर उसके विरुद्ध अनुचित

कोलाहल मचाकर उस पर झूठे दोष लगा रहे हैं, इसलिये इस दृष्टि से भी स्वामी जी हिन्दू-धर्म को संकीर्ण बनानेवाले सिद्ध नहीं होते।

(३) यदि महात्मा जी का हिन्दू-धर्म से अभिप्राय वर्त्तमान हिन्दू-सम्प्रदायों के सम्मिलित मन्तव्यों से है, तो भी आपका यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता कि स्वामी दयानन्द ने हिन्दूधर्म को संकुचित वना दिया है; क्योंकि वह तो पहले ही इतना संकीर्ण हो चुका था कि उसमें और अधिक संकीर्णता लाने का स्थान ही नहीं रहा था। इसको प्रसिद्ध सनातनधर्मी श्री० पं० नेकीराम जी शर्म्मा ने भी इन शब्दों में स्वीकार किया है "जो धर्म कभी समस्त संसार का अद्वितीय और असीम धर्म था, आज वह सिकुड़ते-सिकुड़ते कितने छोटे घेरे में परिमित कर दिया गया है इत्यादि— (तेज, देहली १७ फ़रवरी सन् १९२६ ई०) अतएव यह तो सत्य नहीं है कि स्वामी दयानन्द ने हिन्दू-धर्म को संकुचित बना दिया। इसके विरुद्ध सत्य यह है कि श्री स्वामी जी महाराज ने तो हिन्दुओं के उस संकीर्ण विचार को दूर करने की जन्म भर चेष्टा की, जो वेदों को न जानकर पौराणिक शिक्षा और साम्प्रदायिक संकीर्ण विचारों के कारण उनमें आ गया था। यथा—

(क) हिन्दुओं में शूद्रों को शिक्षा देने और वेदों को सुनाने का भी कड़ा निषेध कर दिया गया था; परन्तु श्री स्वामी जी ने न केवल साधारण शिक्षा ही, वरन् वेदादि शास्त्रों के पढ़ने सुनने का भी द्विजों के समान ही उन्हें पूरा अधिकार दिलाया और हिन्दुओं के संकुचित भाव को मिटाया।

(ख) हिन्दू स्त्री-जाति को शिक्षा देने और उसका सत्कार करने तथा अन्य उचित अधिकारों को देने के भी बहुत विरोधी हो गये थे, परन्तु ऋषि दयानन्द ने हिन्दुओं के इस संकुचित भाव के विरुद्ध स्त्रियों की शिक्षा और मातृ-शक्ति का सत्कार कराने और उनको अधिकार दिलाने पर पूरा वल दिया और सफलता प्राप्त की।

(ग) हिन्दुओं में बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, बहु-विवाह और मिथ्या जाति-पाँति के छोटे घेरे में विवाह करने की प्रथा थी। इसके विरुद्ध ऋषि ने ब्रह्मचर्य-पूर्वक युवा लड़का-लड़की का गुण-कर्मानुसार, विस्तृत मानव-समाज में सर्व-विवाह और एक पति-पत्नी-व्रत का विधान करके, हिन्दुओं के संकीर्ण विचार का विरोध किया।

(घ) हिन्दुओं में निर्दोष और अबोध-बाल-विधवाओं को जन्म भर वैधव्य के महा-कष्टप्रद जीवन में जबरदस्ती रक्खा जाता था। ऋषि ने उनके विवाह को शास्त्रों और युक्ति के अनुसार सिद्ध करके इस वंश-विनाशक कुप्रथा को मिटाने का यत्न किया।

(ङ) हिन्दुओं में जन्ममूलक या आनुवंशिक उच्चता के वृथाभिमान से वंशानुगत वर्ण-व्यवस्था मानी जाने लगी थी। ऋषि ने मनुष्य-मात्र को गुण-कर्मानुकूल वर्ण-प्राप्ति का अधिकारी सिद्ध करके उनकी संकीर्णता को दूर किया।

(च) हिन्दुओं में संगठन के विरोधी, मिथ्या जाति-पाँति और छूत-छात के बन्धन इतने दृढ़ और भयानक हो चुके थे, जिन पर चलकर हिन्दू-जाति अपने ही धर्म के माननेवाले हिन्दू-

भाइयों से, कुत्तों से भी बुरा, व्यवहार करती हुई दिन-प्रति दिन मिटती जा रही थी। ऋषि ने इस झूठी जाति-पाँति और छूत-छात के मानसिक रोग को वैदिक-ज्ञान की औषधि से दूर करके उन्हें संगठित होने की शिक्षा दी।

(छ) हिन्दुओं ने भूल से वैदिक सार्वभौम धर्म का द्वार वैदिक-धर्म से पतित हुए मनुष्यों तथा अहिन्दुओं के लिये एकदम बन्द करके अपने को तथा अपने धर्म को एक छोटे घेरे में सीमित कर दिया था। ऋषि ने देश, सम्प्रदाय और वंश के बिना भेद-भाव के प्रत्येक मनुष्य को उसका अधिकारी बतलाकर और सर्वसाधारण को उसमें सम्मिलित होने का निमंत्रण देकर हिन्दुओं के हृदय की संकीर्णता को दूर किया।

(ज) हिन्दुओं में ज्ञान-शून्य व्यर्थ क्रिया-कलापों और विश्वासों को ही धर्म समझा जाता था और अपने गुरुओं की कृपा से ही मुक्ति का मिलना मानकर अपने आपको विवशता और दासता के जीवन में रक्खा जाता था। ऋषि ने मनुष्य मात्र के विचार और आचार की जन्मसिद्ध स्वतन्त्रता की घोषणा करके सदाचार से ही आत्मज्ञान-प्राप्ति के द्वारा मोक्ष का मिलना बतलाकर दासता के संकुचित जीवन से उन्हें छुड़ाया।

(झ) हिन्दुओं में वेद-विरुद्ध यज्ञों और कल्पित देवताओं के नाम पर पशु-बलि, मांस-भक्षण और मद्य आदि का, धर्म समझकर, उपयोग होने लग गया था। ऋषि ने वैदिक विधि का प्रचार करके प्राणि-मात्र से अहिंसापूर्वक वर्त्तने और स्वास्थ्य व

बुद्धि के नाशक नशों के भयानक दोषों को दूर करने की चेष्टा की।

(ञ) हिन्दुओं में एक ईश्वर के स्थान पर अवतार, गुरु, पीर व पैग़म्बर आदि की अनीश्वर तथा अनेक ईश्वर-पूजा के रूप में मनुष्य-पूजा का प्रचार हो गया था। ऋषि ने अवतार आदि महापुरुषों की उनकी मर्यादा के भीतर तथा अनेक ईश्वर के स्थान में एक सच्चे सर्वव्यापक परमात्मा की सच्ची पूजा करनी सिखलाई।

(ट) हिन्दुओं में पारस्परिक घृणा फैलानेवाला कच्ची-पक्की और एक दूसरे के हाथ का बनाया भोजन न खाने का बेढब झगड़ा खड़ा हो गया था। ऋषि ने चारों वर्णों के शुद्ध बने हुए निरामिष भोजन को परस्पर खाने-खिलाने की शिक्षा देकर भ्रम और परस्पर के अविश्वास रूपी संकीर्ण विचार को मिटाया इत्यादि इत्यादि।

सारांश यह कि जो हिन्दुइज़्म (हिन्दूपन) अपने आधुनिक मार्ग-दर्शकों की संकीर्णता और अदूरदर्शिता से आत्मावलम्बन, आत्म-रक्षा, सामाजिक संगठन, स्वतन्त्रता, देश-भक्ति और स्वराज्य आदि मानुषिक और जातीय श्रेष्ठ गुणों की अनुभूति खोकर मुर्दा के समान हो चुका था, वह ऋषि की जीवनप्रद शिक्षा से फिर जीवित हो उठा है। क्या यही संकीर्णता है, जिसे स्वामी दयानन्द ने हिन्दू-धर्म्म में पैदा कर दिया है? यदि इसी का नाम हिन्दू-धर्म को संकुचित करना है तो हमें महात्मा गान्धी का लगाया हुआ

दोष स्वीकार है। हमें इसमें अभिमान है और हम ऐसी संकीर्णता चाहते हैं।

(४) यदि हिन्दू-धर्म से अभिप्राय महात्मा जी के उस हिन्दू-धर्म से है, जिसकी घोषणा आपने ७ अक्टूबर, सन् १९२१ ई० के नवजीवन में अपने को सनातनी-हिन्दू सिद्ध करने के लिये की थी तो यह अपेक्षाकृत अधिक ठीक माना जा सकता है; क्योंकि हिन्दू-सम्प्रदायों के अपने अपने ढङ्ग पर माने हुए जिन विचारों और आचारों को आप मानते ही नहीं, उनको आप हिन्दू-धर्म से क्यों सम्बद्ध करेंगे, इसलिये आवश्यक है कि हम महात्मा जी के अपने ढङ्ग पर प्रकट किये हुए हिन्दू-धर्म की भी पड़ताल करें कि कहीं स्वामी जी ने उसको तो संकीर्ण नहीं कर दिया; परन्तु नहीं, ऐसा तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि महात्मा जी का हिन्दू-धर्म श्री स्वामी जी के परलोक-गमन के वाद प्रकट हुआ है। उसके अपने इस रूप में आने से पहले ही श्री स्वामी जी ने उसको कैसे छोटा वना दिया; क्योंकि पूर्वज के लिये सम्भव ही नहीं है कि वह वाद में आनेवाले को तोड़-मोड़ सके। हाँ, एक प्रकार से यह भी सम्भव हो सकता है और वह इस प्रकार कि महात्मा जी जिसको हिन्दू-धर्म ठहराना चाहते हों, श्री स्वामी जी के लेख उसके विरुद्ध हों, इसलिये आपने स्वामी जी को हिन्दू-धर्म को संकुचित वना देनेवाला वतलाया हो। अस्तु, तथ्य चाहे जो कुछ हो, हम यहाँ पर इस सन्देह को भी दूर कर देना चाहते हैं।

महात्मा जी का हिन्दू-धर्म

पाठक-वृन्द ! यह एक सच्ची बात है कि महात्मा जी, अनेक सनातन-धर्मी-विचारों और आचारों के विरुद्ध विचार रखने और उसके आचार-व्यवहार-सम्बन्धी कुछ बन्धनों को तोड़ने पर भी सनातन-धर्मी हिन्दू होने का दावा करते हैं; परन्तु वर्त्तमान प्रथाओं तथा रीतियों के कट्टर पक्षपाती हिन्दुओं को आपके विचारों की विचित्रता और आपका मुसलमानों आदि के साथ खान-पान का व्यवहार देखकर आपके हिन्दू होने में भी सन्देह होता है। जिसको स्वयं महात्मा जी भी अनुभव करते हैं और जैसा आपके निम्नांकित लेखों से प्रकट है—

"मैंने एक बार एक मुसलमान भाई के यहाँ कुछ खाया। यह देखकर एक धर्म-निष्ठ हिन्दू विस्मित हो गया। मैंने मुसलमान भाई के दिये पियाले में दूध उँडेला। उन्हें देखकर बड़ा दुःख हुआ और जब उन्होंने देखा कि मैं मुसलमान की दी हुई डबल रोटी खाने लगा हूँ तब तो उनके दुःख की सीमा न रही। (नवजीवन, ७ अक्तूबर, सन् १९२१ ई०)

"मैं सनातनी-हिन्दू होने का दावा करता हूँ। कितने ही भाई हँसते होंगे कि जो मनुष्य मुसलमानों में घूमता-फिरता है, जो बाइबिल की बातें करता है, मुसलमानों की पकाई रोटी खाता है, जो अछूत की लड़की को गोद में ले लेता है, उसका अपने लिये सनातनी-हिन्दू होने का दावा करना मानो भाषा के साथ अत्याचार करना है। फिर भी मैं सनातनी-हिन्दू मनवाये जाने का दावा

करता हूँ और मुझे विश्वास है कि एक समय ऐसा आयेगा, जब मेरी मृत्यु के बाद सब स्वीकार करेंगे कि गान्धी सनातनी-हिन्दू था; क्योंकि गोरक्षा मुझे बहुत प्रिय है। बहुत समय पहले हिन्दूपन पर मैंने यंग इण्डिया में एक निबन्ध प्रकाशित किया था (यह वही निबन्ध है, जो कि नवजीवन में ७ अक्तूबर सन् १९२१ ई० में छपा था—ग्रन्थकर्त्ता) वह निबन्ध बहुत विचार व ध्यान के बाद लिखा गया था। उसमें हिन्दुत्व के लक्षणों का विचार करते हुए मैंने वेदों, पुराणों, पुनर्जन्म, गीता, गायत्री आदि को मानना, इन लक्षणों के अतिरिक्त गोरक्षा को हिन्दुत्व का सर्वोत्तम लक्षण ठहराया था। (नवजीवन, २६ जनवरी, सन् १९२५ ई०; यंग इण्डिया, से उद्धृत)।

पाठक-वृन्द! केवल यही नहीं कि महात्मा जी इस बात को अनुभव ही करते रहे हैं कि हिन्दू उनके आचार-व्यवहार के कारण उन्हें हिन्दू ही नहीं समझते बल्कि आप हिन्दुओं के इस सन्देह या विचार को दूर करने की चेष्टा भी करते आये हैं। आपने अपने ऊपर के लेख में जिस निबन्ध की ओर संकेत किया है, वह निबन्ध केवल हिन्दुओं के इस विचार को दूर करने के लिये ही आपने यंग इण्डिया में लिखा था और जो ७ अक्तूबर सन् १९२१ ई० के नवजीवन में भी "हिन्दू-धर्म" शीर्षक से छपा था। जैसा कि उस निबन्ध की निम्नांकित भूमिका से प्रकट है—

"यों तो मैंने कई बार अपने को सनातनी हिन्दू कहा है; परन्तु इस मद्रास की यात्रा में छुआछूत के प्रश्न की चर्चा करते

समय मैंने पहले से भी अधिक बल और दावे के साथ कहा कि मैं सनातनी-हिन्दू हूँ; परन्तु मैं देखता हूँ कि लोग हिन्दू-धर्म के नाम पर कितनी ही ऐसी बातें साधारणतः करते हैं, जिनको मैं नहीं मानता। यदि मैं सनातनी-हिन्दू नहीं हूँ तो मैं नहीं चाहता कि सनातनी-हिन्दू कहलाऊँ और यह अभिलाषा तो मुझे बिलकुल नहीं है कि किसी महान् धर्म की ओट में चुपके-चुपके कोई सुधार या बिगाड़ करूँ। अब तो मेरे लिये आवश्यक हो गया है कि अपने सनातन हिन्दू-धर्म का मतलब एक बार समझा दूँ। सनातन-धर्म का प्रयोग मैंने उसके स्वाभाविक अर्थ में ही किया है।"

ऊपर के लेखों से महात्मा जी का सनातनी-हिन्दूपन तो प्रकट ही है। शेष रहा आपका प्रकट किया हुआ हिन्दू-धर्म, वह भी आज-कल के सनातन धर्मियों के धर्म से निराला ही है; क्योंकि वह अपने वर्त्तमान रंग-रूप में सर्वांश में, न किसी हिन्दू सम्प्रदाय से मिलता है और न वैदिक सिद्धान्तों से ही। उसके बाज़-बाज़ हिस्सों का, महात्मा जी की अपनी कल्पनाओं के सिवाय, और कोई आधार नहीं है। महात्मा जी ने यह लिखकर इसको एक तरह से मान भी लिया है कि सनातन-धर्म का प्रयोग मैंने उसके स्वाभाविक अर्थ में किया है, इसलिये यदि उसको हिन्दू-धर्म के स्थान पर शैव, शाक्त और वैष्णव आदि मतों की तरह गान्धी-मत कहा जाय तो अधिक उचित होगा; क्योंकि वास्तव में वह हिन्दू-सम्प्रदायों के माने हुए और ऋषि दयानन्द के

बतलाये हुए वैदिक-धर्म के कुछ विशेष विचारों और आचारों तथा महात्मा जी की निजी कल्पनाओं का मिश्रण है।

अब मैं महात्मा जी के उन हिन्दू-धर्म-सम्बन्धी मन्तव्यों को, जिनको आपने अपने को सनातनी-हिन्दू सिद्ध करने के लिए ७ अक्तूबर, सन् १९२१ ई० के नवजीवन में प्रकाशित किया था और अन्य धार्मिक-विचारों को, जो कि आप कभी-कभी अपने समाचार-पत्रों में और भाषणों में प्रकट करते रहे हैं और जिनको मैंने बड़े परिश्रम से एकत्र किया है, पाठक-वृन्द के परिचय के लिये यहाँ पर लिखकर, उनपर अपने विचार प्रकट करता हूँ, जिससे पाठकों को ऋषि दयानन्द पर हिन्दू-धर्म के संकुचित बनाने का दोष लगानेवाले महात्मा जी के हिन्दू-धर्म का तत्त्व भी विदित हो जाय।

महात्मा जी के हिन्दू-धर्म के मन्तव्य

महात्मा जी अपने ऊपर के लेख के पश्चात् नवजीवन में लिखते हैं—"मैं नीचे लिखे कारणों से अपने को सनातनी-हिन्दू कहता हूँ।" इसके बाद जिन कारणों को आपने लिखा है, वे ये हैं:—

वेदादि-शास्त्र

(महात्मा जी) मैं वेदों को, उपनिषदों को, पुराणों को और उन सब वस्तुओं को मानता हूँ, जो हिन्दू-शास्त्र के नाम से विख्यात

हैं, इसलिए मैं अवतारों और पुनर्जन्म को भी मानता हूँ········
पाठक इस बात का ध्यान रक्खें कि मैंने वेदों अथवा किसी शास्त्र के सम्बन्ध में अपौरुपेय शब्द का प्रयोग जान बूझकर नहीं किया; क्योंकि मैं केवल वेदों को ही अपौरुपेय नहीं मानता हूँ। मैं तो बाइबिल, क़ुरान और ज़िन्दावस्ता को भी, वेदों की तरह, ईश्वर-प्रेरणा का फल मानता हूँ।

हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों पर जो मेरी श्रद्धा है, उसके लिए यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि मैं उनके प्रत्येक शब्द और प्रत्येक श्लोक को अपौरुपेय मानूँ और न मैं इस बात का दावा ही रखता हूँ कि उन अद्भुत ग्रन्थों का विशुद्ध ज्ञान मुझे है; परन्तु हाँ, मैं उन अद्भुत ग्रन्थों के अत्यन्त आवश्यक उपदेशों की सत्यता के ज्ञान का और उसको अनुभव करने का दावा ज़रूर करता हूँ।

मैं उस अर्थ को मानने के लिए तैयार नहीं, जो तर्क और नीति के विरुद्ध हो; फिर वह चाहे कितना ही विद्वत्ता-पूर्ण क्यों न हो मैं बड़े ज़ोर के साथ आज-कल के उन शंकराचार्यों और शास्त्री पंडितों के इस दावे के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाता हूँ कि हिन्दू-धर्म-शास्त्रों का वास्तविक अर्थ वही है, जो हम बताते हैं, बल्कि उनके विपरीत मेरा विश्वास है कि इन ग्रन्थों का जो ज्ञान इस समय लोगों को है, वह अत्यन्त अव्यवस्थित दशा में है। गीता और तुलसीदास-कृत रामायण के संगीत से जो स्फूर्त्ति और उत्तेजना मुझे मिलती है, वैसी और किसी से नहीं मिलती। हिन्दू-धर्म में

यही दो ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनके विषय में कहा जा सकता है कि मैंने देखे हैं............यहाँ तक कि हमारे धर्म-ग्रन्थों में ऐसे श्लोकों का प्रवेश हो गया है, जिनके बल पर गोमांस खानेवालों का जाति-बहिष्कार चिरस्थायी हो गया है; पर वास्तव में योग्य नहीं था।" (नवजीवन, ७ अक्तूबर, सन् १९२१ ई०)

"मेरे हृदय में वेदों के लिए अपूर्व श्रद्धा है। मैं उन्हें देवता-प्रदत्त मानता हूँ। उनके शब्दों में चर्चा हो सकती है; पर प्रकाश डालने के लिये उसके तत्त्व का निरूपण करना चाहिये और वेदों का तत्त्व है पवित्रता, सचाई, निर्दोषता, नम्रता, सादगी, दान, धृति, देवत्व और अन्य वह सब बातें, जिनसे नर और नारी नम्र और वीर हो सकते हैं।"—(१९ जनवरी, यंग इण्डिया, हिन्दी, दूसरा भाग, पृष्ठ ७१९; प्रताप, लाहौर, २६ जनवरी, सन् १९२१ ई०)।

"हम द्रौपदी को अलौकिक देवी मानते हैं। सवेरे उठकर उसका नाम लेते हैं। फिर इससे क्या आज हम द्रौपदी की तरह पाँच पति करनेवाली स्त्री को सती मानेंगे।........यह तो महाभारत की बात हुई। रामायण से बढ़कर दूसरी प्रिय पुस्तक मेरे लिए और कोई नहीं, फिर भी तुलसीदास ने कितनी ही धर्म-शास्त्र की बातें लिखी हैं। क्या वह सब प्रामाण्य हैं। ....मनुस्मृति बड़ा पुराना ग्रन्थ है; पर इसमें मांसाहार की स्पष्ट आज्ञा है तो इससे क्या आप मांस खायेंगे।" (नवजीवन, ३० मार्च, सन् १९२४ ई०)

"मैं बाइबिल को महात्मा ईसा-मसीह के जीवन का ज्यों का त्यों रेकार्ड नहीं समझता। न तो मैं न्यू टेस्टमेण्ट के प्रत्येक शब्द को ईश्वरोक्त ही मानता हूँ।.........न मैं न्यू टेस्टमेण्ट को ख़ुदा का अन्तिम कथन ही मानता हूँ। सम्पूर्ण अन्य बातों की तरह मज़हबी विचार भी इसी विकास-सिद्धान्त के अधीन हैं, जो कि इस सृष्टि की हर एक वस्तु पर लागू है। केवल परमात्मा ही अपरिवर्त्तन-शील है। और चूँकि परमात्मा का सन्देश अपूर्ण मनुष्य द्वारा प्राप्त होता है, इसलिए उसी सीमा तक तोड़ा-मरोड़ा जाता है कि जिस सीमा तक यह साधन पवित्र या अपवित्र होता है।" (यङ्ग इण्डिया, ४ सितम्बर, सन् १९२४ ई०; प्रताप, लाहौर, १० सितम्बर, सन् १९२४ ई०)

"मेरा तो यही विश्वास है कि हिन्दू-धर्म में शैतान के लिए जगह मौजूद है। बाइबिल का विचार कोई नया विचार या आविष्कार नहीं है। इसके अतिरिक्त इञ्जील में भी शैतान का मनुष्य के रूप में अस्तित्व नहीं माना गया है। पवित्र इञ्जील में शैतान के व्यक्तित्व का इतना ही सम्बन्ध है, जितना कि रावण या ब्रह्माण्ड के असुरों का हिन्दू-धर्म से सम्बन्ध है। मेरा विश्वास भी किसी ऐतिहासिक रावण पर नहीं है, जिसके दस सिर और बीस हाथ हों और ऐसा ही विचार ऐतिहासिक शैतान के सम्बन्ध में है। जिस भाँति शैतान और उसके साथी ईश्वर की दृष्टि से गिर जानेवाले फ़रिश्ते हैं, उसी प्रकार रावण और उसके साथी पतित फ़रिश्ते या अ[illegible] दे[illegible] हैं। यदि

सद्भावों या असद्भावों को मनुष्य के रूपक में दिखलाना कोई अपराध है तो यह एक ऐसा अपराध है, जिसकी ज़िम्मेदारी शायद सबसे बढ़कर हिन्दू-धर्म पर आती है।.........इनके अतिरिक्त और भी अनेक भावों को हिन्दू-धर्म ने मनुष्याकार में वर्णन किया है। धृतराष्ट्र और उसके साथी कौन थे ?"—(नवजीवन, १७ सितम्बर, १६२५ ई०; यंग इण्डिया, १७ सितम्बर, १६२५ ई०; तेज, देहली, २१ सितम्बर, सन् १२२५ ई०)।

"मेरे विचार में महाभारत एक गंभीर धार्मिक-पुस्तक है और उसका बड़ा भाग कल्पित है। इसे ऐतिहासिक दृष्टि से लिखा ही नहीं गया। महाभारत तो वास्तव में सार्वकालिक-युद्ध का चित्र है, जो हमारे अन्तरात्मा में चल रहा है। उसे इस उत्तमता से दिखाया गया है कि हम यह मान लेते हैं कि जो कुछ वर्णन किया गया है, वह काम सचमुच मनुष्यों ने संसार में किया होगा। न तो अन्य मनुष्यों के समान मेरा यह विचार है कि महाभारत अपने आरम्भिक-मूल की प्रक्षेप-रहित-लिपि है।

इसके विरुद्ध मैं कहूँगा कि इसमें बड़े सुधार हो चुके हैं।"—(यंग इण्डिया, पहली अक्तूबर, १६२५ ई०; तेज, देहली, ५ अक्तूबर, सन् १६२५ ई०)।

"वेद सत्य का भण्डार और अनन्त हैं; लेकिन किसे इनका पूरा ज्ञान हुआ है। जिन पुस्तकों को आजकल वेद कहा जाता है, वह असल वेद अर्थात् ज्ञान की पुस्तकों के दस लाखवाँ अंश भी नहीं हैं।

केवल यही नहीं, बल्कि जो चार वेद-पुस्तकें हमारे पास हैं, उनके अर्थ को भी पूर्णतया कौन समझ सकता है ?"—(यंग इण्डिया, ८ अप्रैल, १९२६ ई०; प्रताप, लाहौर, १६ अप्रैल, १९२६ ई०)।

"पुराणों में जो कहानियाँ लिखी हैं, यदि हम वर्त्तमान अवस्था में उनके भावों से अनभिज्ञ हों तो उनमें कई बहुत ही भयंकर हैं। यदि हम शास्त्रों की प्रत्येक घटना के अनुसार या उनमें जो कैरेक्टर (चाल-चलन) वर्णन किये गये हैं, उनके अनुसार अपने चलन को ढालें तो फिर शास्त्र हमारे लिए मौत का जाल हो जायँगे। शास्त्र तो सबके सब मौलिक सिद्धान्तों के लक्षण और उनकी व्याख्या करने में सहायता देते हैं। यदि मजहबी-पुस्तकों में जिन श्रेष्ठ व्यक्तियों का वर्णन है, उनमें से किसी ने ईश्वर या मनुष्य के विरुद्ध कोई पाप किया हो तो क्या यह हमारे लिए आज्ञा-पत्र है कि हम भी उस पाप को दुहराएँ।"—(यंग इण्डिया, २९ जूलाई, सन् १९२६ ई०; तेज, देहली, ७ अगस्त, सन् १९२६ ई०)।

(आर्य) पाठक-वृन्द ! यह है पहला कारण अथवा मन्तव्य और उसके सम्बन्ध में आपके विचार से जिसे आपने अपने सनातनी-हिन्दू होने के सम्बन्ध में बतलाया है। इसके आरम्भ में आपने, सामूहिक रूप से तो हिन्दुओं के सम्पूर्ण वेदादि, शास्त्रों और पुराणों को मान लिया है, बल्कि यह लिखकर जबानी मानने में तो कमाल (पराकाष्ठा) कर दिया है कि "उन सब वस्तुओं को मानता हूँ, जो हिन्दू-शास्त्र के नाम से विख्यात हैं"। इस कथन से

अनभिज्ञ-हिन्दुओं को चाहे यह सन्तोष हो कि महात्मा जी उनके धर्म-शास्त्रों और पुराणों को वैसा ही मानते हैं; जैसा कि वे और वह भी उनकी ही तरह सनातन-धर्मी-हिन्दू हैं; परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है; क्योंकि प्रथम तो इस हेतु के लिखने से पहले भूमिका ही में महात्मा जी ने स्पष्ट लिख दिया है कि सनातन-धर्म-शब्द का प्रयोग मैंने उसके स्वाभाविक अर्थ में ही किया है, इसलिए मुझे तो महात्मा जी का यह कहना वैसा ही मालूम होता है, जैसा कि आर्यसमाजी हिन्दुओं के मुक़ाबले में कहा करते हैं कि वैदिक-धर्मी होने से हम ही सनातन-धर्मी हैं; क्योंकि वेद ही सबसे सनातन हैं, और पौराणिक सनातन-धर्मी नहीं हैं, क्योंकि पुराण नवीन समय के बने हुए हैं।

(२) आपके इस सन्देहात्मक कथन से इस बात का पता नहीं लगता कि आप हिन्दुओं के शास्त्रों को किस तरह पर मानते हैं। हाँ, इसका ठीक हाल आपके इस उपर्युक्त लेख से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि "पुराणों और शास्त्रों की कई शिक्षाएँ बहुत भयानक हैं और यदि हम उनके अनुसार अपने चाल-चलन को बनायेंगे तो शास्त्र हमारी मौत का जाल बन जायँगे।" इसी तरह आपने महाभारत, रामायण, मनुस्मृति में भी मिलावट और अशुद्धियों का होना मान लिया है।

(३) आपने शास्त्रों में पीछे से की हुई मिलावट को मानते हुए उसके नीचे यह माना है कि हमारे धर्म-ग्रन्थों में गो-मांस-भक्षण को निषेध करनेवाले ऐसे श्लोक भी मिला दिये गये हैं कि जिनसे

गो-मांस खानेवालों का जातीय-वहिष्कार चिरस्थायी हो गया है, पर वास्तव में ऐसा नहीं चाहिए था। मानो आपके विचार में हिन्दुओं के शास्त्रों में जो गो-मांस के खाने का निषेध करनेवाले श्लोक आदि हैं, आप उन्हें भी असली और उचित नहीं; वरन् प्रक्षिप्त और अनुचित समझते हैं। वास्तव में आपके सनातन-धर्मी-हिन्दू होने का यह अद्वितीय प्रमाण है।

(४) वेदों के सम्बन्ध में आपने कभी-कभी इतने विभिन्न विचारों को प्रकट किया है कि जिनको सामने रखते हुए निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वेदों को आप क्या और किस तरह पर मानते हैं; क्योंकि—

(१) आपने वेदों को कहीं अपौरुषेय, कहीं परमात्मा का सन्देश, कहीं देवता का दिया हुआ, कहीं ईश्वर-प्रेरणा का फल और कहीं बिना लिखा हुआ माना है, इसलिए यह समझ में नहीं आता कि वास्तव में आप क्या मानते हैं ? इनमें से अपौरुषेय, परमात्मा का सन्देश और देवता-प्रदत्त (यदि इसका अर्थ ईश्वर का दिया हुआ करें) का तो किसी-न-किसी तरह एक आशय ईश्वरीय ज्ञान लिया भी जा सकता है; परन्तु "ईश्वर-प्रेरणा का फल" और "बिना लिखा हुआ" इन दो विशेषणों को इस आशय में किसी प्रकार शामिल नहीं कर सकते। "ईश्वर-प्रेरणा" को इसलिए नहीं कि इसका अर्थ केवल यही हो सकता है कि ईश्वर ने विशेष पुरुष अथवा पुरुषों को प्रेरणा की और उन्होंने वेद को प्रकट किया। इस अवस्था में वेद अथवा ज्ञान ईश्वर का नहीं, वरन्

उन मनुष्यों का होगा कि जिन्होंने उसको प्रकट किया। "बिना लिखा हुआ" को इस हेतु उसमें सम्मिलित नहीं कर सकते कि वह महात्मा जी के माने हुए सन्देश तथा ईश्वर-प्रणीत या अथवा वेद, क़ुरान और इञ्जील आदि पर नहीं घट सकता, क्योंकि वह अपौरुषेय "लिखे हुए" हैं।

(२) आपने वेद को तो ईश्वरीय माना है, परन्तु वेद के शब्दों को अपौरुपेय मानने से इन्कार कर दिया है। अब यह समझ में नहीं आता कि यदि वेद, इलहाम अथवा सन्देश के शब्द अपौरुषेय नहीं हैं तो वेद कैसे अपौरुपेय हो सकते हैं; क्योंकि कोई ज्ञान शब्द और आर्थ (वस्तु) को छोड़कर रह ही नहीं सकता। यदि शब्द मनुष्यों को ईश्वर की ओर से नहीं मिले तो आदि सृष्टि में उनको शब्द का ज्ञान कैसे हुआ? और जब कि उनके पास शब्द नहीं थे तो उन्होंने ईश्वर के दिये हुए ज्ञान को कैसे फैलाया? क्योंकि विद्या का विकास या क्रमशः उन्नति भी बिना भाषा के असम्भव है। अर्थात् यदि ज्ञान के बिना शब्दों का होना सम्भव नहीं तो शब्दों के बिना ज्ञान का होना भी असम्भव है। या यों कहिये कि ज्ञान और भाषा एक ही वस्तु के दो अविभाज्य अंग हैं। सम्भव है कि महात्मा जी का शब्द से अभिप्राय रोशनाई से बने हुए आकारों से हो, परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि रोशनाई के बने हुए आकार तो शब्दों के केवल कल्पित चिह्न हैं, जो कि संसार के विभिन्न भागों में रहनेवाले लोगों ने एक का ज्ञान दूसरे तक सुगमता से पहुँचाने के वास्ते भिन्न-भिन्न आकारों में बनाये हैं। उनको शब्द नहीं कह सकते।

(३) आपने कहीं पर केवल वेदों के लिये और कहीं पर हिन्दुओं के सम्पूर्ण धर्म-ग्रन्थों के लिए अपौरुषेय शब्द का प्रयोग कर दिया है, जिससे यह विदित नहीं हो सकता कि आप अपौरुषेय का क्या अर्थ लेते हैं। आप हिन्दुओं के ग्रन्थों में से वेदों को ही अपौरुषेय मानते हैं अथवा उनके सम्पूर्ण धर्म-ग्रन्थों को ?

(४) आपने एक जगह साधन (मुलहिम) के पवित्र और अपवित्र, पूर्ण और अपूर्ण, होने के कारण इलहाम को भी पूर्ण और अपूर्ण माना है; परन्तु दूसरी जगह चारों वेदों को पूर्ण ज्ञान का अंश मानने से उनको स्वरूप से पूर्ण मान लिया है। ज्ञात नहीं कि यह अन्तर क्यों है ?

(५) जहाँ महात्मा जी ने वेद और बाइबिल आदि को अपौरुषेय माना है, वहाँ आपने यह भी लिखा है कि "सम्पूर्ण अन्य बातों की तरह धार्मिक-विचार भी उस विकास-सिद्धान्त के अधीन हैं, जो कि इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु पर लागू हैं।" इससे जहाँ महात्मा जी के माने हुए इलहाम संदेश और देवता-प्रदत्त-सिद्धान्त का खण्डन होता है, वहाँ इलहाम या ईश्वरीय-ज्ञान के मानने में भी उलझन पैदा हो जाती है; क्योंकि इससे विचारों अर्थात् ज्ञान या वेद की भी मनुष्यों में क्रमशः उन्नति माननी पड़ती है; जो कि ईश्वरीय-ज्ञान के सिद्धान्त के बिलकुल ही विपरीत विचार है। इसको महात्मा जी की कोई चमत्कार-पूर्ण आत्मिक-शक्ति ही सुलझा दे तो दूसरी बात है, नहीं तो इन दो

परस्पर-विरुद्ध-सिद्धान्तों का मेल सिद्ध करना बुद्धि और तर्क की शक्ति से बाहर है, क्योंकि क्रमशः उन्नति तो उसी अवस्था में मानी जा सकती है, जिस अवस्था में मनुष्य को विद्या की उन्नति करने के निमित्त किसी बाह्य चेतन-सत्ता की सहायता की आवश्यकता न मानी जाय ।

(६) विकास-वाद के नियम के आधीन ज्ञान और भाषा की क्रमशः उन्नति का मानना अनुभवों और निरीक्षणों के भी विरुद्ध है, क्योंकि यह निश्चित बात है कि मनुष्य बिना किसी के सिखलाये स्वतः कुछ नहीं सीख सकता । क्रमशः उन्नति माननेवालों के पास इस अनुभव-सिद्ध घटना का कोई उत्तर नहीं है और किसी उन्नत-मनुष्य का छोटा बच्चा युवावस्था तक शिक्षित और सभ्य-मनुष्यों के संग और प्रभाव से दूर किसी जंगल में रक्खा हुआ क्यों वैसा ही हो जाता है, जैसा कि आज से लाखों वर्ष पूर्व किसी अनुन्नत जंगली मनुष्य का बच्चा विकासवाद के विचार से सभ्य-मनुष्य से लाखों वर्ष पूर्व माना हुआ, अवनत जंगली-मनुष्य का बच्चा बीस-पचीस वर्ष तक सभ्य-मनुष्यों के प्रभाव में रहकर, पोषण और शिक्षा पाकर क्यों वैसा ही हो जाता है जैसा कि उन्नत व सभ्य मनुष्य का बच्चा ? या यों समझिये कि इस निरीक्षण का क्या उत्तर है कि विकासवाद की दृष्टि से लाखों वर्ष की की हुई उन्नति को सभ्य-मनुष्य का बच्चा आरम्भिक आयु के २०-२५ वर्ष जंगलों में रहकर क्यों खो देता है और लाखों वर्ष की उन्नति की न्यूनता को जंगली मनुष्य का बच्चा बीस-पचीस

वर्ष सभ्य मनुष्यों में रहकर कैसे पूरी कर लेता है तथा इस समय की जंगली जातियाँ अब तक क्यों सभ्य नहीं हुईं ? क्या लाखों वर्षों से अब तक उन्हें सभ्य बनने के लिये अनुकूल जल-वायु आदि प्राकृतिक साधन प्राप्त नहीं हुए ? और क्या जिस जल-वायु आदि प्राकृतिक साधनों में वह अब रहते हैं, वहाँ पर किसी भी साधन से उनके बच्चे सभ्य नहीं हो सकते ? यदि हो सकते हैं तो विकासवाद इस प्रश्न की क्या मीमांसा करता है ?

(७) महात्मा जी का विभिन्न समयों में माने जानेवाले ईश्वरी-ज्ञानों (वेदों, बाइबिल, क़ुरान आदि) को शुद्ध और उनके मुलहिमों (ऋषियों) के पवित्र और अपवित्र, पूर्ण और अपूर्ण होने के विचार से इलहाम को भी उसी सीमा तक पूर्ण और अपूर्ण व बिना लिखा हुआ मानना इस बात को भी प्रमाणित करता है कि आप किसी विशेष समय पर किसी विशेष व्यक्ति के द्वारा इलहाम अर्थात् ईश्वरीय-ज्ञान का होना नहीं मानते, वरन् यह मानते हैं कि विभिन्न श्रेणियों के शिक्षित मनुष्यों की प्राकृतिक सचाइयों का ज्ञान (महात्मा जी की परिभाषा में अपौरुषेय-ज्ञान, वेद, इलहाम, ईश्वरीय-ज्ञान) सदा होता रहता है और वह क्रमशः उन्नति करता जाता है और यह विभिन्न काल के विद्वानों की बनाई हुई पुस्तकों (जिसमें वेद और बाइबिल आदि भी शामिल हैं) में उनके व्यक्तिगत-गुणों के तारतम्य के अनुसार शब्दों में नहीं, वरन् सच्चाई या भाव के रूप में वर्त्तमान है। यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो मालूम होगा कि वास्तव में यह भी

इवोल्यूशन थिओरी (विकासवाद) के माननेवालों के तुल्य ही विश्वास है, जिसको कि शब्दों का हेर-फेर करके या अपनी परिभाषा में वर्णन करके ईश्वरीय-ज्ञान (इलहाम) माननेवाले मजहबी के सिद्धान्तों के मिलाया गया है; परन्तु इसके मानने से यह आवश्यक हो जाता है कि काल-क्रम से पहले के इलहाम की अपेक्षा बाद का इलहाम अधिक पूर्ण हो; परन्तु सच्ची बात इसके बिलकुल विपरीत है; क्योंकि वेद, संसार में माने हुए इलहामों, ईश्वरीय-ज्ञानों, बाइबिल व क़ुरान आदि, सबसे प्राचीन भी है और सबकी अपेक्षा पूर्ण भी है। यह न केवल मेरा या आर्य-समाजियों और हिन्दुओं का ही कहना है, वरन् कई एक अहिन्दू-विद्वान् भी इस बात को मानते हैं कि वेदों में जिन एक ईश्वरवाद आदि सच्चाइयों का जैसा वर्णन है, उससे उत्तम ज्ञान आज तक किसी को भी नहीं हुआ। यदि कोई चाहे तो इसको भली भाँति प्रमाणित भी किया जा सकता है। यदि कल्पना के लिये उपर्युक्त थिओरी (सिद्धान्त) को ठीक भी मान लिया जाय तो इसके माननेवालों को यह बतलाना होगा कि सृष्टि के आरम्भ में जब कि कोई भी शिक्षित न था, सब असभ्य, अशिक्षित अर्थात् जंगली थे, जैसे कि अब भी सभ्य-समाज और शिक्षा के केन्द्रों से दूर रहनेवाले जंगली होते हैं तो फिर उस समय उन मूर्ख जंगलियों को कैसे ईश्वरीय ज्ञान या इलहाम हो गया। यदि नहीं हुआ तो संसार में वर्तमान ज्ञान का आरम्भ कैसे हुआ और यदि हुआ तो मानना पड़ेगा कि वह

उनकी क्रमशः उन्नति का परिणाम नहीं था, वरन् किसी अन्य चेतन सत्ता (ईश्वर) की ओर से था और वह मुलहिमों (ऋषियों) की तोड़-मरोड़ से भी सर्वथा मुक्त और पवित्र ज्यों का त्यों था; क्योंकि न तो उनमें उस समय व्यक्तिगत गुणों की श्रेणियां ही थीं और न तोड़ने-मोड़ने की बुद्धि ही।

(८) यदि यह कहा जाय कि मनुष्यों को शनैः शनैः अपने आप ज्ञान हुआ, ईश्वर की ओर से नहीं दिया गया तो बतलाया जाय कि फिर सब समकालीन परस्पर-समान मनुष्यों को वैसा ही ज्ञान क्यों नहीं हुआ, जैसा कि विशेष व्यक्तियों को हुआ और अपौरुषेय-ज्ञान और ईश्वरीय-प्रेरणा आदि शब्दों का उसके लिये क्यों उपयोग किया गया और यदि इनके अर्थ उस ज्ञान से करेंगे, जो कि पुरुषकृत नहीं और सदा से मौजूद हैं तो यह कथन भी ठीक न होगा; क्योंकि ज्ञान गुण है, जो कि अपने गुणी से पृथक् कभी नहीं रह सकता। इस हेतु उसको अपने आधार अर्थात् गुणी का ही ज्ञान मानना पड़ेगा।

(९) यदि कोई मनुष्य यह कहे कि पृथ्वी और उसकी प्रत्येक वस्तु अनादि काल से इसी तरह चली आती है और अनन्त काल तक उसी तरह चली जायगी, इसलिये मनुष्यों में ज्ञान का आरम्भ हुआ ही नहीं। वह भी अनादि काल से उसी तरह चला आता है तो यह कहना भी व्यर्थ होगा, क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष है कि पृथ्वी परमाणुओं के मेल से बनी है और जो वस्तु कई वस्तुओं के संयोग से बनती है, वह किसी दशा में भी अनादि नहीं

हो सकती। साइंस भी यही बतलाता है कि पृथ्वी आदि सारे लोक बनते और बिगड़ते रहते हैं। अतः जब कि पृथ्वी ही अनादि नहीं, वरन् सादि है तो उस पर जो पदार्थ मौजूद हैं, उनको भी सदा से विद्यमान नहीं माना जा सकता। पृथ्वी पर की प्रत्येक वस्तु को आदि मानने से उस पर के ज्ञान को भी आदि मानना पड़ेगा और उस ज्ञान को ज्ञानस्वरूप-चेतन-सत्ता, ईश्वर का दिया या आरम्भ किया हुआ, उसी प्रकार मानना पड़ेगा जैसा कि योग-दर्शन के बनानेवाले महर्षि पतंजलि ने निम्नलिखित सूत्र में माना है—

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

(योग सूत्र १-२६)

जिसका अर्थ यह है कि परमात्मा ज्ञानोपदेश करनेवाले गुरुओं का भी गुरु अर्थात् आदि-गुरु है। इसके अतिरिक्त और कोई मीमांसा ठीक नहीं है।

(१०) वेदादि-शास्त्रों के सम्बन्ध में महात्मा जी के जो विचार थे उनकी यथार्थता बतलाने के बाद यह कहना भी अनुचित न होगा कि महात्मा जी स्वयं संस्कृत के विद्वान् नहीं हैं; इसलिये यह निश्चित बात है कि आप वेदादि-शास्त्रों के असली अर्थ जानने में भी असमर्थ हैं। परन्तु इस अपनी अनभिज्ञता के होते हुए आपने शंकराचार्यों और दूसरे संस्कृत के विद्वानों के किये हुये शास्त्रों के अर्थों को अशुद्ध बतलाया है। जिससे यह अनुमान

किया जा सकता है कि आप शास्त्रों के ऐसे अर्थ कराना चाहते हैं, जिनको आपका दिमाग ठीक मान ले अथवा आप उनमें से वही निकलवाना चाहते हैं, जिसको आप हिन्दू-धर्म समझते हैं, चाहे उनके शब्दों से वैसे ही अर्थ निकलें या न निकलें। आपने स्वयं स्वीकार किया है कि आप संस्कृत के विद्वान् नहीं हैं और वेदादि-शास्त्रों का आपको सीधा कोई ज्ञान नहीं है। इस दशा में आपका वेदादि शास्त्रों का मानना केवल एक विश्वासी मनुष्य के सामान मानना है न कि अन्वेषक के तुल्य; इसलिये आपके वेदादि शास्त्रों के सम्बन्ध में सम्मति का मूल्य भी एक विश्वासी मनुष्य की सम्मति से अधिक नहीं हो सकता।

अवतारवाद और पुनर्जन्म

(महात्मा जी) "मैं अवतारों और पुनर्जन्म को भी मानता हूँ।"—(नवजीवन, ७ अक्टूबर, सन् १६२१ ई०)।

अवतारवाद

"ईश्वर निश्चित रूप से एक है, वह अद्वितीय है। वह अथाह और अगोचर है। मनुष्यों का अधिक भाग उसको नहीं जान सका। वह सर्वव्यापक है। नेत्रों के बिना देखता और कानों के बिना सुनता है। निराकार निरवयव है। वह अजन्मा है। उसका कोई पिता, माता या पुत्र नहीं है, तो भी लोग उसे पिता, माता,

स्त्री और पुत्र बनाकर पूजते हैं, तथापि वह उनमें से कोई वस्तु नहीं है।..........वेदों में बहुत से देवता हैं, जिनको अन्य धार्मिक पुस्तकों में फ़िरिश्ता कहा गया है; परन्तु वेदों में केवल एक ही ईश्वर की महिमा गाई गई है।"—(यंग इण्डिया, २५ सितम्बर, सन् १९२४ ई०)।

"द्रौपदी के सहायक मेरी सहायता करना। तू ही मुझ अनाथ का नाथ बनना। यह तू ही जानता है कि मुझे गो-रक्षा से कितना प्रेम है आदि आदि"।—(नवजीवन, २ अप्रैल, सन् १९२५ ई० हेडिंग अखिल भारतीय गो-रक्षा-मंडल की स्थापना—तेज, देहली, ८ अप्रैल, सन् १९२५ ई०)।

"हमारे शास्त्र इस बात की गवाही देते हैं कि भक्त सुदामा को भगवान सहज में मिल गये। मीराबाई जब रानी न रही तब भगवान को मिल सकी। दुर्योधन जाकर कृष्ण के सिर की ओर बैठा तो केवल सेना उसको मिली। भगवान् रथवान् हुये; परन्तु पैरों के पास बैठनेवाले अर्जुन के।"—(नवजीवन, १९ मार्च, सन् १९२५ ई०)।

"मुझे इस बात का कोई ज्ञान नहीं है कि महाभारत के श्रीकृष्ण कभी इस भूमंडल पर हुये हैं। मैं तो ऐसे कृष्ण के सामने सिर झुकाने से इनकार करूँगा, जो हत्या का दोषी हो; क्योंकि उसके गौरव को हानि पहुँचती है या उस कृष्ण के आगे कि जिसका अहिन्दू एक विषयी युवक के रूप में चित्र खींचते हैं। मैं तो भगवान् श्रीकृष्ण

को अपने विचार के अनुसार पूर्ण अवतार एक निर्दोष सत्ता, गीता की वंशी बजानेवाला और करोड़ों मनुष्यों में जीवन-तरंग को उत्तेजित करनेवाला समझता हूँ; परन्तु यदि मेरे सामने यह सिद्ध कर दिया जाय कि अन्य वर्त्तमान ऐतिहासिक पुस्तकों की भाँति महाभारत भी एक इतिहास है और महाभारत के कृष्ण से वह कई कार्य सम्पन्न हुये हैं, जो आपके मत्थे मढ़े जा रहे हैं तो इस बात का जोखों उठाते हुये भी कि मुझे हिन्दू-धर्म से निकाल दिया जाय, मैं विना संकोच के कहूँगा कि मैं कृष्ण को भगवान् का अवतार नहीं मानता; परन्तु मेरे विचार में महाभारत एक गम्भीर धार्मिक पुस्तक है और इसका अधिकांश कल्पित है।"—(यंग इण्डिया, पहली अक्टूबर, सन् १६२४ ई०; तेज, देहली, ६ अक्तूबर, सन् १६२५ ई०)।

"सरदार मंगल सिंह जी लिखते हैं—आपने (महात्मा जी ने) कहा कि जो काल्पनिक चित्र श्रीकृष्ण का मेरे हृदय में है, वह तो परमात्मा है। बाक़ी महाभारतवाले देश-भक्त (श्रीकृष्ण) को मैं वैसा ही भ्रांत देश-भक्त समझता हूँ; जैसा कि अन्य हिंसा के समर्थकों को।"—(प्रताप, लाहौर, ३ अक्तूबर, सन् १६२५ ई०, अकाली से उद्धृत)।

हम राम के गुण गाते हैं। वह वाल्मीकि के राम नहीं। तुलसी-रामायण के भी राम नहीं हैं। तुलसीदास की रामायण मुझे पसन्द है। इसे मैं अद्वितीय पुस्तक मानता हूँ तथा एक बार पढ़ना आरम्भ करने पर उकताता नहीं, तो भी हम आज

तुलसीदास के राम को याद नहीं करते। रामायण के राम वह राम नहीं हैं, जिनका नाम लेकर हम भवसागर से पार हो सकें या जिनका नाम दुःख के अवसर पर लिया करें। असह्य दुःख से दुखी मनुष्य से मैं कहता हूँ कि राम नाम लो। यदि नींद न आती हो तो भी कहता हूँ कि लो राम नाम; लेकिन यह राम तो दशरथ के पुत्र और सीता के पति नहीं; यह तो देहधारी राम नहीं हो सकते। जो हमारे हृदय में वसते हैं, वह राम देहधारी नहीं हो सकते। अँगूठे की तरह छोटा सा तो हमारा हृदय और उसमें समाये हुये राम देहधारी कैसे हो सकते हैं? यह तो न जन्मते हैं और न मरते हैं। इस हेतु स्मरण करने के योग्य देहधारी या किसी अन्य प्रकार के राम नहीं हैं। अनेक वार प्रश्न होता है कि वालि का वध करनेवाले राम पूर्ण-पुरुष कैसे होंगे। मेरे पास भी ऐसे ऐसे प्रश्न वहुत वार आते हैं, इसलिये मैं मन ही मन हँसता हूँ। किसी ने यदि छल से या सीधे तौर पर किसी को मारा, जो दस सिर का शरीर-धारी रावण हो तो कौनसा भारी काम कर लिया। आज का जमाना तो ऐसा है कि वीस क्या असंख्य भुजाओं का भी कोई रावण पैदा हो तो एक लड़का तोप के एक गोले से उस रावण के असंख्य हाथों और सिर को उड़ा देवे। उसे हम असाधारण वच्चा न कहेंगे। उसे हम वड़ा राक्षस मानेंगे। हमें तो अन्तर्यामी की पूजा करना है, जो सवके भीतर सवका स्वामी है। इसके साथ ही वह सवसे

पृथक् है। उन्हीं के सम्बन्ध में हमने गाया कि "निर्बल के बल राम" जो सबके लिये एक समान है। रामनवमी का त्यौहार इसलिये बनाया गया था कि इसके कारण हम नियमबद्ध बनें, बालक कुछ निर्दोष आनन्द उठावें और रामायण पढ़कर कुछ ज्ञान प्राप्त करें।

देहधारी मनुष्य परमेश्वर को अन्य रीति से शीघ्र नहीं पहचान सकता, उसकी कल्पना ज़्यादा दूर नहीं दौड़ सकती। इस हेतु वह मानता है कि परमेश्वर ने मनुष्य-रूप में अवतार लिया था। हिन्दू-धर्म में उदारता की सीमा नहीं, इसलिए मत्स्य, वाराह (शूकर) और नृसिंह को परमेश्वर का अवतार माना गया है। लिखते हैं कि धर्म की ग्लानि हो और अधर्म बहुत बढ़ जाय तो धर्म की रक्षा करने के निमित्त ईश्वर अवतार लेता है। यह बात भी उसी सीमा तक सत्य है, जितनी मैंने कही है, जन्म और मरण से रहित का अवतार लेना क्या है? यह बात मानने योग्य नहीं है कि कोई ऐतिहासिक पुरुष ईश्वर के रूप में या ईश्वर किसी ऐतिहासिक पुरुष के रूप में अवतार था। (प्रताप, लाहौर, १० अप्रैल, सन् १९२८ ई०)

(आर्य) महात्मा जी के उपर्युक्त लेख की भूलभुलैयाँ में से आपके अवतार-सम्बन्धी-सिद्धान्त को निश्चित रूप से जानना अति कठिन कार्य है; क्योंकि—

(१) जहाँ आप अवतारों के मानने की प्रतिज्ञा करते हैं, वहाँ यही नहीं कि ईश्वर को निराकार, निरवयव, अथाह, अगोचर,

जन्म-मरण अथवा माता, पिता और पुत्र से रहित मानते हैं और किसी ऐतिहासिक व्यक्ति को ईश्वर का अवतार मानने से इन्कार करते हैं, वल्कि सनातन-धर्मी हिन्दू जिस रामायण के राम और महाभारत व गीता के कृष्ण को सोलह कलायुक्त-पूर्ण अवतार मानते हैं, आप उनके अवतार होने का स्पष्ट खण्डन भी करते हैं।

(२) एक तरफ़ तो आप भगवान् कृष्ण का भक्त सुदामा और मीरावाई को मिलना और दुर्योधन को सेना देना व अर्जुन का रथवान् वनना स्वीकार करते हैं और द्रौपदी के सहायक कृष्ण को ईश्वर समझकर उससे गोरक्षा में सहायता के लिए प्रार्थना भी करते हैं। यद्यपि महाभारत के कृष्ण के सिवाय यह कोई दूसरे कृष्ण कदापि नहीं हो सकते; परन्तु दूसरी ओर उसी कृष्ण को दूसरों से विषयी कहलाने और अर्जुन को युद्ध का उपदेश देने के कारण हिंसक व भ्रान्त ठहराते हुए उसके अवतार होने से इन्कार करते हैं।

(३) जो महात्मा गीता की वंशी वजानेवाले कृष्ण को पूर्णावतार मानते हैं, वही महात्मा अर्जुन को गीता-रूपी उपदेश देकर युद्ध के लिए तैयार करनेवाले महाराज कृष्ण को भ्रान्त देश-भक्त वतलाते हैं। गीता की वंशी बजानेवाले को पूर्णावतार मानना और गीता-रूपी उपदेश से अर्जुन को युद्ध के लिए सम्बद्ध करनेवाले को बध का कर्त्ता, भ्रान्त देश-भक्त ठहराना या तो नया तर्क है या केवल परस्पर-विरोधी विचारों का निरर्थक जोड़-तोड़ है।

(४) यदि यह कहा जाय कि महात्मा जी ने राम और कृष्ण नाम भी निराकार ईश्वर ही के माने हैं और उसी ईश्वर का रामायण और महाभारत के रावण, दुर्योधन, अर्जुन, द्रौपदी, सुदामा और मीराबाई आदि आदि कल्पित व्यक्तियों से सम्बन्ध माना है और उसी से आपने प्रार्थना की है, तो मैं उत्तर में कहूँगा कि यह तो महात्मा जी का अधिकार है कि आप ईश्वर का सार्थक या निरर्थक कोई भी नाम कल्पित कर लें; परन्तु दशरथ के पुत्र रावण के मारनेवाले रामायण के राम और सुदामा के साथ पढ़ने-वाले दुर्योधन को सैनिक सहायता देनेवाले और अर्जुन का रथ हांकनेवाले महाभारत के कृष्ण निराकार ईश्वर कदापि नहीं हो सकते; अतः स्वयं महात्मा जी ने भी रामायण के राम और महाभारत के कृष्ण को ईश्वर मानने से इन्कार किया है। इसके अतिरिक्त यदि महात्मा जी राम और कृष्ण को ईश्वर के ही नाम और ईश्वर को अजन्मा मानते हैं और आपही के कथनानुसार रामायण के राम और महाभारत के कृष्ण की ऐतिहासिक सत्ता भी कोई नहीं है तो फिर ज्ञात नहीं कि वह कौन से राम और कृष्ण हैं, जिनको महात्मा जी ने अवतार माना है। सारांश यह है कि यदि राम और कृष्ण ईश्वर के ही नाम हैं तो वह अवतार और ऐतिहासिक पुरुष नहीं हैं; क्योंकि अवतार उतरने या जन्म लेने को कहते हैं और महात्मा जी ईश्वर का जन्म नहीं मानते और अगर वह अवतार हैं तो ऐतिहासिक पुरुष ही हैं, ईश्वर नहीं हैं, क्योंकि महात्मा जी के कथनानुसार ईश्वर जन्म-

मरण से रहित है; अतः आपके लेख परस्पर-विरुद्ध होने से बिलकुल ही अनर्थक हो जाते हैं, उनका कोई अर्थ नहीं निकल सकता।

(५) महात्मा जी ने रामायण और महाभारत को ऐतिहासिक ग्रन्थ और महाराज राम और कृष्ण को ऐतिहासिक पुरुष मानने से इन्कार किया है। इसका हेतु यह विदित नहीं होता कि आपने इन दो बृहद् ग्रन्थों में वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं को आलंकारिक सिद्ध कर लिया है; क्योंकि यह तो सर्वथा असम्भव है कि आप या कोई अन्य सज्जन इन पुस्तकों की सारी ऐतिहासिक घटनाओं को आलंकारिक सिद्ध कर सकें; बल्कि आपका यह कहना भी किसी सीमा तक मेरे इस दावा का समर्थन करता है कि "महाभारत का अधिकांश काल्पनिक है" क्योंकि इससे विदित होता है कि आप सम्पूर्ण महाभारत को काल्पनिक भी नहीं मानते, बल्कि उसके कुछ अंश को ऐतिहासिक भी मानते हैं। मेरा निश्चय है आप काल्पनिक और ऐतिहासिक भाग को पृथक् पृथक् भी नहीं दिखला सकते। मेरा यह भी विश्वास है कि आपकी यह सम्मति आपके अन्वेषण पर निर्भर नहीं है; बल्कि केवल आपके भावों के आधार पर बनी हुई है। इसका प्रमाण आपके पूर्व-लिखित इन शब्दों से भली भाँति मिल रहा है— "मैं तो ऐसे कृष्ण के सामने सिर झुकाने से इन्कार करूँगा जो हत्या का दोषी हो या उस कृष्ण के आगे कि जिसका अहिन्दू विषयी-युवक के रूप में चित्र खींचते हैं", "कितनी

वार प्रश्न होता है कि वालि का वध करनेवाले राम पूर्ण-पुरुष कैसे होंगे ? किसी ने यदि छल से या सीधे तौर पर किसी को मारा या दस सिर का शरीरधारी रावण हो तो कौन सा भारी काम कर लिया। इत्यादि"

इससे विदित होता है कि आपके अहिंसा और सदाचार से बने हुए भाव, भारत के पूज्य महाराज राम और कृष्ण को हिंसक और आचार-हीन मानने के लिए तैयार नहीं हैं। यही कारण है कि आपने ऐसे ऐतिहासिक राम और कृष्ण व ऐसी पुस्तकों—(रामायण व महाभारत) को ही ऐतिहासिक मानने से इन्कार कर दिया है, जिनमें उनके लिखित आचार-व्यवहार का वर्णन है; परन्तु मेरा विचार है कि आपका ऐसा मानना न तो ठीक ही है और न तो आपके अभिप्राय को सिद्ध करता है; क्योंकि काल्पनिक मानने से भी उनके वंश का इतिहास और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले ऐतिहासिक घटनाओं को छिपाया नहीं जा सकता और न उनके हिंसात्मक-वर्णन-शैली से अहिंसा ही को सिद्ध किया जा सकता है। इस हेतु ऐसा कहना न केवल मिथ्या वर्णन है और उससे कोई लाभ नहीं, वरन् बड़ी भारी हानि भी है और वह यह कि यदि रामायण और महाभारत में वर्णित राम और कृष्ण आदि भारत के सपूतों और ऐतिहासिक मण्डल के चमकते हुए तारों की सत्ता को कल्पित मान लिया जाय तो भारत का सच्चा और अनुपम ऐतिहासिक गौरव ही नष्ट हो जाता है और उन यूरोपियन इतिहासज्ञों का भी समर्थन होता है; जिन्होंने जान-बूझकर

या अनजान में भारत के ऐतिहासिक गौरव को मिटाने के लिए रामायण और महाभारत तथा उनकी घटनाओं को कल्पित बतलाया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कुछ ग्रन्थों में महाराज कृष्ण के आचार पर बहुत से कलंक लगाये गये हैं और अहिन्दुओं को उन पर हँसी उड़ाने का अवसर हो गया है; परन्तु इस भ्रम को दूर करने के लिए यह रीति ठीक नहीं है कि उन्हें ऐतिहासिक पुरुष होने ही से इन्कार कर दिया जाय; क्योंकि ऐसा करने से भी उनके सब कलंकों को आलंकारिक सिद्ध करना असम्भव है, जो कि योगिराज महाराज कृष्ण पर लगाये गये हैं। उस दशा में उसकी आवश्यकता भी नहीं रहती, जिस दशा में अन्य विद्वानों की भाँति महात्मा जी भी महाभारत आदि हिन्दुओं के शास्त्रों में प्रक्षिप्त लेख भी मानते हैं, इसलिए अशुद्धियों और आक्षेपों को दूर करने के लिए यही सीधा और सच्चा मार्ग था कि महाराज को कलङ्क लगानेवाले लेखों को विपक्षियों के द्वारा की हुई मिलावट अथवा अदूरदर्शी ग्रन्थकारों की अत्युक्ति-पूर्ण भ्रान्ति समझा जाता, जैसा कि वह वास्तव में है; क्योंकि भगवद्गीता से उसका भली भाँति खंडन होता है।

पुनर्जन्म

(महात्मा जी) "मैं पुनर्जन्म को भी मानता हूँ।"
(नवजीवन, ७ अक्टूबर, सन् १९२१ ई०)

महात्मा जी ने एक वकील साहब के प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा है—

(प्रश्न) आत्मा एक ही हो तो अनेक आत्मा के रूप में इसका असंख्य योनियों में भ्रमण करना असम्भव नहीं गिना जाना चाहिए। तो क्या एक ही आत्मा मनुष्य के शरीर से निकलकर पशु-योनि और वनस्पतियों में जन्म ले सकता है। आप यह बात स्पष्ट करें।

(उत्तर) "मेरी यह सम्मति अवश्य है कि मनुष्य-योनि में जन्म लेने के बाद पशु व वनस्पति आदि योनियों में भी मनुष्य का पतन हो सकता है। (नवजीवन, ८ अप्रैल, सन् १९२६ ई०, प्रताप, लाहौर, १३ अप्रैल, सन् १९२६ ई०)।

(आर्य) महात्मा जी ने ४ सितम्बर, सन् १९२४ ई० के यंग इण्डिया में लिखा था कि अन्य सब बातों की तरह धार्मिक विचार भी उसी विकास-नियम के आधीन हैं, जो कि इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु पर लागू है; परन्तु आपके उपर्युक्त लेख से विदित होता है कि आप आत्मा का मनुष्य-योनि में जन्म लेने के बाद पशु और वनस्पति की योनियों में उत्पन्न होना भी मानते हैं। आपके यह दोनों विचार एक दूसरे के विरुद्ध हैं; इसलिए यदि विकासवाद ठीक है तो यह मानना मिथ्या है कि मानव-शरीर धारण करने के बाद आत्मा पशु और वनस्पति की योनियों में जन्म ले सकता है, क्योंकि विद्यमान सब योनियों से मनुष्य-योनि श्रेष्ठ है। विकास-सिद्धान्त में उच्च से नीच योनि में गिरने की सम्भावना ही नहीं है

और यदि यह सत्य है कि आत्मा उच्च से नीच योनियों में जन्म ले सकता है तो विकास-सिद्धान्त (एवोल्यूशन थ्यूरी) ठीक नहीं है। ज्ञात नहीं महात्मा जी इसका क्या समाधान करते हैं। चाहे कुछ भी हो, हम आपके निजी पेश किये हुए पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्पष्ट और वेदानुकूल समझते हैं, इसलिए इस दृष्टि से आपको सनातनी हिन्दू मानते हैं।

वर्णाश्रम-व्यवस्था

(महात्मा जी) "मैं वर्णाश्रम-धर्म को मानता हूँ; परन्तु अपनी समझ के अनुसार ठीक वैदिक अर्थ में। आजकल के अपूर्ण और प्रचलित अर्थ में नहीं।

वर्णाश्रम-व्यवस्था मनुष्य की प्रकृति के लिए स्वाभाविक है। जन्म के साथ उसका सम्बन्ध अवश्य है। कोई मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार अपना वर्ण बदल नहीं सकता। अपने वर्ण के अनुसार न चलना गोत्र को न मानना है। हाँ, जो हज़ारों छोटी-छोटी जातियाँ बन गई हैं, यह तो उस सिद्धान्त का अनावश्यक और मनमाना व्यवहार करना है। केवल चार वर्ण ही सब तरह से काफ़ी हैं। मैं इस बात को नहीं मानता कि सहभोज और अन्तर्विवाह से किसी मनुष्य का जन्म-जात दर्जा अवश्य ही छिन जाता है। यह चार

विभाग मनुष्य के व्यवसाय के सूचक हैं। वे सामाजिक व्यवहार की मर्यादा नहीं बनाते। यह चारों तो कर्त्तव्य का निर्णय करते हैं। ....मेरी सम्मति में तो यह बात हिन्दू-धर्म के सनातन-तत्व के विपरीत है कि एक को तो श्रेष्ठता दे दी जाय और दूसरे को कनिष्ठ बताया जाय............ ब्राह्मण कुल में जन्म होने के कारण वह प्रधानता से ज्ञानशील है। आनुवंशिक-रूप से तथा शिक्षा और अभ्यास के कारण वह दूसरे को ज्ञान देने के लिए सबसे अधिक पात्र है। फिर ऐसी कोई बात नहीं है, जो किसी शूद्र को यथेच्छ ज्ञान प्राप्त करने से रोक सके। ....परन्तु जो ब्राह्मण अपने ज्ञान के अधिकार के बल पर अपने उच्च और श्रेष्ठ होने का दावा करता है, उसका पतन हो जाता है।" (नवजीवन, ७ अक्टूबर, सन् १९२१ ई०)

"मैं यह विचार करने के लिए तैयार हूँ कि उत्तराधिकार (विरासत) का नियम एक वाह्य-नियम है और उस नियम को परिवर्त्तन करने का यत्न करने से बिलकुल गड़बड़ हो जायगा, जैसा कि पहले होता रहा है। एक ब्राह्मण को उसके सब जीवन में सदा ब्राह्मण समझने में बहुत बड़ा लाभ देखता हूँ। यदि वह ब्राह्मण की भाँति कार्य नहीं करता तो स्वभावतः उसकी प्रतिष्ठा न रहेगी, जो एक सच्चे ब्राह्मण की होनी चाहिए।.............. प्रकृति बिना किसी भूल-चूक की सम्भावना के एक ब्राह्मण को, यदि वह कुकृत्य करता है, घटिया योनि में जन्म देकर और एक ऐसे मनुष्य को, जो वर्त्तमान जन्म में अब्राह्मण है, अगले जन्म में ब्राह्मण

बनाकर हिसाब को बराबर कर देगी।" (यंग इण्डिया, दूसरा भाग, पृष्ठ ६८३। प्रताप, लाहौर, १५ दिसम्बर, सन् १६१० ई०)

"मद्रास में मैंने एक सभा में जो भाषण दिया था, उसमें से एक वाक्य को अलग करके उसका अशुद्ध अर्थ लगाया गया है और उसे नाम-मात्र के ब्राह्मणों और अब्राह्मणों के पारस्परिक शत्रुता को बढ़ाने के लिए बुरी तरह इस्तेमाल किया गया है।...... मैं "नाम-मात्र' शब्द का जान-बूझकर प्रयोग कर रहा हूँ; क्योंकि जिन ब्राह्मणों ने अपने आपको भ्रान्तियों से मुक्त कर लिया है, उनका अब्राह्मणों से कोई झगड़ा नहीं; किन्तु वे अब्राह्मणों को, जहाँ कहीं वे निर्बल हैं, हर तरह से आगे बढ़ाने के इच्छुक हैं।" (प्रताप, लाहौर, ४ नवम्बर, सन् १६२० ई०)

"यद्यपि ब्राह्मण जन्म से होते हैं; परन्तु ब्राह्मणत्व जन्म से नहीं होता। यह तो वह गुण है, जिसको एक छोटे से छोटा आदमी भी अपने प्रयत्न से प्राप्त कर सकता है।" (नवजीवन, १६ मार्च, सन् १६२५ ई०; तेज, देहली, २३ मार्च, सन् १६२५ ई०—यंग इण्डिया से उद्धृत।)

(आर्य) महात्मा जी ने वर्णाश्रम-व्यवस्था को वैदिक अर्थ में मानने का दावा किया है और साधारणतः हिन्दुओं में आजकल जैसी वंशानुगत वर्ण-व्यवस्था मानी जाती है, उसके मानने से इन्कार किया है; परन्तु आपका यह दावा कहाँ तक ठीक है, इसका अनुमान कुछ तो पीछे लिखे हुए आपके वेद-सम्बन्धी विचारों ही से लग जाता है और कुछ मेरी निम्नलिखित समालोचना से लग जायगा।

महात्मा जी एक तरफ़ तो वर्ण को जन्म-मूलक तथा केवल कर्त्तव्य का निर्णय करनेवाला बतलाते हैं और ब्राह्मण तथा शूद्र को······समान ठहराते हैं; परन्तु दूसरी तरफ़ नीच से नीच मनुष्य के लिए ब्राह्मणत्व का प्राप्त करना सम्भव और अपने कर्त्तव्य पालन न करनेवाले ब्राह्मण को अवास्तविक अथवा नाम-मात्र का बतलाते हैं और शूद्र की योनि को ब्राह्मण की योनि से घटिया ठहराते हैं। ऐसे विचारों का संग्रह है, जो कि परस्पर विरुद्ध होने से बिलकुल निरर्थक बन जाता है और पाठकों को आपका सिद्धान्त जानने के लिए कोई मार्ग नहीं दिखलाता। वैसे तो आपको पूरा अधिकार है कि आप जो कुछ और जैसा चाहें अपना सिद्धान्त रक्खें, परन्तु जब आप अपने सिद्धान्त को वैदिक होने का दावा करते हैं, तब आप जैसे लोक-मान्य और लोक-प्रसिद्ध महात्मा के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि आप अपने मन्तव्य को स्पष्ट तौर पर वर्णन करें और उसके वैदिक होने का प्रमाण भी दें। यदि आप ऐसा नहीं करते तो वैदिक धर्मी होने के नाते हमारा अधिकार है कि आपसे कहें कि आप अपने दावे को वैदिक सिद्ध करें। नहीं तो आप अपने कल्पित सिद्धान्तों को वेदों के गले मढ़कर वेदों के माननेवाले सर्वसाधारण को भ्रान्ति में न डालें। हमारा दावा है कि आपने जो वर्ण का सम्बन्ध जन्म से माना है और मरण-पर्यन्त वर्ण के परिवर्तन होने से इन्कार किया है, यह सिद्धान्त वैदिक नहीं; वरन् अवैदिक है। आपके इस सिद्धान्त के अवैदिक होने में सैकड़ों युक्तियाँ तथा

प्रमाण दिये जा सकते हैं; परन्तु प्रमाण-रहित दावे का खण्डन करना अनावश्यक समझकर और सत्यार्थ-प्रकाश आदि पुस्तकों में प्रमाणों की विद्यमानता के विचार से यहाँ पर व्यर्थ विस्तार और पिष्टपेषण करना नहीं चाहते। हाँ, भ्रान्ति को दूर करने तथा जनता की जानकारी और सत्य को प्रकट करने के लिए यहाँ इस सम्बन्ध में कुछ लिखता हूँ।

वास्तव में वर्ण को जन्म-सिद्ध और जीवन-पर्यन्त अपरिवर्तन मानने की भ्रान्ति का मूल-हेतु जहाँ पर अपने वर्ण, धर्म और कर्म से रहित, अयोग्य-वंशज; परन्तु चालाक, नामधारी ब्राह्मणों की अपनी प्रतिष्ठा और गौरव बनाये रखने की चेष्टा है, वहाँ पर जाति और वर्ण शब्दों को पर्याय-वाचक समझने की भी भूल है, जो कि विशेषतः हिन्दी-साहित्य में वर्ण और जाति शब्द को रूढ़ि अर्थों में प्रयोग करने का परिणाम है; परन्तु वैदिक-साहित्य में जाति और वर्ण शब्द दो भिन्न-भिन्न अर्थों में आये हैं और उनमें परस्पर जो अन्तर है, वह इस प्रकार है—

(१) 'जाति' आकार अथवा प्रकार को कहते हैं; जैसे—मनुष्य, घोड़ा, गाय आदि। वर्ण पद अथवा व्यवसाय का नाम है, जैसे—मास्टर, लोहार, बढ़ई आदि।

(२) जाति प्रारब्ध कर्मों के अनुसार ईश्वर की न्याय-व्यवस्था से अपने माँ-बाप के द्वारा जन्म ही से मिलती है। प्रमाण—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।

(योग २—१३)

अर्थात् जाति, आयु और भोग प्रारब्ध-कर्म के फल हैं और

समान प्रसवात्मिका जातिः ।

(न्यायसूत्र २ । २ । ६७)

अर्थात् एक ही प्रकार के नर और मादा से एक भाँति उत्पन्न होनेवालों की एक ही जाति है । जैसे सब मनुष्य एक जाति और सब गाय दूसरी जाति है; परन्तु वर्ण, गुण और कर्म-रूप पुरुपार्थ से प्राप्त किया जाता है । जैसा कि निरुक्त अध्याय २, खंड ३ में लिखा है—वर्णो वृणोते ।

(३) जाति दृश्यात्मक होने से बाहर की इन्द्रियों, रूप तथा आकार से पहचानी जाती है । प्रमाण—

आकृतिर्जाति लिंगाख्या ।

(न्यायसूत्र २ । २ । ६६)

अर्थात् आकृति (बाह्य-रूप व इन्द्रिय) ही जाति का चिह्न है; जैसे-मनुष्य का रूप और इन्द्रिय रखनेवाले सब एक जाति, घोड़े का रूप और इन्द्रिय रखनेवाले सब घोड़े दूसरी जाति हैं । वर्ण अदृश्य होने से गुणों और कर्मों के विचार ही से जाना जाता है, न कि जाति की तरह, बाह्य-रूप व आकार से; जैसे कि चारों वर्णों के लोग मिलकर बैठे हों तो मनुष्यों के वर्ण उनके

गुणों और कर्मों से मालूम किये जा सकते हैं, न कि उनके बाह्य-रूप और इन्द्रियों को देखकर।

(४) 'जाति' जन्म-मूलक होने के कारण, शरीर के नाश होने तक बराबर बनी रहती है और वर्त्तमान जन्म में नहीं बदल सकती; जैसे-मनुष्य वर्त्तमान जन्म में घोड़ा और घोड़ा इस जन्म में मनुष्य नहीं बन सकता; परन्तु वर्ण गुणों और कर्मों के द्वारा मिलता है और गुण तथा कर्म एक ही जन्म में बदल सकते हैं, इसलिए गुणों और कर्मों के बदलने से वर्ण वर्त्तमान जन्म में भी बदल सकता है। प्रमाण—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥

(मनुस्मृति)

(अर्थ)—विद्या आदि गुणों के बदलने से शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है; और क्षत्रिय वैश्य और वैश्य क्षत्रिय हो जाता है अर्थात् चारों वर्ण आपस में बदल सकते हैं।

एभिस्तु कर्मभिर्देवि शुभैराचरितैस्तथा।
शूद्रो ब्राह्मणतां याति वैश्यः क्षत्रियतां व्रजेत॥

(महाभा॰ अनुशा॰ अ॰ १४३—२६)

(अर्थ) इस प्रकार के शुभ कर्म और सदाचार से शूद्र ब्राह्मण और वैश्य क्षत्रिय बन सकता है।

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जाति परिवृत्तौ।
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं वर्णमापद्यते जाति परिवृत्तौ ॥

(अर्थ) धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम वर्ण को प्राप्त कर लेता है और अधर्माचरण से उत्तम वर्ण निचले वर्ण का बन जाता है।

इसी वैदिक नियम के अनुसार वर्ण बराबर बदलता भी रहा है। इस सम्बन्ध में अनेक प्रमाणों में से उदाहरणार्थ केवल दो प्रमाण नीचे लिखे जाते हैं—

ब्राह्मण्यं यदि दुष्प्राप्यं त्रिभिर्वर्णैर्नराधिप।
कथं प्राप्तं महाराज क्षत्रियेण महात्मना ॥ १ ॥
विश्वामित्रेण धर्मात्मन् ब्राह्मणत्वं नरर्षभ ॥ २ ॥
देहान्तरमनासाद्य कथं स ब्राह्मणोऽभवत्।
मतंगस्य यथा तत्वं तथैवैतदस्व मे ॥ १८ ॥
स्थाने मतंगो ब्राह्मण्यमलभद्‌ भरतर्षभ।
चांडाल योनौ जातो हि कथं ब्राह्मण्यमाप्तवान ॥१९॥

(महाभारत अनुशासन पर्व)

जिसका अर्थ यह है कि हे राजा! यदि ब्राह्मणत्व मिलना कठिन है तो एक ही जन्म में क्षत्रिय विश्वामित्र किस तरह ब्राह्मण बन गया? और दूसरा देह न धारण करने पर भी चाण्डाल-कुल में उत्पन्न होकर मतंग ऋषि कैसे ब्राह्मण हो गये?

(५) वैदिक परिभाषा में सिवाय शूद्र के शेष तीनों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को द्विज कहते हैं और द्विज का अर्थ है दो जन्मवाला। पहला जन्म उसका माता-पिता से होता है और दूसरा जन्म गुरु के पास जाकर विद्या पढ़कर द्विजत्व को प्राप्त करने से होता है। इससे प्रकट है कि मनुष्य दूसरे जन्म से द्विज बनता है, न कि माता-पिता से मिलनेवाले पहले जन्म से। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जन्म से कोई भी ब्राह्मण आदि नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वंशों में पैदा होनेवाले धर्मभ्रष्ट हो जाने (ईसाई, मुसलमान हो जाने) पर इसी जन्म में ही अपने वर्ण से गिर जाते हैं, इत्यादि।

ऊपर के वर्णन से सिद्ध है कि वैदिक साहित्य में जाति और वर्ण के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। इनको समानार्थक समझना या अपनी इच्छा से उनकी परिभाषा करना और उनका प्रयोग करना अथवा वर्ण को जन्म-मूलक बतलाना कदापि उचित नहीं माना जा सकता। वैदिक नियम के अनुसार यही मानना ठीक होगा कि ब्राह्मणादि वर्ण-बोधक नाम मनुष्य के व्यक्तिगत नहीं; किन्तु गुण-परक हैं। इस हेतु जिस-जिस मनुष्य में जिस-जिस वर्ण के प्रधान गुण और कर्म होंगे, वही उसका वर्ण होगा और वह गुण और कर्म के बदलने से बदल भी सकेगा। महात्मा जी के इस कथन का कि कोई मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार अपना वर्ण बदल नहीं सकता, तात्पर्य यही हो सकता है कि कोई मनुष्य प्रयत्न करके योग्यता प्राप्त करले या योग्यता खो देने और वर्ण-धर्म के विरुद्ध

कर्म करने पर भी अपना वर्ण नहीं बदल सकता, अतः यह कथन ऐसा ही अशुद्ध और निस्सार है, जैसे यह कहना कि किसान का लड़का डाक्टर और डाक्टर का लड़का किसान नहीं बन सकता।

भला इस प्रकार के परिवर्त्तन में कौन सी ऐसी प्राकृतिक या स्वाभाविक रुकावट है, जो कि वर्ण के बदलने को असम्भव बनाती है। ज्ञात होता है कि महात्मा जी केवल उत्तराधिकार के नियम में गड़बड़ हो जाने के विचार से आजन्म वर्ण का परिवर्त्तन नहीं मानते और इसलिए एक जन्म के ब्राह्मण सदा ही ब्राह्मण, इसी प्रकार क्षत्रिय को क्षत्रिय, वैश्य को वैश्य और शूद्र को शूद्र समझाने में बड़ा लाभ समझते हैं और यह ध्यान नहीं देते कि जन्म-मूलक-वर्ण के मानने से जो वृथाभिमान और वंश-संबंधी घृणा बढ़ी है और बढ़ेगी उससे धर्म, देश और जाति को कितनी हानि पहुँची है और पहुँचेगी। मेरी समझ में तो गुण कर्म की योग्यता पर आश्रित वर्ण-व्यवस्था से भी उत्तराधिकार के नियम में कोई दोष उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि उत्तराधिकार (विरासत) का नियम यदि वर्त्तमान प्रथा पर भी हो तो भी उसका प्रयोग मेम्बरों (व्यक्तियों) पर उसके वंश-मूलक-सम्बन्धों के आधार पर होगा न कि वंश के विभिन्न मेम्बरों (व्यक्तियों) के विभिन्न वर्णों के आधार पर। यद्यपि असंभव है तथापि आपके कथनानुसार उत्तराधिकार के कारण यदि कोई कठिनाई सामने आवे भी तो भी उत्तराधिकार के नियम को बदलकर उसको सुलझाया जा सकता है;

क्योंकि मनुष्य-रचित नियम ऐसी वस्तु नहीं है कि आवश्यकता के विचार से परवर्त्तित न हो सके। संभव है कि किसी समय उत्तराधिकार का नियम भी इस या इसी प्रकार के किसी और नियम के आधार पर ही बनाया जाय कि जन्म से कोई भी मनुष्य अपने जन्म-मूलक सम्बन्धियों की कोई वस्तु लेने का तब तक अधिकारी नहीं बन सकता, जब तक कि वह उसके लेने के योग्य अपने आपको न बनाये, अतः केवल उत्तराधिकार के नियम के भय से वर्ण-व्यवस्था के असली रूप ही को बदल देना कदापि उचित नहीं है; क्योंकि इससे जहाँ वर्ण-व्यवस्था का वास्तविक उद्देश (योग्यों के हाथ में काम देना) ही नष्ट हो जाता है, वहाँ पैतृक-वर्ण-व्यवस्था के मानने से समाज में पुरुषार्थ और योग्यता का कोई मूल्य ही नहीं रहता और समाज दिमाग में ताला लगाकर लकीर का फ़कीर बनकर अवनति के गड्ढे में गिर जाता है। महात्मा जी ने यह तो लिख दिया कि एक ब्राह्मण को जीवन-पर्यन्त ब्राह्मण समझने में बहुत बड़ा लाभ है, परन्तु वह लाभ कौन सा है, इसे प्रकट नहीं किया। इस हेतु लाभ कुछ है भी या नहीं यह तो उसी समय कहा जा सकता है, जब वह सामने आवे; परन्तु इसके विपरीत इसका जो भयानक परिणाम और इससे जितनी हानि है। वह प्रकट है और हम उसका फल भुगत रहे हैं। छूत-छात, जिसको महात्मा जी राक्षसी-उपज बतलाते हैं; वह वंश-मूलक वर्ण-व्यवस्था ही का एक विषैला फल है, जिससे हिन्दू-समाज के संगठन, शक्ति और मानव-सहानुभूति का नाश हुआ है, जिसके कारण आज नाम

के उच्चवर्ण के अभिमानियों की ओर से नीच समझे हुए अपने ही छः करोड़ भाइयों के साथ कुत्ते-बिल्ली आदि से भी बुरा मनुष्यता और सज्जनता से गिरा हुआ व्यवहार किया जाता है। इस सारे अनर्थ और अत्याचार के लिए, जो धर्म के नाम पर अपने इन भाइयों से उचित समझा जाता है, जन्म से सम्बन्ध रखनेवाली और जीवन-पर्यन्त बनी रहनेवाली आपकी समर्थन की हुई वर्ण-व्यवस्था ही जिम्मेदार है। इसी परम्परागत-पैतृक-वर्ण-व्यवस्था के कारण ही से अपूज्यों की पूजा और पूज्यों का तिरस्कार होता है, जो कि साहसवालों का साहस तोड़ने और अधिकारियों के अधिकार को नष्ट करने व मनुष्यों की स्वतंत्रता को कुचलनेवाला पाप है।

इस पैतृक-वर्ण-व्यवस्था के भ्रम-मूलक-सिद्धान्त से तो महात्मा जी वर्ण को साम्प्रदायिक-स्वत्व (हक़) देकर योग्यता के विचार से द्विजत्व (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यपन) के अधिकारी शूद्रों को उसकी प्राप्ति तथा स्वतंत्रता-पूर्वक उन्नति करने से जीवन-पर्यन्त वञ्चित कर देते हैं, जो कि उन पर घोर अत्याचार है, इसलिए हमें तो जन्म-मूलक वर्ण में कोई भी गुण नहीं दिखाई देता; परन्तु पुरुषार्थ से प्राप्त किये जानेवाले वर्ण में वह सब गुण मौजूद हैं; जिनका जन्म से मिलनेवाले वर्ण से नाश होना ऊपर वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त, यदि गुण-कर्मानुसार वर्ण के नियम को पहले की भाँति फिर से जारी कर दिया जाय तो इससे बड़ा भारी लाभ यह होगा कि जिस तरह प्राचीन काल में भार्गव और शौनक आदि वंशों की चारों वर्णोंवाली सन्तान एक

सम्मिलित परिवार में रहती थी, उसी तरह अब भी एक ही पिता की चारों वर्णवाली सन्तान सम्मिलित-परिवार में रहेगी और इससे बहुत कुछ वर्त्तमान-जन्ममूलक-वृथाभिमान, वंश-मूलक-घृणा और वंशानुगत-वर्ण से उत्पन्न झूठी जाति-पाँति का नाश हो जायगा। अथवा इस समय ब्राह्मण और शूद्र या चारों वर्णों में जो पारस्परिक घृणा और द्वेष मौजूद है, वह अपने मूल-कारण, वंशानुगत-वर्ण और जाति-पाँति के मिटने से अवश्य ही मिट जायगा।

पैतृक-वर्ण-व्यवस्था माननेवाले कुछ भाइयों की ओर से सन्तान को माता-पिता के शरीर आदि से उत्तराधिकार में मिलने-वाली वस्तुओं का वर्ण-व्यवस्था के साथ सम्बन्ध बतलाया जाता है, वह वास्तव में महत्व रखता है; इस हेतु ध्यान देने-योग्य है। इसके सम्बन्ध में हमें क्या, किसी को भी इस सचाई के मानने से इन्कार नहीं हो सकता कि मनुष्य का आत्मा, अपने प्रारब्ध कर्मों के संस्कार अपने साथ लाता और अपनी शारीरिक-प्रकृति का अधिकांश जन्म के साथ ही अपने माता-पिता से उत्तराधिकार में पाता है, जिसका मनुष्य के हृदय तथा मस्तिष्क पर प्रभाव होने से मनुष्य के वर्ण पर भी एतद्द्वारा प्रभाव पड़ता है; परन्तु इससे भी पैतृक (वंशानुगत) वर्ण और जीवन-पर्यन्त उसका स्थिर रहना सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम यह तो प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, क्योंकि यह आरम्भिक पैतृक-प्रकृति मनुष्य की स्वतंत्रता को ही छीन लेती है अथवा माता-पिता के गुणों के विरुद्ध

किसी प्रकार की भी उन्नति और अवनति मनुष्य को करने ही नहीं देती। ऐसा मानने से पुरुषार्थ (अभ्युदय और मुक्ति) का भी विपेध हो जाता है।

(२) आध्यात्मिक फ़िलासफ़ी और मेडिकल साइन्स भी इस बात को मानते हैं और अनुभवों तथा निरीक्षणों से भी यही सिद्ध है कि अच्छा या बुरा संग करने से और विद्या-प्राप्ति आदि निमित्तों (साधनों) से, संस्कारों और जल-वायु तथा भोजन के प्रभाव से, शारीरिक प्रकृति में अवश्य ही परिवर्त्तन होता है।

(३) बच्चा माँ-बाप से जो कुछ उत्तराधिकार में पाता है, वह वंशानुगत नहीं; किन्तु केवल अपने माता-पिता ही की शारीरिक प्रकृति से अंश ग्रहण करता है। यह भी कोई आवश्यक बात नहीं है कि उसके माँ-बाप की शारीरिक-प्रकृति अपने वंशानुगत-वर्ण के अवश्य ही अनुकूल हो, इसलिए इस युक्ति से भी वंशानुगत (परम्परागत) वर्ण का समर्थन नहीं होता।

यदि महात्मा जी के कथनानुसार सचमुच कोई वर्ण-कर्तव्य का निर्णय करनेवाले हैं तो वह योग्यता पर अवलम्बित वर्ण ही हो सकते हैं, न कि पैतृक (परम्परागत) वर्ण; क्योंकि वंश-मूलक नाम-मात्र के ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि असली ब्राह्मण और सच्चे क्षत्रिय आदि का काम कदापि नहीं कर सकते। आपने ब्राह्मण-कुल में जन्मलेनेवाले को प्रधानतया ज्ञान-शील होने और अनुवांशिक-गुण की अपेक्षा से दूसरों को ज्ञान देने के लिए

सबसे अधिक पात्र बतलाया है। यद्यपि यह भी अनुभव और निरीक्षण के बिलकुल विपरीत और मिथ्या है।

भला जो योग्यता के विचार से ब्राह्मण या क्षत्रिय ही नहीं है, वह दूसरों को कैसे पढ़ा अथवा बचा सकेगा ? जब कि हरएक कार्य को योग्यों के हाथ से कराना और अयोग्यों के हाथ से बचाना ही वर्ण-व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य है और जब कि योग्य तथा अयोग्य की जाँच गुण-कर्म से होती है न कि उनके जन्म से तो फिर जन्म से प्रधानता कैसे मानी जा सकती है ?

यदि जन्म के ब्राह्मणों से ब्राह्मण और जन्म के क्षत्रियों आदि से क्षत्रियादि की उत्पत्ति मानी जायगी तो इस दशा में जहाँ सच्चे और झूठे ब्राह्मण में भेद न रहने से वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य सिद्ध न हो सकेगा, वहाँ महात्मा जी के इस कथन (वर्णाश्रम-व्यवस्था मनुष्य-प्रकृति के लिए स्वाभाविक है) के अनुसार वर्ण-व्यवस्था को सार्वभौम भी न बना सकेंगे; क्योंकि सिवाय भारत के दूसरे देशों में वर्णों के वंश हैं ही नहीं; इसलिए वहाँ ब्राह्मण आदि वर्ण भी पैदा न हो सकेंगे।

विचारणीय है कि महात्मा जी के कथनानुसार जिस ब्राह्मण ने ब्राह्मण के कर्म करके अपने को सच्चा ब्राह्मण बनाया ही नहीं, फिर भी उसको जीवन-पर्यन्त ब्राह्मण ही मानना क्या प्रत्यक्ष अनौचित्य नहीं है ? क्या उसको ब्राह्मण मानना सचाई से इन्कार करना नहीं है ? क्या इस भाँति उसको अपने आवश्यक कर्त्तव्य से विमुख और निश्चित बनना नहीं है ? और क्या जो उस झूठे

ब्राह्मण को ब्राह्मण ही नहीं मानता, वह सचाई पर नहीं है? और वह इस भाँति उसके पतन से उसे सचेत करके उसको अपने पद के कर्त्तव्यों के पालनार्थ सावधान नहीं कर रहा है? भला यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वर्ण अपरिवर्तनशील भी हो और ब्राह्मण अपना कर्त्तव्य-पालन न करने से केवल नाम-मात्र का ब्राह्मण भी हो। यदि वर्ण जन्म से है तो वह किसी तरह भी मिथ्या नहीं हो सकता और यदि ब्राह्मण ब्राह्मण के कर्त्तव्य पालन न करने से नामधारी ब्राह्मण हो सकता है, जिसको महात्मा जी ने स्वयं स्वीकार किया है तो फिर मानना पड़ेगा कि वह जन्म-सिद्ध नहीं है।

महात्मा जी कहते हैं कि "मैं इस बात को नहीं मानता कि सहभोज और अन्तर्विवाह से किसी मनुष्य का जन्म-जात (पैदायशी) दर्जा अवश्य ही छिन जाता है।" यह तो महात्मा जी का अधिकार है कि किसी बात को मानें या न मानें, अशुद्ध को मानें या शुद्ध को मानें, अशुद्ध को शुद्ध मानें और शुद्ध को अशुद्ध मानें; परन्तु मैं यह अवश्य कहूँगा कि अन्तर्विवाह करनेवालों का जन्म-जात (पैदायशी) दर्जा छिन जाय या न छिन जाय, अन्तर्विवाह के होने से आपका माना हुआ आनुवंशिक-वर्ण स्थिर नहीं रह सकता। उदाहरणार्थ यदि किसी वंशानुगत-ब्राह्मण का किसी ऐसी स्त्री से विवाह होगा जो कि ब्राह्मण कुल में पैदा नहीं हुई, शूद्र या म्लेच्छ-कुल में पैदा हुई है तो उस पृथक्-पृथक् वंशानुगत-वर्णवाले दम्पति की सन्तान दोगली अवश्य होगी।

इस हेतु उनकी सन्तान को न तो जन्म-जात (पैदायशी) ब्राह्मण ही कह सकेंगे और न क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र ही; बल्कि चारों वर्णों से भिन्न उसका कोई और ही वर्ण मानना होगा। वह वर्ण क्या होगा, यह वंशानुगत वर्ण माननेवाले महात्मा जी या आपसे सहमत होनेवाले सज्जन ही बतला सकते हैं।

महात्मा जी लिखते हैं कि "मेरी सम्मति में यह बात हिन्दू-धर्म के सनातन-तत्व के विपरीत है कि एक को तो श्रेष्ठता दी जाय और दूसरे को निकृष्ट बतलाया जाय।" यदि आपका यह कहना मनुष्यता के दृष्टि-कोण से होता तब तो यह बिलकुल ठीक और वेदानुकूल था, जैसा कि नीचे लिखे वेदमंत्र से प्रकट है—

अज्येष्ठा सो अकनिष्ठा स एते संभ्रातरो वा वृधुः सौभाग्याय।

(ऋ० ५—६०—५)

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठा स उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः।

(ऋ० ५—५६—६)

इन दोनों मंत्रों में बतलाया गया है कि हे मनुष्यों! तुममें न कोई बड़ा है और न कोई छोटा और न मध्य (मँझला)। तुम परस्पर एक समान भाई हो। तुम सब मिलकर उन्नति करो; परन्तु इन वेद-मंत्रों में वर्णित समानता तो मनुष्य के जन्म-जात (पैदायशी) दृष्टि-कोण से है, चाहे कोई ब्राह्मण हो या शूद्र,

न कि उनके वर्णों की दृष्टि से; क्योंकि वैदिक-वर्ण-व्यवस्था गुणों और कर्मों के आधार पर है और गुण-कर्म भले व बुरे दोनों तरह के होते हैं, इसलिए विद्या आदि उत्तम गुणोंवाला और सदाचारी मनुष्य श्रेष्ठवर्ण का होगा और उन गुण-कर्मों से शून्य या कम उनसे अवश्य निकृष्ट होगा; परन्तु महात्मा जी तो इसके विरुद्ध वर्णों की दृष्टि ही से समानता बतला रहे हैं, जो कि आपके माने हुए जन्म-जात (पैदायशी) वर्ण के भी विरुद्ध है और इसका निषेध तो आपके ऊपर दिये हुए 'प्रताप' के दिसम्बर, सन् १९२० ई० वाले लेख ही से हो जाता है, जिसमें आपने ब्राह्मण की योनि को बढ़िया और शूद्र आदि की योनि को घटिया बतलाते हुए उनसे पैदा होनेवाले ब्राह्मण से अब्राह्मण को घटिया मान लिया है।

महात्मा जी ने अपनी वंशानुगत-वर्ण-व्यवस्था को सिद्ध करने के लिए यह दार्शनिक युक्ति भी दी है कि "यद्यपि ब्राह्मण जन्म से होते हैं, परन्तु ब्राह्मणत्व जन्म से नहीं होता।" इससे विदित होता है कि आपने ब्राह्मण और ब्राह्मणत्व को भिन्न भिन्न ठहराते हुए ब्राह्मण को जन्म-सिद्ध (पैदायशी) और ब्राह्मणत्व को पुरुषार्थ से प्राप्त करने योग्य माना है; परन्तु यह युक्ति निस्सार और मन बहलानेवाली एक पहेली से बढ़कर नहीं है; क्योंकि ब्राह्मण वर्ण है, जो कि ब्राह्मणत्व की योग्यता से प्राप्त किया जाता है या यों समझिये कि ब्राह्मणत्व ब्राह्मण का विशेषण है और इसी ब्राह्मणत्व के विशेषण ही से मनुष्य ब्राह्मण बनता

है। जिसमें ब्राह्मणत्व नहीं, वह ब्राह्मण ही नहीं है। जिस तरह इंजीनियरपन के बिना इंजीनियर और डाक्टरपन के बिना किसी को डाक्टर बतलाना केवल हास्य या विनोद है। इंजीनियरिंग और डाक्टरी की शिक्षा प्राप्त करने से पहले कोई आदमी इंजीनियर और डाक्टर नहीं बन सकता और न कहला सकता है। इसी तरह ब्राह्मणत्व के प्राप्त करने से पहले कोई मनुष्य ब्राह्मण भी नहीं बन सकता और न कहला सकता है। यदि महात्मा जी के कथनानुसार ब्राह्मणत्व को नीच से नीच मनुष्य भी प्रयत्न करने से प्राप्त कर सकता है, जो कि बिलकुल ठीक और वेदानुकूल है तो फिर ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेवाले के ब्राह्मण बनने में कोई सन्देह नहीं रहता; क्योंकि जिसमें ब्राह्मणत्व होगा, वही वास्तव में ब्राह्मण भी होगा। ऐसे पुरुष को उसके जीवन-पर्यन्त ब्राह्मण न कहना और जिसमें ब्राह्मणत्व नहीं है, उसको केवल ब्राह्मण-कुलोत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण कहते जाना, सच को झूठ और झूठ को सच बतलाना है।

मूर्ति-पूजा

(महात्मा जी) "मैं मूर्ति-पूजा में अविश्वास नहीं करता······ मैं ऊपर कह चुका हूँ कि मैं मूर्ति-पूजा में अविश्वास नहीं करता। हाँ, किसी मूर्ति को देखकर मेरे हृदय में तो किसी

प्रकार के आदर की भावना जागृत नहीं होती; परन्तु मेरा विचार है कि मूर्ति-पूजा मानव-स्वभाव का एक अंग है। हमें स्थूल-उपकरण का सहारा लेना पड़ता है। गिरजाघर में चित्त जितना एकाग्र हो जाता है, उतना दूसरी जगह क्यों नहीं होता? क्या यह मूर्ति-पूजा ही का एक भेद नहीं है? प्रतिमाओं से पूजा-आराधना में सहायता मिलती है। कोई हिन्दू प्रतिमा ही को स्वयं ईश्वर नहीं मानता। मैं मूर्ति-पूजा को पाप नहीं मानता।"— (नवजीवन, ७ अक्तूबर, सन् १६२१ ई०)।

"मैं मूर्त्ति-भंजक हूँ, इसलिए मुसलमान हूँ और यदि मुझे मालूम हो जाय कि नर्मदा नदी का एक पत्थर मेरे ध्यान को परमात्मा में लगा सकता है तो मैं उसे भी ले जाकर पूजा करूँगा। इस विचार से मैं हिन्दू हूँ।" (प्रताप, लाहौर, २ जुलाई, सन् १६२४ ई०; अहमदाबादवाले आल-इण्डिया-कांग्रेस-कमेटी के अधिवेशन में दी हुई, महात्मा जी की २ जून, सन् १६२४ ई० वाली वक्तृता में से)।

मूर्त्ति परमेश्वर नहीं है, बल्कि मूर्त्ति में परमेश्वर का आरोपण करके लोग उसमें तल्लीन होते हैं। लकड़ी का मनुष्य बनाकर मनुष्य का काम उससे नहीं ले सकते; परन्तु चित्र के द्वारा अपने पिता-माता की स्मृति बनाये रखने के लिए चित्रों का प्रयोग करके लाखों सुपुत्र और सुपुत्री क्या बुरा करते हैं। परमेश्वर सर्व-व्यापक है। नर्मदा के एक पत्थर में भी उसका आरोपण करके परमेश्वर की भक्ति हो सकती है।" (नवजीवन १६ मार्च, सन् १६२४ ई०)

"मूर्त्ति का अर्थ यदि प्रतिमा किया जाय तो मैं मूर्त्ति-भंजक हूँ। मूर्त्ति का अर्थ यदि ध्यान करने या सम्मान करने या स्मृति का साधन समझा जाय तो मैं मूर्त्ति-पूजक हूँ। मूर्त्ति का अर्थ केवल चित्र ही नहीं है। जो एक पुस्तक की भी पूजा नेत्र वन्द करके करते हैं, वे मूर्त्ति-पूजक हैं। बुद्धि के प्रयोग के विना वेदों में जो कुछ लिखा है, सबको मानना मूर्त्ति-पूजा है। जितनी बातें भ्रमयुक्त हैं, वह सब अन्ध-विश्वास हैं। सब मूर्त्ति-पूजा हैं। जो हर तरह की रीति को धर्म मानते हैं, वह मूर्त्ति-पूजक हैं, इसलिए ऐसे स्थान में मैं मूर्त्ति-भंजक हूँ। मैं शास्त्रों के प्रमाण देकर झूठ को सच, तथा निर्दयता या शत्रुता को प्रेम बनाकर नहीं देख सकता। इस हेतु और इस प्रकार मैं मूर्त्ति-भंजक हूँ। श्लेषार्थक या बनावटी श्लोक बनाकर अछूतों का तिरस्कार या त्याग और औरों की छूत मुझको कोई नहीं सिखा सकता, इसलिए मैं अपने को मूर्त्ति-भंजक मानता हूँ।" (तेज, देहली, १३ मई, सन् १६२५ ई०; नवजीवन से उद्धृत।)

"ईश्वर निश्चित रूप से एक है। वह अद्वितीय है। वह अथाह और अगोचर है। मनुष्यों में से अधिकतर लोग उसको नहीं जान सके। वह सर्वव्यापक है। आँखों के विना देखता और कानों के बिना सुनता है। वह निराकार और निरवयव है। वह अजन्मा है। उसका कोई माँ, बाप और बेटा नहीं है तो भी लोग उसे बाप, माँ, स्त्री और पुत्र बनाकर पूजते हैं। तथापि वह इनमें से कोई पदार्थ नहीं है।............वेदों में बहुत से

देवता हैं, जिनको अन्य मजहबी पुस्तकों में फ़िरिश्ते कहे गये हैं, परन्तु वेदों में केवल एक ही ईश्वर की महिमा गायी है।" (यंग इण्डिया, २९ सितम्बर, सन् १९२४ ई०; तेज, देहली, २ अक्टूबर, सन् १९२४ ई०)

(आर्य) महात्मा जी के मूर्त्ति-पूजा से सम्बन्ध रखनेवाले ऊपर के लेख बिलकुल सन्दिग्ध और परस्पर विरुद्ध हैं। इससे निश्चित रूप से यह नहीं जाना जा सकता कि आपकी मूर्त्ति-पूजा के सम्बन्ध में असली सम्मति क्या है? इसके सिवाय इनमें ऐसे शब्द भी आये हैं, जो कि सन्दिग्ध मालूम होते हैं; क्योंकि आपने जहाँ अपने अनेक पूर्व सिद्धान्तों के सम्बन्ध में साफ़ तौर पर यह लिखा है कि मैं मानता हूँ, वहाँ इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में लिखे हुए नवजीवनवाले लेख के आरंभ में लिखा है कि मैं मूर्त्ति-पूजा पर अविश्वास नहीं करता और उसकी समाप्ति इन शब्दों पर की है कि मैं मूर्त्ति-पूजा को पाप नहीं मानता, जिसका अर्थ यही समझा जा सकता है कि यद्यपि आप मूर्त्ति-पूजा पर अविश्वास नहीं करते; परन्तु पूरा विश्वास भी नहीं करते और उसे पाप नहीं मानते तो पुण्य भी नहीं मानते। इसकी पुष्टि ऊपर लिखे हुए आपके लेखों के निम्नांकित वाक्यों से भी होती है। आपने यह लिखकर कि "मैं मूर्त्ति-पूजा पर अविश्वास नहीं करता" उसके आगे ही यह भी लिख दिया है कि "किसी मूर्त्ति को देखकर मेरे हृदय में तो किसी प्रकार के आदर की भावना जागृत नहीं होती"। एक जगह आप लिखते हैं कि "मूर्त्तियों से पूजा-आराधना में सहायता मिलती है" तो दूसरी जगह यह भी लिखते

हैं कि "यदि मुझे मालूम हो जाय (मानो अभी तक आपको मालूम नहीं हुआ) कि नर्मदा नदी का एक पत्थर मेरे ध्यान को मेरे परमात्मा में एकाग्र कर सकता है तो मैं उसे ले जाकर पूजा करूँगा।"

इनसे स्पष्ट प्रकट है कि आपके विचार मूर्त्ति-पूजा के सम्बन्ध में अनिश्चित हैं। यदि निश्चित होते तो आपके विचार डाँवाँडोल न होते और आप स्पष्ट लिखते कि हम मूर्त्ति-पूजा को मानव-स्वभाव का एक अंग और ईश्वर-पूजा का सहायक मानते हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण भी यह होता कि आपके हृदय में भी मूर्त्ति को देखकर आपका सिर उसके सम्मानार्थ झुक जाता; परन्तु विस्मय की बात है मूर्त्ति-पूजा को मानव-प्रकृति और ईश्वर-पूजा का सहायक बतलाते हुए भी खुले शब्दों में आप यह प्रकट करते हैं कि मेरे हृदय में तो मूर्त्ति के लिए किसी प्रकार की भी प्रतिष्ठा का भाव पैदा नहीं होता और न स्वयं मूर्त्ति-पूजा करते हैं। क्या आप मनुष्य का स्वभाव नहीं रखते अथवा मनुष्य-श्रेणी से आप ऊपर उठ गये हैं और यदि ईश्वर-पूजा में मूर्त्ति से सहायता मिलती है तो वह किस प्रकार की सहायता है? सम्भवतः आपका आशय मन के एकाग्र करने में सहायता से हो सकता है, जैसा कि आपके गिरजाघर-वाले उदाहरण से प्रकट है। ऐसी अवस्था में क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आपकी यह युक्ति मूर्त्ति-पूजा के एक वकील की हैसियत में केवल मूर्त्ति-पूजा के मंडन और मूर्त्ति-पूजकों की सान्त्वना के लिए ही है अथवा आपका भी उस पर पूरा विश्वास है। यदि सचमुच आपका

हार्दिक विश्वास भी ऐसा ही है तो फिर ईश्वराराधन की सहायक मूर्त्ति को देखकर आपके हृदय में उसके लिए सम्मान का भाव क्यों नहीं पैदा होता ? और यदि आपके कथनानुसार हिन्दू-मूर्त्ति को ईश्वर नहीं मानते, (हालांकि यह ठीक नहीं है) और मूर्त्ति केवल मन की एकाग्रता के द्वारा ईश्वराराधन में सहायक भी है तो फिर मूर्त्ति-मान लक्ष्य में प्रति दिन मन लगाकर चाँदमारी करनेवाले सिपाही या मूर्त्तिमान् विषय और भोग के ध्यान में दिन-रात निमग्न रहनेवाले विषयी मनुष्य क्यों एकाग्रचित्त होकर योगी नहीं बन जाते। यदि यह कहा जाय कि सिपाही लक्ष्य और विषयी विषय में ईश्वर नहीं मानते, इस कारण वह योगी नहीं बन सकते और मूर्त्ति-पूजक मूर्त्ति में ईश्वर का आह्वान (महात्मा जी के शब्दों में आरोपण) करके उसकी पूजा करते हैं तो मैं कहूँगा कि यह भी बिलकुल अशुद्ध है; क्योंकि जो ईश्वर सर्व-व्यापक है, उसका आह्वान या आना-जाना बन ही नहीं सकता और यदि दुर्जन संतोष न्याय से मूर्त्ति में ईश्वर का आना मान भी लिया जाय तो फिर प्रश्न होगा कि ध्यान बाहर की प्राकृतिक जड़-मूर्त्ति का किया जाता है या उसके भीतर आह्वान किए हुए ईश्वर का ? यदि बाहर की मूर्त्ति का तो वह ईश्वर का ध्यान न हुआ और यदि भीतर के व्यापक ईश्वर का ध्यान किया जाता है तो मूर्त्ति की आवश्यकता ही न रही; क्योंकि मूर्त्ति के बिना भी ऐसा ही कर सकते हैं। वास्तव में ईश्वर का ध्यान अपनी मानसिक शुद्धि और ईश्वर का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के

लिए ही किया जाता है; परन्तु जड़-मूर्त्ति (जो कि शुद्धि करने वाले ज्ञान आदि गुणों से शून्य है) के ध्यान से न तो मन की शुद्धि होती है और न ईश्वर का शुद्ध ज्ञान ही होता है; क्योंकि यह दोनों परस्पर विरुद्ध हैं।

यह भी कहा जाता है कि साकार मूर्त्ति पर ध्यान लगाने का अभ्यास करने से मन में स्थिर होने का स्वभाव हो जाता है, इसलिए भविष्य से निराकार ईश्वर के ध्यान में भी उसको लगाया जा सकता है। यह बात इसलिए ठीक नहीं है कि साकार पदार्थ पर किये हुए ध्यान का अभ्यास निराकार का ध्यान करने में काम नहीं दे सकता है। यदि दे सकता है तो साकार विषय में लीन मनुष्य का ध्यान भी ईश्वर में लगना चाहिये, जिसको कोई भी अनुभवी पुरुष नहीं मान सकता। इससे भी बढ़कर इसके विरुद्ध क्रियात्मक प्रमाण यह है कि कोई भी बुद्धिमान् योगाभ्यासी सज्जन किसी जड़-मूर्त्ति का चिन्तन व मनन नहीं करता; इसलिए ईश्वर के गुणों ही का ध्यान तथा मनन जिज्ञासु को करना चाहिये। इसीसे उसका मन शुद्ध होगा; क्योंकि अन्तःकरण जिस प्रकार का मनन व चिन्तन करता है वैसा ही बन जाता है। यही कारण है कि सर्व-शक्तिमान् ईश्वर के पवित्र गुणों का मनन तथा ध्यान करने से जिज्ञासु को शक्ति और पवित्रता प्राप्त होती है और उसका दृढ़ अभ्यासी (ब्रह्म-चिन्तन में निमग्न) होने पर वह ईश्वर का निश्चित ज्ञान और आत्मा से उसका प्रत्यक्ष (Realization) भी कर सकता है।

—

महात्मा जी ने मूर्त्ति-पूजा को मानव-स्वभाव का एक अंश बतलाया है। यदि वास्तव में ऐसा ही होता तो प्रत्येक व्यक्ति की उसमें स्वाभाविक प्रवृत्ति होती और मूर्त्ति-भंजकों की सत्ता ही दिखाई न देती; परन्तु यह सच नहीं है। यदि मूर्त्ति-पूजा को मानव-स्वभाव का अङ्ग इन अर्थों में माना जाय कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति प्राकृतिक वस्तुओं (मूर्त्तिमान् पदार्थों) की ओर है तब तो इसका कुछ अर्थ हो भी सकता है; क्योंकि मनुष्य की इन्द्रियों के प्राकृतिक होने से उनकी प्रवृत्ति साधारणतः प्राकृतिक वस्तुओं की ओर रहती है; परन्तु यह सिद्धान्त भी सार्वभौम नहीं हो सकता; क्योंकि अध्यात्म-विद्या के प्रेमी महात्माओं पर यह लागू नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि वे इन्द्रियों के अधीन नहीं होते; इसलिए वे प्राकृतिक वस्तुओं और गढ़ी हुई मूर्त्तियों के भी वैसे ही पुजारी नहीं होते, जैसे कि भ्रमर बनावटी फूलों के प्रेमी नहीं होते; अतः इन अर्थों में भी मूर्त्ति-पूजा मानव-स्वभाव का अङ्ग नहीं हो सकती।

कुछ लोग ईश्वर को सर्व-शक्तिमान् बतलाते हुए उसका शरीर धारण करना भी सम्भव मानते हैं। यह भी उनकी भूल है; क्योंकि जिस तरह ईश्वर अपने समान अनादि तथा अनन्त ईश्वर नहीं बना सकता, अपना नाश नहीं कर सकता, उसी तरह वह शरीर-धारी भी नहीं हो सकता। शरीर प्रकृति का होता है और प्रकृति ईश्वर की अपेक्षा अत्यन्त संकुचित है; इसलिए वह असीम ईश्वर के लिए शरीर उपस्थित ही नहीं कर सकती।

उसको शरीर धारण करने की आवश्यकता भी नहीं है; क्योंकि वह अपने सम्पूर्ण कार्यों को विना शरीर धारण किये भी कर सकता है। वह शरीर की अपेक्षा नहीं रखता और यदि ईश्वर के एक अंश का शरीर माना जाय तो ईश्वर का अंश भी नहीं हो सकता। खंड या विभाग उसका होता है, जो कि खंडों (विभागों) से मिलकर बना हो; परन्तु ईश्वर अनादि, अनन्त, अजन्मा और एक अखंड (निरवयव) सत्ता है। वह विभागों (अंशों) से मिलकर नहीं बना। यदि विभागों (खंडों) से मिलकर बनता तो सदा एक समान रहनेवाला न होता।

महात्मा जी ने मूर्त्ति-पूजा से चित्त के एकाग्र होने के सम्बन्ध में, जो गिरजाघर का उदाहरण दिया है; वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि यदि किसी धर्म-मन्दिर में बैठने से चित्त एकाग्र हो जाता है तो मूर्त्ति-पूजा की आवश्यकता ही नहीं रहती; परन्तु मूर्त्ति-पूजक केवल मन्दिर ही पर सन्तोष नहीं करते, वरन् मन्दिर में बैठे हुए भी अपने सामने कोई विशेष मूर्त्ति रखते हैं। अब यह समझ में नहीं आता कि महात्मा जी गिरजाघर के मूर्त्तिमान् भवन और उसे अलंकृत करनेवाली सामग्री को चित्त की एकाग्रता का हेतु मानते हैं या किसी अन्य वस्तु को? यदि भवन और सामग्री चित्त की एकाग्रता का हेतु है तो अन्य स्थान में भी यह वस्तुएँ गिरजाघर से उत्तम आकार-प्रकार में विद्यमान् हैं। इसमें गिरजाघर की कोई विशेषता नहीं है। अनुभवी आत्मदर्शी ऋषियों ने तो मनुष्य की रचनाओं या मन्दिरों की चहारदीवारी में नहीं, वरन् पवित्र नदी के तट पर, ध्वनि व कोलाहल

से शून्य एकान्त स्थान ही में चित्त का एकाग्र होना माना है, जिसको बुद्धि भी स्वीकार करती है; इसलिए यह तो असत्य है कि मूर्त्तिमान् भवन में चित्त की एकाग्रता होती है। हाँ, यह कुछ उचित हो सकता है कि धर्म-मन्दिर के सम्बन्ध में जो पवित्र संस्कार पहले ही से हृदय में विद्यमान् रहते हैं, मन्दिर में जाने से वे जाग्रत होकर चित्त की शान्ति का हेतु बन सकते हैं; परन्तु उनका मूर्त्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि संस्कार भी अमूर्त्त ही होते हैं।

आपने मूर्त्ति-पूजा की सिद्धि के लिए एक यह भी उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार माता-पिता की मूर्त्ति (चित्र) रखने से उनकी स्मृति बनी रहती है, उसी प्रकार मूर्त्ति से भी ईश्वर का स्मरण हो सकता है। यह इस कारण मिथ्या है कि माँ-बाप मूर्त्तिवाले थे और उनके चित्र बन सकते हैं और उससे उनका स्मरण हो सकता है; परन्तु ईश्वर अमूर्त्त है, इस कारण उसकी मूर्त्ति हो ही नहीं सकती। केवल नर्मदा के पत्थर में ईश्वर को कल्पित करना उसका अपमान करना है; क्योंकि वह सृष्टि के एक-एक कण, एक-एक पत्ते, एक-एक पुष्प और पंखुड़ी में विद्यमान् है। क्या इनको देखकर उसका स्मरण नहीं कर सकते और इन वस्तुओं की सुन्दरता को देखकर बनानेवाले के सम्मानार्थ हृदय तथा मस्तिष्क नहीं झुकता।

इसके अतिरिक्त महात्माजी ने मूर्त्ति का अर्थ आकृति के सिवाय, ध्यान, सम्मान और स्मृति का साधन भी समझा है

और भ्रम, अन्ध-विश्वास तथा प्रथा और रीति को धर्म मान लेने को भी बिना कारण के मूर्त्ति-पूजा की सूची में रखने की चेष्टा की है। यह आपकी खींचातानी है और इसका सम्बन्ध मूर्त्ति-पूजा और उसके उद्देश्य मन की शुद्धि आदि से कुछ भी नहीं है; क्योंकि कोई मूर्त्ति-पूजक और मूर्त्ति-पूजा का विरोधी न मूर्त्ति का यह अर्थ मानता है और न भ्रम आदि को धर्म मान लेने ही को मूर्त्ति-पूजा समझता है। 'मूर्त्ति-पूजा का ध्यान', 'मूर्त्ति का सम्मान' और 'मूर्त्ति स्मृति का साधन है' ये शब्द तो सार्थक हो सकते हैं; परन्तु मूर्त्ति का अर्थ ध्यान, सम्मान और स्मृति का साधन कदापि नहीं हो सकता। भ्रम और अन्धविश्वास तो मूर्त्तिमान् हैं ही नहीं, इसलिए इनका मानना भी मूर्त्ति-पूजा नहीं कहला सकता। वेदों को बिना समझे-बूझे मानना भी अन्ध-विश्वास के अन्तर्गत है। पुस्तक के सामने झुकना भी पुस्तक की पूजा है। हाँ, पुस्तक को यदि मूर्त्तिमान् समझकर उसकी पूजा करनेवालों को मूर्त्ति-पूजक कहा जाय तो इसका कुछ अर्थ हो सकता है; परन्तु यह भी मूर्त्ति-पूजा में सम्मिलित नहीं है। क्योंकि मूर्त्ति-पूजा एक पारिभाषिक शब्द है, जो कि धार्मिक साहित्य में ईश्वर की मूर्त्ति की पूजा ही के लिए प्रयुक्त होता है। वैसे यौगिक अर्थों में तो माता, पिता, आचार्य और महापुरुषों की सेवा-सत्कार करने को भी मूर्त्ति पूजा कह सकते हैं और उनकी प्रतिकृतियों को उनकी स्मृति के निमित्त घर में रखना भी किसी सीमा तक मूर्त्ति-पूजा कहला सकता है; परन्तु इस मूर्त्ति-पूजा का निषेध भी नहीं है,

वरन् इसे प्रत्येक सभ्य मनुष्य अपना कर्त्तव्य समझता है; क्योंकि यह सब मूर्त्तिमान् हैं और इनकी मूर्त्तियाँ बन सकती हैं। निषेध तो केवल ईश्वर की मूर्त्ति की पूजा का है, जो कि अमूर्त्त है और जिसकी मूर्त्ति बन ही नहीं सकती। इस हेतु भ्रम और अन्धविश्वास आदि को मूर्त्ति-पूजा की सूची में रखना अनुचित खींचातानी है। इससे वह मूर्त्ति-पूजा सिद्ध नहीं हो सकती, जिसको अन्तःकरण की शुद्धि और ईश्वर-प्राप्ति का साधन समझा जाता है। वास्तव में मूर्त्ति-पूजा का प्रयोजन या रहस्य इन शब्दों में बद्ध है कि जिस प्रकार तत्त्व से अनभिज्ञ साधारण लोग सांसारिक वस्तुओं से आनन्द-प्राप्ति की आशा से उन्हीं के पुजारी बन जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म-विद्या से रहित भक्त भी प्राकृतिक जड़-मूर्त्तियों से ईश्वर-प्राप्ति का मनोरथ ऐसा ही बाँध लेते हैं जैसे कि प्रकृति (जड़) के पूजक जड़-पदार्थों से यथार्थ सुख या आत्मिक आनन्द की प्राप्ति मान बैठते हैं।

मृतक-श्राद्ध

(महात्मा जी)—"मृत्यु होने पर जो भोज दिया जाता है, उसे मैंने जङ्गली माना है।" इस विषय पर एक सज्जन इस प्रकार अपने विचार प्रकट करते हैं—आप सनातनी हिन्दू होने का दावा करते हैं। आप गीता जी या रामायण जी के पुजारी हैं, फिर भी यह समझ में नहीं आता कि आप मृत्यु के बाद

जो भोजन आदि दिया जाता है; उसे जंगली क्यों कहते हैं। शास्त्र तो कहते हैं कि मरने के बाद ब्राह्मणों को खिलाने से प्रेत (मृतात्मा) की सद्गति होती है, उन्हें सान्त्वना मिलती है। इस बात में हम किसको सच मानें ?"

"मैं कई बार लिख चुका हूँ कि जो संस्कृत में लिख डाला गया है, वह सब धर्म-वाक्य ही नहीं माना जा सकता। उसी प्रकार धर्म-शास्त्र के नाम पर चलनेवाले मनुस्मृति आदि प्रमाण-ग्रन्थों में जो आज हम पढ़ते हैं, वह सब मूल-कर्त्ता की कृति है या हो तो वही आज अक्षरशः प्रमाणरूप हैं ऐसा नहीं मानना चाहिए। मैं स्वयं तो बिलकुल नहीं मानता। एक सिद्धान्त सनातन है। इन सिद्धान्तों को माननेवाला सनातनी कहा जायगा; परन्तु सिद्धान्तों के ऊपर से जो जो आचार जिस जिस युग के लिए गढ़े गये हों, वे सब अन्य युग के लिए भी सच्चे ही होने चाहिए", ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। स्थल, काल, संयोगों को लेकर आचार बदला करते हैं। प्राचीन काल में मरण के बाद दिये जानेवाले भोज में चाहे कुछ अर्थ भले ही हो, वर्त्तमान काल में हमारी बुद्धि उसे नहीं समझ सकती। जहाँ विषय-बुद्धि का प्रयोग किया जा सकता है, वहाँ केवल श्राद्ध से हम नहीं चल सकते। जो बातें बुद्धि से परे हैं, उन्हीं के लिए श्रद्धा का उपयोग है। इस विषय में तो हम बुद्धि से देख सकते हैं कि मरण के पीछे भोज देने में धर्म

नहीं.........ऐसे भोजन से होनेवाली हानियाँ हमें स्पष्ट दिखाई देती हैं। ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण के सामने संस्कृत श्लोक क्या काम दे सकते हैं। मरण के पीछे भोज को बुद्धि भी स्वीकार नहीं करती, हृदय भी ग्रहण नहीं करता। ऐसे भोजों को जंगली मानने के लिए इससे सबल कारण मेरे पास नहीं है और किसी के पास से आशा भी नहीं रखी जा सकती; परन्तु विश्वास सब बुरा ही है, ऐसा माननेवाले और उसे अच्छा माननेवाले दोनों भूल करते हैं। जो बातें उस पर नहीं चढ़ सकतीं, उनका सर्वथा त्याग करना चाहिए। (नवजीवन, २४ जून, सन् १९२६ ई०)

(आर्य) महात्मा जी ने मृतक-श्राद्ध को जो जंगलीपन से सम्बद्ध किया है वह बहुत ही उचित है। इस काल में भी ऐसी बुद्धि-विरुद्ध बातें मानते और करते जाना अपनी सरलता का परिचय देना है। चूँकि महात्मा जी का यह मन्तव्य बिलकुल वेदानुकूल है, इस हेतु इस पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं मालूम होती। केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वेद मृतक-श्राद्ध का समर्थन कदापि नहीं करते और न इस बात का कोई प्रमाण ही है कि यह किसी काल में लाभप्रद था या इसके कुछ अर्थ थे।

गो-रक्षा

(महात्मा जी) मैं गोरक्षा को मानता हूँ; परन्तु वर्त्तमान प्रचलित अर्थ से बहुत ही व्यापक अर्थ में।.................तथापि

हिन्दू-धर्म का मध्यवर्ती या प्रधान अंग है गो-रक्षा। मेरी दृष्टि में तो गो-रक्षा मनुष्य जाति के विकास में एक अद्भुत चमत्कार-पूर्ण घटना है।.........मुझे तो गाय मानव-जाति के नीचे की सम्पूर्ण सृष्टि दिखाई देती है।.........मुझे तो यह स्पष्ट दिखाई देता है कि गाय ही अकेली क्यों देवता मानी गई है। हिन्दुस्तान में गाय से बढ़कर मनुष्य का साथी दूसरा कोई नहीं। उसने बहुतेरी वस्तुएँ हमें दी हैं............इस नम्र प्राणी में करुणा ही करुणा दिखाई देती है। भारत के लाखों मनुष्यों की वह माता है। गो-रक्षा का अर्थ है, ईश्वर की सम्पूर्ण मूक सृष्टि की रक्षा।...............गो-रक्षा संसार को हिन्दू-धर्म का दिया हुआ प्रसाद है और तब तक हिन्दू-धर्म जीवित रहेगा, जब तक हिन्दू लोग गो-रक्षा करने के लिये मौजूद हैं... ....गो के प्रति जो मेरी श्रद्धा है, उसमें मैं किसी से हारने-वाला नहीं। मैंने खिलाफ़त के कार्य को जो अपना कार्य बनाया है, उसका कारण यही है कि उसकी रक्षा के द्वारा मुझे गाय की पूरी तरह रक्षा होने की सम्भावना दिखाई देती है। मैं मुसलमान भाइयों से यह नहीं कहता कि मेरी इस सेवा के कारण वे गाय की रक्षा करें। मैं उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा से नित्य यह प्रार्थना करता हूँ कि जिस कार्य को मैंने न्याय समझा है, उसके निमित्त की गई मेरी सेवा इतनी प्रसन्नता का कारण हो कि जिससे तू मुसलमानों के हृदयों को बदल दे। उन्हें अपने हिन्दू-भाइयों के प्रति दयाभाव

से परिपूर्ण कर दे और उनके द्वारा उस प्राणी की रक्षा कर, जिसे हिन्दू लोग अपने प्राणों की तरह प्रिय मानते हैं।"—(नवजीवन, ७ अक्तूबर, सन् १६२१ ई०)

"मैं कट्टर सनातनधर्मी हूँ; परन्तु एक मुसलमान को अधिकार दूँगा कि यदि उसका विश्वास है तो निस्सन्देह गाय का मांस खाय; परन्तु स्वयं उपयोग न करूँगा। यद्यपि मैं व्यक्तिगत रूप से गाय की पूजा करता हूँ; परन्तु मुसलमानों के लिये मेरे हृदय में सहिष्णुता विद्यमान है। और अपने व उनके बीच में बड़ा भारी समुद्र होने पर भी उससे एकता करने का प्रयत्न करूँगा। उसका मज़हब उसके लिये गो-वध को उचित ठहराता है। मेरा मजहब मेरे लिए गो-वध को पाप ठहराता है। यदि क़ुरान किसी मुसलमान को गो-वध की शिक्षा देता है तो मैं कौन हूँ, जो उसे ज़बरदस्ती मना करूँ। अगर मैं ऐसा करूँगा तो अपने मज़हब के खंडन का कारण होऊँगा।—(प्रताप, लाहौर, २६ दिसम्बर, सन् १६२४ ई०)

"मैंने मुसलमानों के हाथ में अपनी गर्दन क्यों दे दी है? गो-रक्षा के लिए। मुसलमानों से मैं गाय की रक्षा कराना चाहता हूँ। इसका अर्थ यह है कि मैं उन पर प्रभाव डाल कर गौओं की रक्षा कराना चाहता हूँ।.........मेरे निकट तो गो-हत्या और मनुष्य-हत्या दोनों एक वस्तु है। इन दोनों को

बन्द करने का यही उपाय है कि हम अहिंसा का प्रचार करें और गो-हत्या करनेवाले को प्रेम से अपना लें। प्रेम की परीक्षा तपश्चर्या से होती है। मैं मुसलमानों के निमित्त अत्यन्त कष्ट सहने के लिए जो तैयार हो गया, उसका कारण स्वराज्य तो था ही और यह तो साधारण बात थी; परन्तु इससे गाय की रक्षा करना भी था और यह बड़ी बात थी। ....मैं मुसलमानों को यह समझाने की शक्ति प्राप्त करना चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान में हिन्दुओं के साथ रहकर गो-हत्या करना हिन्दुओं के वध के तुल्य है; इसलिए मैं आज मुसलमानों का साथ दे रहा हूँ कि उन्हें दुःख न पहुँचे। उनकी ख़ुशामद करता हूँ और यह इस हेतु कि उनमें ईमान का भाव उत्पन्न हो"—(नवजीवन, २६ जनवरी, सन् १६२५ ई०; प्रताप, लाहौर, ११ फ़र्वरी, सन् १६२५ ई०; यंग इण्डिया से उद्धृत)

(आर्य) गाय की रक्षा के सम्बन्ध में महात्मा जी के हृदय से निकले हुए शब्दों पर किसी टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। आपका गो-रक्षा-सम्बन्धी प्रेम आपके एक-एक शब्द से भली भाँति प्रकट हो रहा है सम्पूर्ण आर्य (हिन्दू) जगत् इस विषय में आपसे सहमत है और यदि केवल गाय की भक्ति ही सनातनी हिन्दू होने की कसौटी है तो इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि आपका सनातनी हिन्दू होने का दावा बिलकुल ठीक है, केवल बात यह है कि गो-रक्षा को जिन

व्यापक अर्थों में मानना आपने स्वीकार किया है, वे अर्थ इसके विरुद्ध न हों।

महात्माजी के गो-रक्षा-सम्बन्धी प्रेम और प्रयत्नों की प्रशंसा करते हुए कोई भी सत्यवादी और न्याय-प्रिय मनुष्य आपकी सचाई तथा न्याय के विरुद्ध इस बात को ठीक मानने के लिए तैयार नहीं है कि "मैं एक मुसलमान को अधिकार दूँगा कि यदि उसका विश्वास है तो निस्सन्देह गाय का मांस खाय।" क्योंकि वह किसी भी मनुष्य का किसी भी छोटे से छोटे और विशेष कर गाय-सदृश मानव-जीवन के लिए अत्यन्य लाभदायक पशु को वध करके उसके शरीर से अपना पेट भरने का केवल इस आधार पर कोई अधिकार नहीं समझता कि उसका मजहब उसको उचित बतलाता है; अथवा उसका निजी विश्वास ही ऐसा है। जब स्वयं महात्मा जी कई बार ऐसा लिख चुके हैं कि शास्त्र की किसी ऐसी बात को ठीक नहीं माना जा सकता, जो कि सचाई और तर्क-विरुद्ध हो तब आपके इसी सिद्धान्त के अनुसार यह मानना पड़ता है कि जो मजहब निर्बल पशुओं को मारकर उनकी लाशों को खाने की आज्ञा देता है, वह इस बात में कदापि न्याय-युक्त नहीं है। जो विश्वास या ईमान पशुओं का खाना उचित ठहराता है, वह अन्ध-विश्वास है। इसलिए आपका मुसलमानों के गो-भक्षण के अधिकार को स्वीकार करना धर्म, न्याय और अहिंसा के भी विरुद्ध है। विशेष कर उस दशा में, जिसमें आप भी मांसाहार और पशुओं का बलिदान अनुचित ठहराते हैं। महात्मा जी लिखते हैं:

कि "यदि क़ुरान किसी मुसलमान को गो-वध की शिक्षा देता है तो मैं कौन हूँ, जो उसे जबरदस्ती मना करूँ।" यह बिलकुल ठीक है और मैं इसको स्वीकार करता हूँ कि गो-वध बन्द करने के लिए जबरदस्ती करना कदापि उचित नहीं है और न जबरदस्ती गो-वध बन्द ही किया जा सकता है; परन्तु ऐसा मानने से हम पर यह आवश्यक नहीं होता कि हम उनके अनुचित मजहबी आज्ञा के कारण उनके गो-वध के अधिकार को भी स्वीकार कर लें। हमारे लिये तो उचित यह है कि हम देशवासी और मनुष्यता के नाते अपने गो-भक्षक भाइयों से भी बड़े प्रेम और युक्ति से गो-वध के बन्द करने के लिए प्रार्थना करें। ऐसा करना ही हमारा कर्त्तव्य है।

आश्चर्य तो इस बात पर है कि जब कट्टर हिन्दुओं की ओर से छूतछात को उचित या विहित ठहराने के लिए शास्त्रों के प्रमाण दिए जाते हैं तब महात्माजी यह कहकर उनको खण्डित कर देते हैं कि "बिना सन्देह मैं उन सब प्रमाणों को, यदि वे मेरी बुद्धि और आत्मा की पुकार के विरुद्ध होंगे, खण्डित कर दूँगा" परन्तु जब मुसलमानों के सम्बन्ध में ऐसा ही कोई अवसर आता है तब आप उसकी बिलकुल उपेक्षा करते हैं और क़ुरान की अनुचित आज्ञा और मुसलमानों के मिथ्या विश्वास के सामने भी झुक जाते हैं। आप क़ुरान के भीतर अशुद्धियों और मुसलमानों में भ्रम-पूर्ण बातों का होना भी मानते हैं और सुधारक होने का भी दावा करते हैं। यदि महात्मा जी यह कहें कि "हमने केवल मजहबी-सहिष्णुता

के आधार पर ही मुसलमानों के गो-वध के अधिकार को माना है" तो मैं नम्रता-पूर्वक निवेदन करूँगा कि आपकी यह कार्य-शैली केवल गो-वध के हक़ को ही मानने तक समाप्त न हो जायगी, वरन् आपको, अपनी इस सीमा से बढ़ी हुई सहिष्णुता की धुन में, मुसलमानों के उन सब अधिकारों को भी मानना पड़ेगा, जो स्वतन्त्रता, न्याय, सत्यता और सहिष्णुता के विरुद्ध, .क़ुरान या इस्लाम में है, उदाहरणार्थ उनमें एक "मुर्तिद (जो इस्लाम को छोड़-कर किसी दूसरे मज़हब में चला जावे) के वध" को ही उपस्थित किया जा सकता है, जिसको हिन्दुस्तान के प्रतिष्ठित मुसलमान विद्वानों ने .क़ुरान या शरा के अनुसार उचित बतलाया है। ऐसी अवस्था में क्या आप मुसलमानों के इस मनुष्य-हत्या तथा मनुष्यों की स्वतन्त्रता को नष्ट करनेवाले इस्लामी हक़ (वास्तव में मनुष्यता के विरुद्ध अपराध) को भी स्वीकार करेंगे? यदि स्वीकार करेंगे तो आपको उन सम्पूर्ण अन्यायों और अपकारों के करने के अधिकार को भी स्वीकार करना पड़ेगा, जिनको कोई भी मज़हब उचित ठहराता हो, अथवा जो मज़हब के नाम पर किये जाते हों। यदि स्वीकार नहीं करेंगे तो फिर आपने मुसलमानों के गो-वध के हक़ को कैसे मान लिया? आप एक को स्वीकार और दूसरे के मानने से इन्कार भी नहीं कर सकते; क्योंकि आपका गो-वध के हक़ को मान लेना सहिष्णुता के आधार पर है, न कि गो-वध के उचित या अनुचित होने के आधार पर। इस हेतु यदि एक को स्वीकार करेंगे तो दूसरे कोभी मानना ही पड़ेगा।

साथ ही आपने लिखा है कि आप गो-हत्या और मनुष्य-हत्या को एक समान समझते हैं। इस दशा में तो आपने मुसलमानों के गो-हत्या के हक़ को स्वीकार करके अज्ञातरूप से मनुष्य-हत्या को भी स्वीकार कर लिया है। यदि आप ध्यान-पूर्वक देखेंगे तो विदित होगा कि आपने अपनी इस कार्य-शैली से मज़हब के नाम पर अन्याय, अपकार अथवा अनर्थ करनेवालों का साहस बढ़ाकर एक प्रकार से मज़हब की आड़ में अपकार करनेवालों की अनजान में सहायता की है। आप इसे अनुभव करें या न करें, परन्तु वास्तव में सत्य यह है कि आपका मुसलमानों के गो-हत्या के हक़ को मान लेना सहिष्णुता नहीं; किन्तु क़ुरान या मुसलमानों के अन्याय और दोषों के सामने झुकना है। महात्मा जी की इस कार्य-प्रणाली को जानकर पाठकों के हृदय में यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि महात्मा जी ऐसे प्रभावशाली व्यक्ति का मुसलमानों की ओर इतना झुकाव क्यों है? इसका उत्तर न तो कोई पहेली है न कोई गुप्त-रहस्य। इसके विचारने तथा खोजने की भी जरूरत नहीं है, क्योंकि स्वयं महात्मा जी ने ही बड़ी सरलता से खुले शब्दों में इसका प्रयोजन प्रकट कर दिया है। आप कहते हैं कि मैं जो खिलाफ़त के कार्य में सहायता देने, मुसलमानों के लिए अत्यन्त कष्ट उठाने, और उनकी ख़ुशामद करने के लिए तैयार हो गया हूँ, इसका प्रयोजन मुसलमानों के हृदयों को जीत-कर अथवा उनमें ईमान का भाव जाग्रत करके उनसे हिन्दुओं के साथ प्रेम, गो-रक्षा और स्वराज्य-प्राप्ति में

सहायता कराना है। इस सत्य, सरल और स्पष्ट उत्तर को पढ़-कर किसी के हृदय में तो इस बात का सन्देह करने का स्थान नहीं रह सकता कि महात्मा जी ने मुसलमानों के लिये पक्षपात और उनकी .खुशामद क्यों की। हाँ, इस बात का खेद अवश्य रहेगा कि आप यह सब कुछ करते हुए भी अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सके; क्योंकि ख़िलाफ़त की समस्या हल होते ही सिवाय कुछ प्रतिष्ठित तथा सम्मानित मुसलमान व्यक्तियों के सर्वसाधारण मुसलमानों ने अपनी गति बदल दी और सरकार का साथ देकर अथवा आश्रय लेकर कांग्रेस का विरोध आरंभ कर दिया। वे ख़िलाफ़त में सहायता देनेवाले हिन्दुओं से प्रेम करने के बदले उन पर यत्र-तत्र आक्रमण और पहले से भी अधिक गो-हत्या और गाय का बलिदान करने लगे। इन सच्ची घटनाओं को सामने रखते हुए यह कहना कदापि अनुचित न होगा कि महात्मा जी अपने वात्सल्य, पक्षपात और .खुशामद के व्यवहार से अथवा यों कहिये कि अपनी इस्लाम तथा मुसलमानों के सम्बन्ध में की हुई सेवाओं से कुछ भी प्रभाव न डाल सके। इसका कारण सिवाय इसके और क्या हो सकता है कि महात्मा जी ने जहाँ इस्लाम और इस्लाम से प्रभावित मुसलमानों को समझने में भूल की थी, वहाँ आपने अपने कार्य की शक्ति के प्रभाव का अनुमान भी ठीक ठीक नहीं लगाया था। अथवा आपकी यह कार्य-शैली ही ठीक न थी, जिसके कारण आपको असफल होकर एकान्त-वास करना पड़ा।

तीर्थ-स्नान

महात्मा जी अपने आत्मचरित में, सन् १९१५ ई० के कुम्भ की आँखों-देखी घटनाओं को लिखते हुए कहते हैं—

(महात्मा जी) "अन्त में स्नान का दिन आ पहुँचा। यह परीक्षा का दिन था। मैं एक यात्री के भवा लेकर हरिद्वार नहीं गया था। मैंने स्वयं तो पवित्रता की खोज के लिए तीर्थ-स्थानों पर जाने का कभी विचार नहीं किया; परन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि सत्रह लाख मनुष्य, जो वहाँ (कुम्भ-मेला पर) गये थे, वे सबके सब पाखंडी अथवा केवल दर्शक ही थे। मुझे इस बात का विश्वास है कि उनमें से अगणित लोग पुण्य प्राप्त करने और पाप धोने के विचार अथवा विश्वास से गये थे। मेरे लिए यह कहना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है कि इस प्रकार के विश्वास से कहाँ तक आत्मिक उन्नति होती है। इस हेतु मैं उन दिनों रात-रात भर गम्भीर विचार और ध्यान में मग्न रहता था। इस चहुँ ओर फैले हुए पाखंड में ऐसे सच्चे हृदय के मनुष्य होंगे, जो कि (अपने हृदय की शुद्धता के कारण) ईश्वर के सामने निर्दोष रहेंगे। (यंग इण्डिया, ३१ मई, सन् १९२८ ई०; तेज, देहली, ७ जून, सन् १९२८ ई०)

(आर्य) (१) महात्मा जी का यह विश्वास भी वैसा ही अनिश्चित है जैसे कि अन्य, बल्कि यह दूसरों से भी कुछ अधिक; क्योंकि इसमें आपने अनिश्चित होने को स्वयं स्वीकार किया है। यद्यपि

आपने यह भी लिखा है कि मैं स्वयं तो पवित्रता प्राप्त करने के लिए तीर्थों पर कभी नहीं गया, जिसका अर्थ यही हो सकता है कि आप तीर्थ-स्नान से पवित्रता की प्राप्ति नहीं मानते; परन्तु इसके साथ ही आपने यह लिखकर अपने इस विश्वास को भी सन्दिग्ध बना दिया है कि मेरे लिए यह कहना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है कि गंगा-स्नान से कहाँ तक आत्मिक उन्नति हो सकती है। यदि महात्मा जी निश्चित रूप से गंगा-स्नान को पवित्रता का कारण न समझते होते तो फिर आपको अपने इसी विश्वास से यह पूरा निश्चय हो जाना चाहिए था कि गंगा-स्नान से पाप-निवृत्ति और पवित्रता का मानना एक अन्ध-विश्वास है, जो कि कभी आत्मोन्नति का कारण नहीं हो सकता। यदि गंगा-स्नान को पवित्रता का हेतु माना जाय तो फिर उससे आत्मिक उन्नति का होना भी मानना पड़ेगा; क्योंकि पवित्रता आत्मोन्नति का हेतु है। महात्मा जी के कथनानुसार यह बिलकुल ठीक है कि गंगा-स्नान के लिए एकत्र हुए सम्पूर्ण यात्री पाखंडी अथवा दर्शक नहीं हो सकते और उनमें से बहुतों को गंगा-स्नान से पाप दूर होने का विश्वास रहता है; परन्तु यह ठीक नहीं है कि उनका यह विश्वास पाप दूर करने अथवा आत्मिक उन्नति करने का भी कारण होता है, क्योंकि आत्मोन्नति का हेतु ज्ञान-पूर्वक विश्वास, उससे उत्पन्न होनेवाली श्रद्धा (सचाई का ग्रहण करना) और उसके अनुसार किए हुए कर्म ही हो सकते हैं, न कि अज्ञान-जन्य अर्थात् मूर्खता से उत्पन्न होनेवाले विश्वास, श्रद्धा और कर्म। इससे तो आत्मिक

अवनति और पापों में प्रवृत्ति की सम्भावना हो सकती है; क्योंकि इसके माननेवालों को न तो आत्मोन्नति और पाप निवृत्ति के वास्तविक साधन सदाचार का कुछ ध्यान रहता है और न पापाचरण करने से भय रहता है। इसका कारण यह है कि उन्हें केवल तीर्थ-स्नान करने से ही आत्मिक और मानसिक पवित्रता और पापों के दूर होने की आशा रहती है।

(२) उपर्युक्त लेखों से यह स्पष्टतया विदित नहीं होता कि महात्मा जी ने गंगा-स्नान करनेवालों के दिल की सचाई को उनकी सफलता का हेतु माना है अथवा उससे पैदा होनेवाले गंगा-स्नान से पाप-निवृत्ति के अन्धविश्वास को ? यदि ऐसे विश्वास को सफलता का कारण बतलाया गया हो तो मानना पड़ेगा कि संसार के वे सब लोग, जो अपने अन्ध-विश्वास के कारण नाना प्रकार की भ्रान्तियों में फँसे हुए हैं और उनपर पूर्ण विश्वास तथा श्रद्धा रखते हैं, वे सबके सब ईश्वर के सामने सफल हो जायँगे। उस दशा में सत्य का कोई मूल्य और उसे जानने व ग्रहण करने की कोई जरूरत ही न रहेगी; परन्तु ऐसा मानना और कहना बिलकुल अयुक्त है कि ऐसी हृदय की सचाई, जो कि भ्रमपूर्ण-विश्वासों को दृढ़ करे, सफलता का कारण हो सकती है। अन्ध-विश्वास का कारण हृदय की सचाई नहीं, वरन् अज्ञान और भोलापन है, जो किसी दशा में भी साफल्य का हेतु नहीं हो सकता। यह बात भिन्न है कि महात्मा जी जैसे उदार सज्जन ऐसे भोले-भाले लोगों पर दया करके उन्हें साफल्य का प्रमाण-पत्र दे दें। प्राकृतिक सचा-

इयाँ (नियम) अपने प्रतिकूल विश्वास रखनेवालों और कार्य करनेवालों पर न तो दया करती हैं और न उन्हें सफल होने देती हैं। मनुष्य मनुष्य होने के कारण इस बात का अवश्य उत्तरदायी है कि वह यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे। इस हेतु उसकी अज्ञता तथा अविद्या उसकी भूल अथवा निर्बलता के लिए क्षन्तव्यता और प्रायश्चित्त का साधन कदापि नहीं हो सकती।

(३) यदि केवल हृदय की सचाई को साफल्य का कारण बतलाया गया है तो भी ऐसी हृदय की सचाई साफल्य का कारण कदापि नहीं हो सकती, जिसका ऊपरी लक्षण गंगा-स्नान से पाप दूर होने का अन्ध-विश्वास हो। यदि यहाँ पर हृदय की सचाई से अभिप्राय छल-कपट तथा लाग-लपेट का अभाव हो और साफल्य से तात्पर्य अपने उद्देश्य (पाप-निवृत्ति तथा पवित्रता) में सफलता हो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि पाप-निवृत्ति और पवित्रता इतनी सस्ती और सुगम नहीं है, जो केवल दिल की ऐसी सचाई मात्र से प्राप्त हो जाय, जिसका कारण अज्ञान और जिसका अर्थ भोलापन के सिवाय और कुछ न हो।

पाठक-वृन्द! यदि आप वाद-प्रतिवाद को छोड़कर सचाई पर ध्यान दें तो विदित होगा कि इन गंगा आदि नदियों और विशेष स्थानों को स्वार्थियों ने अपने व्यवसाय के निमित्त पवित्रता तथा मुक्ति को सस्ते दाम में ख़रीदनेवाले आलसी और भोले-भाले इच्छुकों ने पवित्रता और पाप-निवृत्ति का साधन ठहराया और मान लिया है, परन्तु ये स्थान तो किसी समय ऋषि-मुनियों की

तपोभूमि और निवास-स्थान थे और गृहस्थ लोग वहाँ जाकर उनके सत्संग से अपने मन तथा आत्मा की शुद्धि किया करते थे न कि गंगा-स्नान से। इस कारण केवल तीर्थ-स्नान अथवा यात्रा को पवित्रता और पाप-निवृत्ति का साधन बताना अथवा मानना अज्ञता है। वह तीर्थ तो सत्यता, तप, त्याग, अहिंसा, क्षमा, ब्रह्मचर्य, सत्संग, इन्द्रियनिग्रह, दया, सन्तोष और कपट का त्याग इत्यादि हैं, जिनको वेदादि शास्त्रों ने मन तथा आत्मा की शुद्धि और पाप दूर करने का साधन बतलाया है और जिनके धारण करने से ही मनुष्य पापों से बच सकता और सचमुच आत्मा तथा मन को शुद्ध व उच्च बना सकता है।

नाम-स्मरण

(महात्मा जी) "राम-नाम के प्रताप से पत्थर तैरने लगे। राम-नाम के बल से वानर-सेना ने रावण के छक्के छुड़ा दिये। राम-नाम के सहारे हनुमान ने पर्वत उठा लिया और राक्षसों के घर अनेक वर्ष रहने पर भी सीता अपने सतीत्व को बचा सकी। भरत ने चौदह वर्ष तक प्राण-धारण कर रखा; क्योंकि उनके कंठ से राम-नाम के सिवाय दूसरा कोई शब्द न निकलता था, इसलिए तुलसीदास ने कहा कि कलिकाल का मल धो डालने के लिए राम-नाम जपो। इस तरह संस्कृत और प्राकृतिक दोनों

प्रकार के मनुष्य राम-नाम लेकर पवित्र होते हैं; परन्तु पावन होने के लिए राम-नाम हृदय से लेना चाहिए।"
(नवजीवन, ३० अप्रैल, सन् १९२५ ई०)

एक मरहठा देवी ने महात्मा गान्धी जी से यह प्रश्न किया,
(प्रश्न) क्या किसी पुरुष या स्त्री को राम-नाम जपने ही से विना राष्ट्रीय-सेवा में भाग लिये, आत्मदर्शन हो सकता है? मैंने यह प्रश्न इसलिए पूछा कि मेरी कुछ बहनें यह कहा करती हैं कि हमको घर के काम-काज करने और दीन-दुखियों पर दया करने के अतिरिक्त और किसी काम की जरूरत ही नहीं।"

महात्मा जी इसका उत्तर यह देते हैं—

(उत्तर) इस प्रश्न ने स्त्रियों को ही नहीं; बल्कि बहुत से पुरुषों को भी उलझन में डाल दिया है। "मुझे यह बात ज्ञात है कि कुछ लोग इस सिद्धान्त के माननेवाले हैं कि काम करने की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं और श्रम करना व्यर्थ है। मैं इस विचार को बहुत अच्छा तो नहीं कह सकता। हाँ, यदि मुझे इसे मानना ही हो तो मैं इसका अपना ही अर्थ लगाकर स्वीकार कर सकता हूँ। मेरा नम्र विचार यह है कि मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए पुरुषार्थ करना आवश्यक है, विना इस बात का ध्यान किये कि इसका परिणाम क्या होगा यह आवश्यक है कि राम-नाम या ऐसा ही कोई दूसरा पवित्र नाम केवल जपने के लिए ही नहीं, बल्कि आत्म-शुद्धि के लिए, प्रयत्नों

को सहारा देने के लिए और ईश्वर से सीधा आदेश पाने के लिए है, इस कारण राम का नामोच्चारण कभी पुरुषार्थ के स्थान में काम नहीं आ सकता। वह तो पुरुषार्थ को अधिक सबल बनाने और ऐसे ठीक मार्ग पर चलने के लिए है। यदि पुरुषार्थ करना व्यर्थ है तो फिर घर की और गृहस्थी की चिन्ता कैसी और दुखियों को मदद देना किस लिए।" (यंग इण्डिया, २१ अक्टूबर, सन् १९२६ ई०; प्रताप, लाहौर, २८ अक्टूबर, सन् १९२६ ई०)

(आर्य) महात्मा जी के ऊपर के दोनों लेख एक दूसरे से बिलकुल विरुद्ध हैं। पहले लेख में आपने राम-नाम-स्मरण को न केवल संसार के सब सम्भव कार्यों की सिद्धि का ही कारण माना है, वरन् उसके प्रताप से पत्थरों का तैरना और पर्वतों का उठा लेना भी सम्भव बतलाया है; जो कि बिलकुल असम्भव है; परन्तु दूसरे लेख में ठीक उसके विरुद्ध आपने यह कहा है कि संसार के जो काम परिश्रम, प्रयत्न या पुरुषार्थ से होनेवाले हैं, उनका साधन राम-नाम का जाप कदापि नहीं हो सकता। यदि हो सकता है तो घर या गृहस्थ के कामों के लिए परिश्रम या पुरुषार्थ क्यों नहीं कर लिया जाता। राम-नाम तो केवल मानसिक और आत्मिक शुद्धि का ही कारण हो सकता है और वह भी उसी दशा में, जिसमें हृदय से उसका स्मरण किया जाय और स्मरण भी उस राम का, जो कि सारे संसार का पिता और पति है, न कि दशरथ के पुत्र और सीता के पति राम का, जैसा कि अवतारवाद में

वर्णित आपके राम-नाम से सम्बन्ध रखनेवाले लेख के इन शब्दों से प्रकट है। "रामायण के राम वह राम नहीं हैं, जिनका नाम लेकर इस भवसागर से पार हो सकें या जिनका नाम दुःख के अवसर पर लिया करें इत्यादि"।

जो अन्ध-विश्वासी लोग कार्य-कारण का यथार्थ सम्बन्ध नहीं समझते और प्रत्येक कार्य की सिद्धि, प्रत्येक दुःख की निवृत्ति और प्रत्येक रोग की ओषधि ईश्वर के नाम के जाप को ही मान लेते हैं, महात्मा जी ने यह लिखकर उनका उचित खंडन किया है कि राम का नामोच्चारण कभी परिश्रम के स्थान पर काम नहीं आ सकता और यह है भी बिलकुल ठीक; क्योंकि प्रत्यक्ष में भी नाम-स्मरण अथवा जाप करने से भूख दूर नहीं होती, प्यास नहीं बुझती, न ज्वर उतरता है और न लिखना-पढ़ना आता है इत्यादि; वल्कि जिस तरह प्रत्येक रोग की दवा अलग-अलग है, उसी तरह प्रत्येक कार्य की सिद्धि का साधन भी पृथक्-पृथक् है।

परन्तु यदि अज्ञानी लोग ईश्वर के नाम के प्रताप से पत्थरों का तैरना या पहाड़ का उठाना आदि सब असम्भव बातों को सम्भव मानते हैं तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि उन्हें पदार्थों का यथार्थ ज्ञान नहीं है; परन्तु आश्चर्य है तो इस बात पर कि महात्मा जी जैसे तर्क के पक्षपाती और बुद्धिवादी विद्वान् ने भी उसको ठीक माना है। यद्यपि आप ही के लेख से उसका खंडन भी होता है। यह समझ में नहीं आता कि इसका क्या कारण है? यदि यह कहा जाय कि प्रथम लेख में जो कुछ

वर्णित है, वह केवल राम-नाम का महत्त्व दिखलाने के लिए था न कि घटनाओं को वर्णन करने के लिए; परन्तु यह कहना इस कारण ठीक न होगा कि राम-नाम का महत्त्व दिखलाने के लिए जो पत्थरों का समुद्र पर तैरना और हनुमान का पहाड़ उठाना आदि वर्णन किया गया है, उन्हें रामायण के अनुसार हिन्दू लोग सत्य-घटना मानते हैं और यदि उनको सत्य घटना न माना जाय तो फिर उनसे राम-नाम का महत्त्व भी सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि असम्भव कल्पनायें तथा दृष्टान्त किसी बात को प्रमाणित नहीं कर सकते।

एक और बात भी विचारणीय है। पहले लेख में जिस राम को ईश्वर मानकर उसके स्मरण का महत्त्व दिखाया गया है, वह राम दशरथ के पुत्र और सीता के पति राम के सिवाय दूसरा नहीं हो सकता, क्योंकि रामायण समुद्र पर पत्थरों का तैराना आदि उसी राम का चमत्कार बतलाती है; परन्तु यह लेख आपके उस लेख के बिलकुल प्रतिकूल है, जो कि पीछे अवतारवाद में राम-नाम से सम्बन्ध रखनेवाले में वर्णित है। आपने उसमें स्पष्ट लिखा है कि "हम जिस राम के गुण गाते हैं, वह वाल्मीकि और तुलसीदास के राम नहीं और न वह दशरथ के पुत्र और सीता के पति देहधारी राम हैं, बल्कि राम वह हैं, जो कि हमारे हृदय में बसते हैं।" ज्ञात नहीं इन दोनों में से सत्य कौन सा और असत्य कौन सा है। इसको सिवाय महात्मा जी के दूसरा कोई नहीं जान सकता।

यदि यह कहा जाय कि महात्मा जी दशरथ के पुत्र और सीता के पति राम को भी ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते, बल्कि आलंकारिक सत्ता मानते हैं तो आपके निकट उसका भी तात्पर्य ईश्वर ही होता है।

प्रथम तो इसके वर्णन की सत्यता पर ही विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि महात्मा जी के जो शब्द ऊपर लिखे गये हैं, उनमें आप स्पष्ट रीति से दशरथ के पुत्र और सीता के पति रामायण के देहधारी ऐतिहासिक राम और अन्तर्यामी राम को भिन्न भिन्न मान चुके हैं। साथ ही आपके जो लेख इसी मन्तव्य के आरम्भ में लिखे गये हैं, उनके किसी शब्द से भी इसका समर्थन नहीं होता।

द्वितीय—यदि असम्भव होने पर भी इसको ठीक भी मान लिया जाय तो इस आक्षेप का क्या उत्तर है कि महात्मा जी जिस दशरथ के पुत्र और सीता के पति राम के ईश्वर होने का स्पष्टतया निषेध कर चुके हैं फिर उसी राम का ईश्वर-तुल्य वर्णन करके क्यों भ्रान्ति फैलाकर लोगों को भ्रम में डाला जाता है?

अतः इस सचाई को जानते हुए भी कि महात्मा जी के लेखों में परस्पर बड़ा विरोध है, अन्त में यह जानना जरूरी है कि महात्मा जी ने इस प्रकरण के सम्बन्ध में होनेवाले इस यथार्थ-प्रश्न का क्या उत्तर दिया है कि ईश्वर के नाम का स्मरण या जाप करना चाहिए या नहीं? यदि करना चाहिये तो किस लिए? इसका उत्तर आपके उपर्युक्त लेखों को ध्यान-पूर्वक पढ़ने से यह

मिलता है कि ईश्वर के नाम का स्मरण अवश्य करना चाहिए और करना चाहिए तो आत्म-शुद्धि और उससे आदेश प्राप्त करने के लिए न कि संसार की वस्तुओं की प्राप्ति और सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए। हम आपके इस विचार से सहमत होते हुए इसमें इतना और बढ़ाना चाहते हैं कि ईश्वर का नाम-स्मरण ज्ञान-पूर्वक होना चाहिए। अर्थात् ईश्वर के जिस नाम से उसका जो गुण प्रकट होता हो, उसको भली भाँति समझ-कर, जहाँ उसका बार-बार स्मरण और मनन करें, वहाँ उसके अनुसार अपना आचरण भी बनावें।

अज्ञान-पूर्वक, तोते की भाँति, नाम जपने से कोई लाभ न होगा; क्योंकि वैदिक धर्म के ज्ञान, कर्म और उपासना तीन काण्ड हैं। यह तीनों मिलकर ही मनुष्य को अपना यथार्थ फल दे सकते हैं। बिना कर्म और उपासना के ज्ञान, बिना ज्ञान और कर्म के उपासना अथवा बिना ज्ञान और उपासना के कर्म बिलकुल व्यर्थ हैं।

सहभोज और अन्तर्विवाह

(महात्मा जी) "मैं इस बात को नहीं मानता कि सहभोज और अन्तर्विवाह से किसी मनुष्य का जन्म, जाति, दर्जा अवश्य छिन जाता है।.............................

इस प्रकार यद्यपि सहभोज और अन्तर्विवाह से वर्णाश्रम में बाधा नहीं होती तथापि हिन्दू धर्म सहभोज और एक वर्ण के साथ दूसरे वर्ण के अन्तर्विवाह को रोकने का प्रयत्न करता है। हिन्दू धर्म आत्म-संयम की चरम सीमा तक पहुँच गया है।.................हिन्दुओं के यहाँ तो उनके पुत्र के साथ भी भोजन करना उनके कर्त्तव्य का अंग नहीं है और अमुक ही जाति की कन्या से विवाह करने का नियम बनाकर तो हिन्दू लोग असाधारण आत्म-संयम का पालन करते हैं।.......... अथवा अन्तर्विवाह और सहभोज का निषेध आत्मा के द्रुत विकास के लिए परम आवश्यक है; परन्तु यह निवृत्ति या विरक्ति वर्ण की कसौटी नहीं है। ब्राह्मण ने यदि ज्ञान के द्वारा सेवा करने के अपने कर्त्तव्य का त्याग नहीं किया तो वह अपने शूद्र भाई के साथ भोजन पान करने पर भी ब्राह्मण रह सकता है। अब तक मैंने जो कुछ कहा, उससे नतीजा निकलता है कि भोजन, पान और विवाह के विषय में जो संयम रक्खा गया है, उसका आधार श्रेष्ठता या कनिष्ठता के भाव पर नहीं है। जो हिन्दू अपने को श्रेष्ठ समझ कर किसी दूसरे के साथ भोजन-पान करने से इन्कार करता है, वह अपने धर्म का आदर्श बिलकुल उलटा दिखाता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि आज हिन्दू-धर्म अकेले चूल्हे-चौके ही में माना जाता है। मैंने एक बार एक मुसलमान भाई के यहाँ कुछ खाया, यह देखकर एक धर्म-निष्ठ हिन्दू चकित हो गया। मैंने मुसलमान भाई के

दिये प्याले में दूध उड़ेला। उन्हें देखकर बड़ा दुःख हुआ और जब उन्होंने देखा कि मैं मुसलमान की दी हुई डबल रोटी खाने लगा हूँ तब तो उनके दुःख की सीमा न रही। यदि हिन्दू-धर्म केवल क्या खायँ, किसके साथ खायँ और किसके साथ न खायँ तथा उसके परिश्रम साध्य नियमों के सम्बन्ध ही में मन्तव्य करने लगे तो उसके प्राणों के संकट में आ पड़ने की सम्भावना है"। (नवजीवन, ७ अक्टूबर, सन् १९२१ ई०)।

"मैं नीच जातिवालों के साथ खा-पी लेता हूँ। मुसलमानों के साथ खा-पी लेता हूँ। मैं इतना कुछ करता हूँ; परन्तु मैं अपने आपको सनातन-धर्मी और वर्णाश्रमी मानता हूँ।" (तेज, देहली, २५ जुलाई, सन् १९२५ ई०; मारवाड़ी-सम्मेलन में दी हुई आपकी वक्तृता से उद्धृत)।

"और मैं किसी मनुष्य के प्रत्येक नीच या ऊँच के साथ न खाने-पीने को पाप समझने से इन्कार करता हूँ। हिन्दू-धर्म में भाइयों के बच्चे आपस में विवाह नहीं कर सकते। ....ये निषेधात्मक नियम स्वयं दूषित नहीं हैं। यदि इन्हें हास्यास्पद अन्तिम दशाओं को पहुँचा दिया जाय तो निस्सन्देह वे हानिप्रद हो सकते हैं"। (यंग इण्डिया, हिन्दी, दूसरा भाग, पृष्ठ ९८४; प्रताप, लाहौर, १५ दिसम्बर, सन् १९२० ई०)।

"रोटी-व्यवहार तो हमारी बहुतेरी जातियों में दिन-दिन बढ़ता जा रहा है, पर बेटी-व्यवहार आरम्भ हो जाने से भी एक तो सारी जाति की एक-सूत्रता बढ़ती जायगी और दूसरे समान

गुण और शील रखनेवाले वरों और वधुओं की खोज का क्षेत्र विशाल हो जायगा" (नवजीवन, २६ मार्च, सन् १६२६ ई०)।

(आर्य) महात्मा जी ने वर्ण को मनुष्य का जन्म-जात (पैदायशी) दर्जा बतलाया है, यह ठीक नहीं है। हम आपकी इस भूल को वर्ण-व्यवस्था के प्रकरण में अच्छी तरह सिद्ध कर आये हैं, इसलिए यहाँ पर उसको दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

फिर आपने लिखा है कि सहभोज और अन्तर्विवाह से वर्णाश्रम में परिवर्त्तन नहीं होता। इसी विचार से आपने नीच जातिवालों और अहिन्दुओं के साथ स्वयं खाना-पीना स्वीकार करते हुए अपने को वर्णाश्रम में स्थिर माना है; परन्तु इसके साथ ही आपने आत्मसंयम और आत्मविकास के निमित्त सहभोज और अन्तर्विवाह का निषेध भी बहुत आवश्यक बतलाया है। पाठकवृन्द, यह विचार महात्मा जी ने अपने को सनातनी हिन्दू सिद्ध करने के सम्बन्ध ही में प्रकट किया है; परन्तु आपके विचार का पहला अंश और खान-पान का आचरण सनातन-धर्मी हिन्दुओं के विचार और आचार के अत्यन्त विपरीत है। इसके सिवाय ये दोनों विचार एक दूसरे के अनुकूल भी नहीं हैं। वह इस कारण कि यदि सहभोज और अन्तर्विवाह का निषेध आत्म-संयम और आत्मविकास के लिए आवश्यक है तो वर्णाश्रम धर्म के पालन करने में भी अवश्य बाधक होंगे, क्योंकि वर्णाश्रम धर्म भी बिना आत्मसंयम और आत्मविकास के पालन नहीं किया

जा सकता। या यों समझिये कि यदि महात्मा जी के कथनानुसार सहभोज और अन्तर्विवाह का निषेध आत्मसंयम और आत्म-विकास के लिए जरूरी है तो किसी भी वैदिक धर्मी के लिए वे (सहभोज और अन्तर्विवाह) उचित नहीं हो सकते; क्योंकि धर्म की दृष्टि से प्रत्येक वर्णाश्रमी मनुष्य के लिए वही आचार व्यवहार ठीक और उचित हो सकते हैं, जो कि आत्मिक उन्नति के कारण भी हों, दूसरे प्रकार के कदापि नहीं और यदि सहभोज से महात्मा जी का आशय नीच माने हुए वर्गों और अहिन्दुओं के हाथ के बने शुद्ध निरामिष भोजन करने या उनके साथ एक पंक्ति में एक बिछावन पर बैठकर खाने-पीने से है और अन्तर्विवाह से आपका अभिप्राय गुण कर्मानुकूल किसी भी लड़के लड़की से विवाह का तो फिर समझ में नहीं आता कि सहभोज और अन्तर्विवाह आत्मसंयम और आत्मविकास के लिए हानिकारक क्यों हैं। हमें तो इसका कोई भी उचित कारण प्रतीत नहीं होता और इसके खण्डन के लिए महात्मा जी ही को उदाहरणार्थ पेश किया जा सकता है; क्योंकि सहभोज करते हुए भी आपमें आत्मसंयम और आत्मिक उन्नति मौजूद है। हाँ, यह ठीक है कि यदि सहभोज में अशुद्ध अर्थात् अभक्ष्य पदार्थों को खाया जाय, जिसका निषेध महात्मा जी ने भी किया है और अन्तर्विवाह गुण कर्म की परवाह न करते हुए केवल काम-चेष्टा से प्रेरित होकर ही किया जाय तो निस्सन्देह वह आत्मसंयम और आत्मविकास के लिए हानिकारक होने के साथ साथ वास्तविक

वर्ण-व्यवस्था के भी विनाशक होंगे। यह नहीं हो सकता कि आत्म-संयम और आत्म-विकास के लिए तो हानिप्रद हों और वर्ण-व्यवस्था के लिए लाभप्रद हों, क्योंकि जो लोग भक्ष्याभक्ष्य और विवाह की पवित्रता की परवाह न करते हुए सहभोज और अन्त-र्विवाह करते हैं, उनका वह आचार-व्यवहार किसी धार्मिक या सदाचार के नियम पर निर्भर नहीं होता है; बल्कि उसका आधार केवल पशुता के भाव (काम-वासना) पर होता है।

महात्मा जी का यह कहना है कि हिन्दुओं के वर्त्तमान खान-पान और विवाह के नियम ऊँच-नीच के भाव पर अवलम्बित नहीं हैं, बिलकुल अशुद्ध है, क्योंकि यह निश्चित बात है और इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि हिन्दुओं में खाने-पीने के सम्बन्ध में छुआछूत और कच्ची पक्की का बखेड़ा जो कि पागलपन की सीमा तक पहुँच गया है; उसका मुख्य हेतु उच्चता और नीचता का वृथाभिमान ही है।

वैदिक धर्म बिना प्रयोजन के विधि और निषेध का निश्चय नहीं करता या यों समझिये कि वैदिक धर्म उसी आचार-व्यवहार को उचित और शुद्ध ठहराता है, जो शरीर, मन और आत्मा की उन्नति और विकास के अनुकूल और उसका सहायक हो तथा शरीर, मन और आत्मा को हानि पहुँचानेवाले कर्मों का निषेध करता हो; इसलिए उसके विचार से शुद्ध निरामिष-भोजन का खाना और गुण कर्मानुकूल विवाह (यही सवर्ण विवाह है) उचित और विहित है, चाहे उसको आजकल की परिभाषा में सहभोज

और अन्तर्विवाह ही क्यों न कहा जाय। खाने अयोग्य (अभक्ष्य) वस्तुओं का खाना-पीना और गुण-कर्म के प्रतिकूल विवाह करना बिलकुल अनुचित है, चाहे वह आजकल की प्रथा और वंशानुगत वर्ण-व्यवस्था के अनुकूल ही क्यों न हो।

क़रीब-क़रीब यही आशय महात्मा जी के ऊपर लिखे हुए नवजीवन के २१ मार्च, सन् १९२६ ई० वाले लेख का भी है। यदि हिन्दू फिर से इस वैदिक पद्धति पर आचरण करने लग जायँ तो निश्चित है कि उनके खान-पान और विवाह के सम्बन्ध में भ्रान्तियों का अन्त होकर बहुत सी सामाजिक कठिनाइयाँ सुलभ हो जायँगी।

मांसाहार

(महात्मा जी) हाँ, मादक, पेय तथा हर प्रकार के खाद्य पदार्थों का, विशेष करके मांस का सेवन न करने से आत्मोन्नति में सहायता मिलती है; परन्तु केवल यही हमारा लक्ष्य किसी तरह नहीं। बहुत से मनुष्य ऐसे हैं, जो मांस-भोजन करते हैं और सब लोगों के साथ खाते-पीते हैं; परन्तु ईश्वर से डरते हैं। ऐसे लोग उस मनुष्य की अपेक्षा मुक्ति के अधिक निकट हैं, जो धार्मिक दृष्टि से मद्य-मांसादि का तो सेवन नहीं करते; परन्तु अपने कार्य के द्वारा ईश्वर का तिरस्कार करते हैं। (नवजीवन, ७ अक्टूबर, सन् १९२१ ई०)

मैं मांसाहार को मनुष्य के लिए अनुचित समझता हूँ। हम तुच्छ पशुओं का अनुकरण करने में भूल करते हैं, यद्यपि हम उनसे श्रेष्ठ हैं। अनुभव बतलाता है कि मांसाहार उनके लिए प्रतिकूल है, जो विषय-वासना को दूर करना चाहते हैं········ शाकाहार हिन्दू-धर्म का एक बहुमूल्य उपहार है। इसे यों ही नहीं छोड़ देना चाहिए; अतः इस भूल का संशोधन करना आवश्यक है कि शाकाहार ने हमें मानसिक अथवा शारीरिक रूप में निर्बल, सुस्त या आलसी बना दिया है। महान् हिन्दू-सुधारक अपने-अपने समय में सबसे अधिक चुस्त, परिश्रमी और उद्योगी प्रमाणित हुए हैं और वे सबके सब शाकाहारी थे। भला बतलाओ तो सही कि स्वामी दयानन्द अथवा स्वामी शङ्कराचार्य के समय में उनसे अधिक कार्य करनेवाला कौन था ? (यंग इण्डिया, ७ अक्टूबर, सन् १६२६ ई०, प्रकरण वेजिटेरियनिज़्म तेज, देहली, १४ अक्टूबर, सन् १६२६ ई०)

(आर्य) मांसाहार के सम्बन्ध में महात्मा जी की सम्मति बिलकुल स्पष्ट है। आप मांसाहार को विषय-वासना का बढ़ानेवाला और आत्मोन्नति का अवरोधक समझते हुए उसका निषेध करते हैं। जो लोग मांस-भक्षण के समर्थन में यह युक्ति देकर मांसाहार को उचित ठहराने का यत्न करते हैं कि संसार में शेर आदि अनेक पशु मांसाहारी हैं, अतः मांसाहार प्रकृति के विरुद्ध नहीं है। आपने यह उत्तर देकर उसका खंडन किया है कि मनुष्य पशु से श्रेष्ठ प्राणी है, इसलिये उसको पशु का अनुकरण

कदापि नहीं करना चाहिए। इसमें इतना और बढ़ाया जा सकता है कि बहुत से पशु शाकाहारी हैं, फिर उनका उदाहरण क्यों न ग्रहण किया जाय। साथ ही यदि पशुओं के एक कार्य का उदाहरण लिया जायगा अथवा अनुकरण किया जायगा तो उनके अन्य सभ्यता-विरुद्ध, पाशविक कार्यों का भी अनुकरण करना पड़ेगा, जो कि मनुष्य के लिए और भी लज्जाजनक होगा। ध्यान-पूर्वक देखने से विदित होगा कि वास्तव में पशुओं का उदाहरण मनुष्यों के लिए बिलकुल असम्भव है; क्योंकि इन दोनों में बड़ा भारी प्राकृतिक-भेद है। मनुष्यों को पशुओं से श्रेष्ठ और उत्कृष्ट ठहरानेवाले विशेष कर सभ्यता और सदाचार हैं। मांसाहार इन दोनों के भी विरुद्ध है।

(१) सभ्यता के विरुद्ध इसलिए कि मांस-भक्षण करनेवाले हर एक प्राणी मनुष्य से लेकर तुच्छ से तुच्छ कीड़ों तक का मांस खा डालते हैं, जिनमें से मनुष्य का मांस खानेवालों को जंगली समझा जाता है और जब वह कुछ सभ्य हो जाते हैं तो स्वयं मनुष्य का मांस खाना छोड़ देते हैं। इससे प्रकट है कि सभ्यता ने मांसाहार को छुड़ाया है।

(२) सदाचार के विरुद्ध इसलिए कि कँटिया के साथ खाने की वस्तु लगाकर मछलियों को और जाल के समीप दाना छितरा-कर पक्षियों को, खाने का लालच देकर छल से उन्हें अपने खाने के निमित्त पकड़ा जाता है। घात में बैठकर असावधान और अहानिकर पशुओं को गोली से मारा जाता है। अपने बच्चों की

तरह पाले हुए बकरों, भेड़ों और पक्षियों के गले पर छुरी चलाई जाती है। पशुओं को जबह* करके उनकी वेदनापूर्ण तड़प को अत्यन्त निर्दयता और निष्ठुरता से देखा जाता और भयंकर जंगली पशुओं की भाँति मांस को नोचा और जलाया जाता है। महात्मा जी ने जो यह कहा है कि ईश्वर से डरनेवाले मद्य-मांसाहारी मनुष्य उन मद्य-मांस न खानेवाले मनुष्यों की अपेक्षा मुक्ति के अधिक समीप हैं, जो कि ईश्वराज्ञा-पालन नहीं करते। यह ठीक नहीं मालूम होता। यह तो मद्य-मांस खानेवालों को सहारा देनेवाली केवल एक कल्पना है। क्रियात्मक लोक में इसका उदाहरण मिलना दुर्लभ है; क्योंकि मद्य-मांस का सेवन करना ही इस बात का प्रमाण है कि मद्य-मांस खानेवाला ईश्वर से नहीं डरता। भला ईश्वर से डरनेवाला मनुष्य अपने पेट और स्वाद के निमित्त कभी निरपराध प्राणियों के गले पर छुरी चला सकता है! जो मनुष्य इस सचाई की तनिक भी परवाह नहीं करता, उसका कोई अधिकार नहीं कि वह अपने स्वार्थ के लिए ईश्वर के निष्पाप बच्चों के जीवन का अन्त करे। ऐसी अवस्था में वह ईश्वर से कहाँ डरता है! जब कि मद्य-मांसादि न खाने योग्य वस्तुओं का सेवन करना ही ईश्वराज्ञा का न मानना और उन अभक्ष्य पदार्थों का त्याग करना ईश्वराज्ञा का पालन करना है तो इससे सिद्ध है कि मद्य-मांस खाने पीनेवाला अपने

---

*ज़बह करना = गले को छुरा या तलवार से धीरे-धीरे काटना।

इस आचरण से ईश्वर का तिरस्कार करता है और मद्य-मांस न खानेवाला अपने इस आचरण से ईश्वर का आदर करता है। इस हेतु पहला व्यक्ति दूसरे से मुक्ति की दौड़ में कदापि आगे नहीं हो सकता। जब महात्मा जी ने स्वयं मद्य-मांस का छोड़ना आत्मसंयम और आत्मोन्नति के लिए बहुत जरूरी माना है तो फिर उनका सेवन करनेवाला उनके छोड़नेवाले से मुक्ति के अधिक समीप कैसे हो सकता है? शरीर-विज्ञान के जाननेवाले इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि मादक-द्रव्यों को छोड़कर मांस खानेवाला प्रायः कपटी और हिंसक प्रवृत्ति का होगा। कसाई, बूचड़ों और मांसाहारी जातियों का व्यवहार किसी से छिपा हुआ नहीं है तो फिर आत्मसंयम और आध्यात्मिकता से शून्य मनुष्य का मोक्ष की ओर किस प्रकार मुँह हो सकता है। हाँ, यह सम्भव हो सकता है कि मद्य-मांस का खानेवाला मनुष्य किसी मद्य-मांस न खानेवाले पतित से कई बातों में अच्छा हो, तो भी उसका यह अर्थ नहीं है कि मद्य-मांस खाना उत्तम है। उसकी अच्छाई का कोई और कारण हो सकता है। इसलिए न तो मद्य-मांस खानेवाले के इस दोष को उसके किसी दूसरे अच्छे गुण के कारण गुण ठहरा सकते हैं और न मद्य-मांस न खानेवाले के इस उत्तम कर्म्म को उसके किसी दूसरे कुकृत्य के कारण दूषित ठहरा सकते हैं।

पशु-बलि

(महात्मा जी) "काली को बकरे बलिदान करना मैं बिलकुल अधर्म मानता हूँ और इसे मैं हिन्दू-धर्म का अंग नहीं मानता।............हाँ, इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी समय धर्म के नाम पर जीवों का बलिदान होता था, पर यह धर्म नहीं है और हिन्दू-धर्म तो और भी नहीं है।" (यंग इण्डिया, हिन्दी, भाग २, पृष्ठ ७६८)।

(आर्य) यह मन्तव्य महात्माजी का बिलकुल स्पष्ट है और वैदिक धर्म के अनुकूल है। आपका यह कहना सर्वथा उचित और ठीक है कि यद्यपि किसी काल (यह वाममार्गियों का समय है) में धर्म के नाम पर जीवों का बलिदान हुआ करता था; परन्तु यह हिन्दू (वैदिक) धर्म कदापि नहीं हो सकता; क्योंकि स्वार्थ-वश निष्पाप तथा दुःख न पहुँचाने वाले प्राणियों का प्राण लेना वेदों की शिक्षा के बिलकुल विरुद्ध है। पशु-बलि एक अवैदिक प्रथा है, जिसको बाहर से आकर हिन्दुओं में मिल जानेवाली अहिन्दू जातियाँ अपने साथ लाईं और हिन्दू हो जाने पर भी, केवल यही नहीं कि अपने पुराने अवैदिक संस्कारों के कारण इस अवैदिक कर्म को त्याग न सकीं, वरन् इसको वैदिक बनाने के लिए उन्होंने अधर्मरूप पशु-बलि, मद्य, मांस और व्यभिचार को धर्म बतलानेवाले ग्रन्थ (तन्त्रग्रन्थ) भी लिखे और उसमें गो-मेध आदि वैदिक यज्ञों और मन्त्रों के शुद्ध अर्थों के विरुद्ध अपना स्वार्थ

सिद्ध करनेवाले अर्थ किये और प्राचीन ऋषियों के ग्रन्थों में भी पशु-बलि आदि को उचित बतलानेवाले लेखों को मिला दिया; क्योंकि इसके बिना उनका अपने पाप-कर्म की निन्दा से बचना और हिन्दुओं में ऐसी अहिन्दू-प्रथा को प्रचलित करना असम्भव था; अतः उनके इस प्रयत्न से इन्द्रियों के दास, विषयभोग के लोलुप हिन्दुओं में इसकी प्रवृत्ति होती गई। इसके साथ ही वैदिक धर्मियों की ओर से इसका खंडन भी बराबर किया जाता रहा है। महात्मा बुद्ध ने पशु-बलि का घोर विरोध किया है और लिखा है कि यज्ञ में पशु-बध करना इक्ष्वाकु के समय से आरम्भ हुआ है और प्राचीन ब्राह्मण अन्न और घृत आदि ही से यज्ञ किया करते थे। इसी प्रकार महाभारत शान्तिपर्व के १०, ११,१२ वें श्लोक में साफ़ लिखा है कि "यज्ञ में गौओं आदि पशुओं का मारना जिह्वा के स्वाद के लोभी धूर्तों का चलाया हुआ है। वेद में इसकी कदापि आज्ञा नहीं है। वैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी इसका प्रबल खंडन किया गया है। यही कारण है कि इस मत के चलानेवालों का नाम भी वाममार्गी अर्थात् उलटे मार्ग पर चलनेवाला रक्खा गया है। इसके अतिरिक्त कोई न्याय-प्रिय और सहृदय मनुष्य भी दुःख न पहुँचानेवाले तथा निरपराध प्राणियों के रक्त को कदापि धर्म नहीं कह सकता। चाहे रक्तपात कल्पित देवी-देवताओं और .खुदा के नाम ही पर क्यों न किया जाता हो। मैं तो चकित हूँ कि पशु-बध को बलिदान या .कुर्बानी कहा ही क्यों जाता है; क्योंकि यह तो समझ में आ

सकता है कि निजी स्वार्थ और लाभ की परवाह न करते हुए, निष्काम भाव से, अपने धन तथा प्राणों को परोपकारार्थ अथवा देश, जाति तथा धर्म के लिए अर्पण कर देना बलिदान या .कुर्बानी कहला सकती है, परन्तु यह बात समझ में नहीं आ सकती कि अपने लाभ अथवा स्वार्थ और भ्रम को पूरा करने के लिए अन्य प्राणियों को जबह कर देना भी .कुर्बानी कहला सकती है। कितने दुःख की बात है कि जो बलिदान या .कुर्बानी मानव-सभ्यता का सदाचार-विषयक एक श्रेष्ठ गुण था और इस शब्द के द्वारा सचाई, स्वतंत्रता, न्याय और परोपकार के लिए पतंग के समान अपने प्राणों की आहुति देनेवाले महापुरुषों ही का बोध होता था, पशु-बलि के अन्ध-विश्वासियों ने इसका तात्पर्य देवताओं या .खुदा के नाम पर प्राणियों का वध बतला और बनाकर इसको एक भयानकता का चिन्ह बना दिया है और स्वयं इसके ठेकेदार बन बैठे हैं और उसे उचित मान लेने पर भी यदि अपने कल्पित स्वार्थ तथा लाभ के लिए निष्पाप प्राणियों के गले पर छुरी चलाना ही .कुर्बानी है तो फिर अपने स्वार्थ तथा लाभ के लिए डाकुओं और लुटेरों के द्वारा किया हुआ रक्त-पात तथा लूट-पाट .कुर्बानी क्यों नहीं है ? क्योंकि इन दोनों का प्रेरक स्वार्थ अथवा इच्छा और इनमें किये जानेवाला कार्य एक समान है और यदि यह कहा जाय कि जिन पशुओं की .कुर्बानी की जाती है वे .कुर्बानी करनेवाले की सम्पत्ति होते हैं, इस हेतु उनकी .कुर्बानी अपनी सम्पत्ति की .कुर्बानी कहला सकती है तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि प्रथम तो इसे .कुर्बानी

कह ही नहीं सकते। .कुर्बानी तो उसी दशा में कहला सकती है, जिसमें अपनी सम्पत्ति को दूसरों की भलाई के लिए .कुर्बान किया जाय। चूँकि यह रक्तपात अपने ही कल्पित लाभ अथवा स्वार्थ के लिए किया जाता है, इस लिएअपनी सम्पत्ति की अपने लिए की हुई .कुर्बानी भी .कुर्बानी नहीं कहला सकती। अपने लिए तो समस्त संसार ही अपनी सम्पत्ति को .कुर्बान करता है; परन्तु उसे कोई भी कुर्बानी नहीं कहता। द्वितीय, यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो विदित होगा कि पशु का मालिक भी पशु के जीवन का मालिक नहीं; क्योंकि जिस प्रकार एक मनुष्य अपने रुपये-पैसे, मकान और अन्नादि जड़ पदार्थों का स्वामी है, उसी प्रकार अपने नौकर, बच्चों और पशुओं का स्वामी नहीं है। वह अपने नौकर के केवल कार्य और समय का मालिक है, न कि उसके जीवन का। जिस प्रकार किसी मनुष्य के प्राणों का स्वामी बिना उसके अपने तथा सृष्टि-कर्त्ता ईश्वर के कोई दूसरा मनुष्य नहीं हो सकता, चाहे वह उसका पुत्र, भृत्य या क्रीत दास ही क्यों न हो। इसी प्रकार पशु का मालिक भी उसके काम और समय का मालिक तो हो सकता है; परन्तु उसकी जान का मालिक कदापि नहीं हो सकता। इस हेतु पशुओं का बलिदान, बलिदान अथवा .कुर्बानी नहीं कहला सकती। सच तो यह है कि पशु-बलि या जानवरों की .कुर्बानी एक मूर्खयुग की प्रथा है, जो कि असभ्य लोगों में प्रचलित थी। मैंने स्वयं अपने नेत्रों से आसाम के जंगली मनुष्यों को देवताओं को प्रसन्न करने के लिये पशुओं को जबह करते देखा है। जिस प्रकार आज स्वार्थी

लोग अपना स्वार्थ पूरा करने के लिए घूस देते हैं, उसी प्रकार सचाई से अभिज्ञ लोग अपने कष्टों और रोगों को दूर करने के लिए अपने कल्पित देवी-देवताओं अथवा ख़ुदा की प्रसन्नता के लिए पशुओं और मनुष्यों का बलिदान किया करते थे, जो कि आज तक लोगों में वंशानुक्रम से चला आ रहा है और जिसको कई मज़हबों ने भूल से अपने ईमान का अंग बना लिया है। तत्त्व से परिचित, बुद्धिमान् मनुष्य न तो पशु-वध को उचित और धर्म ही ठहरा सकता है और न इससे ख़ुदा की प्रसन्नता प्राप्त करना ही मान सकता है, क्योंकि ख़ुदा अपने उत्पन्न किये हुए निरपराध बच्चों के वध से कदापि प्रसन्न नहीं होता, इसलिए जानवरों की क़ुर्बानी अथवा पशुओं का बलिदान तो केवल असभ्यता का एक चिह्न है, जो किसी सभ्य जाति और मज़हब के लिए कलंक है। यदि वे इस दोष को स्वयं न छोड़ेंगे तो समय की शिष्टता, सभ्यता और न्याय-परता एक दिन ज़बरदस्ती उनसे इस धर्म के नाम पर किये जाने-वाले अधर्म को छुड़ायेगी।

विधवा-विवाह

(महात्मा जी) "ऐसे वैधव्य की रक्षा कैसे कर सकते हैं, जो माता-पिता दस वर्ष की कन्या का विवाह कर देते हैं। क्या उनको विधवापन के पुण्य में कोई अंश मिल सकता है?

जिस कन्या का आज ही विवाह हुआ हो और आज ही पति मर जाय तो क्या उसे विधवा कहना चाहिए ? या वैधव्य की अधिकता को धर्म की सीढ़ी पर चढ़ाकर क्या हम महापाप नहीं करते ? अगर विधवापन की रक्षा करना हो तो क्या पुरुषों को अपने धर्म का ध्यान रखने की आवश्यकता नहीं ? जिस कन्या का विवाह आज हुआ है, उसके हृदय की दशा कोई क्या जान सकता है ? उसके सम्बन्ध में उसके पिता का क्या धर्म है ? या पिता ने उसके गले पर छुरी फेरकर उसके सम्बन्ध में अपने कर्त्तव्य को पूरा कर लिया ?

विधवापन की पवित्रता की रक्षा करने के लिए, हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए, हिन्दू-समाज के हितार्थ, मेरी अल्पबुद्धि में निम्नांकित नियमों की आवश्यकता है :—

(१) कोई पिता पन्द्रह वर्ष के पहले अपनी कन्या का विवाह न करे।

(२) जो विवाह अब तक उपर्युक्त आयु के पहले हो चुके हैं और कन्या १५ वर्ष की आयु के भीतर विधवा हो गई है तो उसके विवाह का प्रबन्ध करना पिता का धर्म है।

(३) पन्द्रह वर्ष की कन्या यदि विवाह के एक वर्ष के भीतर विधवा हो जाय तो माता-पिता को चाहिए कि उसे पुनर्विवाह करने के लिए उत्साहित करें।

ये नियम मैंने इस अभिप्राय से पेश नहीं किये हैं कि इनका अक्षरश: पालन किया जाय। यह तो केवल मार्ग दिखाने के लिए हैं। हाँ, इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं कि ये नियम विधवा के प्रति हमारे कर्त्तव्य को प्रकट करते हैं।" (नवजीवन, ११ मई, सन् १९२४ ई०; प्रताप, लाहौर, १६ मई, सन् १९२४ ई०)

"समाज की वर्त्तमान स्थिति को देखते हुए मेरी यह सम्मति है कि विवाह की स्वाभाविक अवस्था लड़के के लिए बीस वर्ष और लड़की के लिए सोलह वर्ष होनी चाहिए। बाल-विवाह के कारण ही हमारी जाति में बाल-विधवाओं की भारी संख्या दिखाई पड़ती है, जो कि हमारे लिए लज्जा और दुःख की बात होनी चाहिए। (नवजीवन, २५ मार्च, सन् १९२६ ई०)

कम उम्र की लड़कियों को ज़बरदस्ती विधवा रखना एक जंगली अपराध है, जिसका फल हम हिन्दू नित्य उठा रहे हैं। यदि हमारा अन्तःकरण यथार्थरूप में जाग्रत हो जाय तो पन्द्रह वर्ष से पहले कोई विवाह न किया जाय। वैधव्य तो दूर, हम तो यह घोषणा कर दें कि इन तीन लाख लड़कियों का धार्मिक रीति से कभी विवाह ही नहीं हुआ। कोई शास्त्र इस वैधव्य का समर्थन नहीं करता। यदि ऐसी स्त्री, जो एक साथी के प्रेम का आनन्द उठा चुकी हो, जान-बूझकर स्वेच्छा से विधवा रहना स्वीकार करे तो अवश्य उससे जीवन के मान-मर्यादा में वृद्धि होगी, घर की पवित्रता बढ़ेगी और धर्म में वृद्धि होगी; लेकिन धर्म अथवा प्रथा के नाम से वैधव्य को

स्थिर रखना एक ऐसा असह्य तौक़ या जुआ है, जो गुप्त कुकर्मों के द्वारा घरों को विगाड़ देता है और धर्म के महत्व को कम कर देता है। क्या हिन्दुओं का वैधव्य उस मनुष्य को दुःख नहीं पहुँचाता, जब कि वह यह विचार करता है कि पचास से अधिक आयु के बुड्ढे और बीमार आदमी कुआँरी कन्याओं को पत्नी बनाने के लिए ग्रहण करते अथवा खरीदते हैं, वरन् किसी-किसी समय एक की उपस्थिति में दूसरी को। जब तक हमारे भीतर हज़ारों विधवाएँ हैं तब तक हम एक ऐसी खान पर बैठे हुए हैं, जिसके फटने की हर समय सम्भावना है। यदि हमको शुद्ध और संयमी बनना है, यदि हिन्दुत्व की रक्षा करना है तो हमें जबरदस्ती वैधव्य की विषमय रीति से छुटकारा प्राप्त करना होगा। सुधार उन लोगों के द्वारा होना चाहिये, जिनके बाल-विधवा कन्यायें हैं। वे अपने मन में साहस उत्पन्न करें और उनको देखना चाहिए कि उनकी अध्यक्षता में जो बाल-विधवाएँ हों, उन सबका विवाह हो; क्योंकि वास्तव में उनका विवाह कभी नहीं हुआ।" (यंग इण्डिया, ५ अगस्त, सन् १९२६ ई०; तेज, देहली, १२ अगस्त, सन् १९२५ ई०)

सिद्धान्त कहता है कि एक पुरुष या स्त्री को उस समय अपनी पत्नी या पति चुनना चाहिए, जिस समय वह प्रौढ़ अवस्था को पहुँचे और युवक हो, अपने भावों को वश में कर सके और सन्तान का अभिलाषी हो। जो लोग इन नियमों का पालन करते हैं और विवाह को एक परम

पवित्र प्रथा समझते हैं, संसार में कभी असन्तुष्ट और दुखी नहीं होते। जहाँ विवाह को पवित्र समझा गया है, वहाँ एकता केवल शरीरों की नहीं, वरन् आत्माओं का मेल होता है, जो एक पक्ष की मृत्यु पर भी टूट नहीं सकता। जहाँ सच्चा आत्मिक मेल है, वहाँ विधवा या विधुर का पुनर्विवाह अविचारणीय, अनुचित और अयुक्त है। वह विवाह, जिसमें विवाह का सच्चा नियम छोड़ दिया गया है, इस बात का अधिकारी ही नहीं कि उसे विवाह का नाम दिया जाय।.........विधवा-विवाह के सम्बन्ध में अपने विचारों का प्रकाश करना नहीं चाहता; परन्तु मैं यह निवेदन करूँगा कि कुँवारी कन्याओं का अवश्य पुनर्विवाह होना चाहिए। कुँवारी कन्याओं का पुनर्विवाह प्रत्येक माता-पिता का, जिनके यहाँ विधवा कन्याएं हैं, आवश्यक कर्त्तव्य समझता हूँ"। (यंग इण्डिया, ३ जून, सन् १९२६ ई०; प्रताप, लाहौर, ११ जून सन् १९२६ ई०)

(आर्य) महात्मा जी के उपर्युक्त लेखों से आपके निम्नांकित विचार प्रकट होते हैं—

(१) जिस लड़की का विवाह बचपन ही में कर दिया गया है, उसके उस विवाह को विवाह कहना ही मिथ्या है और यदि उसका पति मर जाय तो उसे विधवा कहना एक जंगली अपराध है; क्योंकि उसमें विवाह के सच्चे नियम को त्याग दिया गया है। इस हेतु, वास्तव में, उसका विवाह हुआ ही नहीं।

(२) बालाओं अर्थात् नाबालिगों का विवाह करना बड़ा अन्याय है। यह कभी न होना चाहिए; क्योंकि यह अप्राकृतिक है और इससे विधवाओं की संख्या बढ़ती है।

(३) प्रत्येक पुरुष और स्त्री का उस समय विवाह होना चाहिए, जब कि वह युवा हो जाय और उसे अपने लिए पत्नी और पति चुनने की बुद्धि हो।

(४) विवाह की प्राकृतिक आयु लड़के की २० वर्ष और लड़की की १६ वर्ष है।

(५) यह बड़ा अन्याय बल्कि अपराध है कि बूढ़े और बीमार आदमी कुँवारी लड़कियों को पत्नी बनाने के लिए ख़रीदें अथवा उनको अपनी गृहिणी बनावें।

(६) स्त्री और पुरुष के विवाह-सम्बन्धी अधिकार समान हैं। इस हेतु, यदि स्त्री के लिये पुनर्विवाह करना अनुचित है तो पुरुष के लिये भी उचित नहीं हो सकता और यदि पुरुष दुबारा विवाह कर सकता है तो स्त्री के लिये भी इसका निषेध नहीं हो सकता।

(७) बाल-विधवाओं या जो लड़कियाँ पन्द्रह वर्ष की आयु के भीतर विधवा हो गई हों, उनका विवाह कर देना धर्म है।

(८) हाँ, जो विधवा अपने पति के प्रेम का लाभ उठा चुकी हो, यदि वह स्वेच्छा से विधवा रहना चाहे और विवाह न करे तो वह आदरणीय है; परन्तु धर्म या प्रथा के नाम से

उसको अथवा वाल-विधवाओं को जबरदस्ती विधवा रखना असह्य अन्याय है ।

(आर्य) पाठक-वृन्द यदि महात्मा जी के उपर्युक्त विचारों को ध्यान से देखेंगे तो विदित होगा कि यह वैदिक धर्म के बिलकुल अनुकूल हैं और यह सब विचार वही हैं, जो ऋषि दयानन्द ने अपनी पुस्तकों में लिखे हैं, जिनका आर्यसमाज प्रचार करता है। यहाँ पर यह कहना भी अत्युक्ति में शामिल न होगा कि यह तो ऋषि दयानन्द के लेखों की ही नक़ल है। अन्तर केवल यह है कि ऋषि दयानन्द ने लड़के के विवाह की आयु २४ वर्ष बतलाई है और महात्मा जी ने २० वर्ष। हाँ, बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह के अतिरिक्त ऋषि दयानन्द ने बहुविवाह का भी निषेध किया है। सम्भवतः महात्मा जी भी इसके विरुद्ध ही होंगे। इन विधवाओं के अतिरिक्त भारत के कुछ प्रान्तों में परिवर्त्तन के विवाह भी होते हैं, जिनमें दोनों पक्ष से एक दूसरे को अपनी बहन आदि नाते की लड़कियाँ परिवर्त्तन में विवाह दी जाती हैं। भारतीयों ने इस प्रकार के अवैदिक विवाहों को प्रचलित करके अपने आपको और समाज को बड़ी हानि पहुँचाने के साथ-साथ वैदिक धर्म और सभ्यता को भी बड़ा बदनाम किया है; क्योंकि वैदिक विवाह का उद्देश्य तो सभ्य-समाज में सम्मिलित होने के योग्य शरीर, मन और बुद्धि से बलवान उत्तम सन्तान पैदा करना और गृहस्थ के अन्य सब कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए स्त्री-पुरुष को एक दूसरे का सच्चा साथी बनाना था; परन्तु इन

विवाहों से इसके बिलकुल विपरीत सन्तान सब प्रकार से निर्बल और रोगी पैदा होती हैं तथा स्त्री-पुरुष में सच्चा प्रेम भी कुछ नहीं होता और एक समान गुण-कर्म न होने से रात-दिन घर में झगड़ा मचा रहता है। वैदिक विवाह जहाँ स्त्री-पुरुष में एक दूसरे के लिए सच्चे त्याग और हित पर अवलम्बित सच्ची एकता उत्पन्न करनेवाला एक पवित्र धार्मिक सम्बन्ध है, वहाँ वृद्ध-विवाह, बहु-विवाह और परिवर्त्तन के विवाह ने इसको एक व्यापार की वस्तु बनाकर इसकी पवित्रता और गौरव को मटियामेट कर दिया है; क्योंकि इन विवाहों में कहीं पर लड़की और कहीं पर लड़के को खरीदकर प्रायः विषय-भोग के लिए ही लड़की को पत्नी और लड़के को पति बनाया जाता और पत्नी बनाने के लिए नातेदार लड़कियों का परस्पर परिवर्त्तन किया जाता है। इनमें दम्पति की आयु, योग्यता और स्वास्थ्य आदि गुणों की समानता और अनुकूलता की लेशमात्र भी चिन्ता नहीं की जाती। ऐसी अवस्था में एक दूसरे के प्राण-प्रिय, सच्चे सहायक, सहानुभूति रखनेवाले और दुःख दूर करनेवाले पति-पत्नी का मिलना बिलकुल असम्भव है, इसलिए उनको विवाह करना भी उचित नहीं।

छुआछूत

(महात्मा जी) "हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में मेरा यह मत है और इसलिए छुआछूत के विषय में मेरा मन अनुकूल नहीं रहा।

मैं इसे सदा एक अनावश्यक बात मानता आ रहा हूँ। हाँ, यह सच है कि यह प्रथा हमारे यहाँ परम्परा से चली आ रही है और दूसरी भी ऐसी कितनी ही प्रथाएं आज तक प्रचलित हैं। बड़ी लज्जा की बात होगी यदि मैं यह विचार करने लगूँ कि लड़कियों को वस्तुतः वेश्यावृत्ति के लिए समर्पित कर देना हिन्दूधर्म का एक अंग है—परन्तु मैं देखता हूँ कि हिन्दुस्तान के कितने ही भागों के हिन्दू लोगों में यह प्रथा प्रचलित है।…………मेरा यह अनुमान ठीक हो या न हो। अस्पृश्यता, तर्क, दया, करुणा और प्रेम-भाव के विरुद्ध अवश्य है और मैं तो अछूत जातियों को अपने से अलग रखने की अपेक्षा अपने शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाने से अधिक सन्तुष्ट रहूँगा।" (नवजीवन, ७ अक्तूबर, सन् १६२१ ई०)।

"छूतछात को धर्म की ओर से आज्ञा नहीं है। यह तो शैतान का धर्म है। अपने लाभ के लिए शैतान भी पवित्र ग्रन्थ का प्रमाण दिया करता है। परन्तु इस प्रकार के प्रमाणों से सचाई और विश्वास को दूर नहीं किया जा सकता। इनका काम तो विश्वास को शुद्ध करना और सचाई को व्यक्त करना है।"—(यंग इण्डिया, हिन्दी, दूसरा भाग, पृष्ठ ७१६; प्रताप, लाहौर, २६ जनवरी, सन् १६२१ ई०)।

"परन्तु मैं किसी को छूने से घृणा करना मनुष्य-जाति के विरुद्ध एक लज्जाजनक अपराध समझता हूँ। यह आत्म-संयम का लक्षण नहीं, वरन् उच्चता तथा श्रेष्ठता की एक अभिमान-पूर्ण सनक

है............और मुझे इस पाप-पूर्ण प्रथा के समर्थन के लिए सन्दिग्ध प्रमाण को अस्वीकार करने में कुछ भी सङ्कोच नहीं। निस्सन्देह मैं सब प्रमाणों को, यदि मेरी बुद्धि अथवा मेरी आत्मा के आदेश के प्रतिकूल होंगे, रद्द कर दूँगा।" (प्रताप, लाहौर, १५ दिसम्बर, सन् १६२० ई०)

(आर्य) छूत-अछूत के सम्बन्ध में भी महात्मा जी के विचार अत्यन्त स्पष्ट हैं। इनमें किसी प्रकार की भी आनाकानी नहीं है। यदि महात्मा जी का हिन्दू-धर्म से आशय वैदिक धर्म से है तब आपका यह कहना भी अनभिज्ञता पर निर्भर है कि छुआछूत के सम्बन्ध में आपका मत उसके अनुकूल नहीं रहा; क्योंकि छूत-अछूत के सम्बन्ध में जो मत आपका है, वह वैदिक धर्म के अति अनुकूल है। महात्मा जी छूतछात की प्राचीन प्रथा मानते हुए भी उसे वैसा ही गर्हित तथा घृणा-योग्य मानते हैं, जैसा कि कुछ पहाड़ी प्रदेशों के रहनेवाले लोगों का अपनी लड़कियों से वेश्यावृत्ति कराने की वर्त्तमान सदाचार-नाशक प्रथा को। आपने जो छूतछात की रीति को परम्परा से माना है, उसका आशय भी अति प्राचीन काल की प्रथा नहीं समझा जा सकता; क्योंकि किसी भी प्रामाणिक ग्रन्थ में छूत-अछूत की चर्चा तक नहीं है। स्वयं महात्मा जी भी मानते हैं कि वेदादि पवित्र ग्रन्थ भी छूतछात का कदापि समर्थन नहीं करते; क्योंकि यह तर्क और सचाई के विरुद्ध है। वेदादि शास्त्र तर्क और सचाई के अनुकूल हैं। आपका यह कहना महर्षि कणाद के इस सूत्र के अति अनुकूल है :—

बुद्धिपूर्वा वाक्य कृतिर्वेदे ।

(वैशेषिक ६—१—१)

अर्थात् वेद के वाक्य बुद्धि के अनुसार हैं । यही कारण है कि आप संस्कृत के इन प्रमाणों को भी सन्दिग्ध मानते हैं और बुद्धि-विरुद्ध होने के कारण उनके मानने से इन्कार करते हैं, जो कि छूतछात को विहित सिद्ध करने के निमित्त पेश किये जाते हैं । आप ऐसे प्रमाणों को पेश करनेवालों को शैतान से उपमा देते हुए प्रमाणों को भ्रम में डालनेवाला बतलाते हैं । वास्तव में छूतछात की प्रथा भारत के पतन-काल से प्रारम्भ हुई है । उसका कारण भी प्राय: वंशानुगत अथवा जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था का मिथ्याभिमान ही है, जिसके कारण ब्राह्मणादि द्विजवंशों में जन्म लेनेवाले अभिमानियों ने अपने को जन्म से उच्च और दूसरों को जन्म से नीच मानकर उनसे घृणा करते हुए इस घृणा-योग्य छूतछात को प्रचलित किया । इसे महात्मा जी ने इन शब्दों में वर्णित किया है कि 'छूतछात आत्म-संयम का चिह्न नहीं है; वरन् श्रेष्ठता तथा बड़प्पन का झूठा घमंड है; परन्तु अचरज यह है कि ऐसा विचार रखते हुए भी महात्मा जी ने वर्ण को जन्म से माना है, जो कि आपके इस विचार के बिलकुल प्रतिकूल है ।

परदा

महात्मा जी "परदे का परदा फाड़ दो" शीर्षक लेख के नीचे लिखते हैं:—

"मैंने विचार किया कि एक जंगली प्रथा से चिपट-कर पुरुष लोग भारत की स्त्री-जाति से घोर अन्याय कर रहे हैं। यह रीति जब चली थी, उससे उस समय चाहे कितना ही लाभ क्यों न हुआ हो, परन्तु अब यह रीति बिलकुल निरर्थक हो चुकी है और देश को अमित हानि पहुँचा रही है··········· हमारी देवियों को उतनी ही स्वतन्त्रता क्यों नहीं प्राप्त होती जितनी कि पुरुषों को है, क्यों न इन्हें सैर करने और ताजी हवा (शुद्ध वायु) में सांस लेने की आज्ञा हो·····पुरुष भी उसी अवस्था में पुरुष कहला सकते हैं, जब कि वह अपनी स्त्रियों पर उसी तरह विश्वास करें, जिस तरह कि स्त्रियाँ पुरुषों पर भरोसा करने के लिए बाध्य हैं। हमें अपने एक रोग-ग्रसित तथा निकम्मे अङ्ग के साथ जीवन नहीं बिताना चाहिए।···········आओ! इसलिए हम एक महान् प्रयत्न से परदे का परदा फाड़ डालें।" (यंग इण्डिया, ३ फ़रवरी, सन् १९२७ ई०; तेज, देहली, ६ फ़रवरी, सन् १९२७ ई०)

(आर्य) महात्मा जी के शब्द बिलकुल स्पष्ट हैं। इस हेतु इन पर टीका-टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है। हम आपके इस प्रकरण में पूर्ण सहमत हैं।

अन्तिम प्रतिज्ञा

(महात्मा जी) "ऊपर की बातों से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू-धर्म संकुचित धर्म नहीं है। उसमें संसार के समस्त पैग़म्बरों की पूजा के लिए स्थान है। यह कोई मिशनरी धर्म—किसी धर्ममत का प्रचारक धर्म नहीं है। हाँ, इसमें कितनी ही भिन्न-भिन्न जातियों का समावेश हुआ है, परन्तु उनकी तद्रूपता (हिन्दू हो जाना) विकासात्मक और अत्यन्त सूक्ष्म है। हिन्दू-धर्म तो हर एक मनुष्य से यह कहता है कि तुम अपने विश्वास अथवा धर्म के अनुसार ईश्वर का भजन-पूजन करो। इस प्रकार वह दूसरे समस्त धर्मों के साथ मेल-जोल से रहता है।" (नवजीवन, ७ अक्टूबर, सन् १९२१ ई०)

(आर्य) यद्यपि महात्मा जी ने नवजीवन, ७ अक्टूबर, सन् १९२१ ई० में "हिन्दू-धर्म" शीर्षक निबन्ध के इस अन्तिम भाग में इससे पूर्व-वर्णित धार्मिक मन्तव्यों ही पर उपर्युक्त प्रतिज्ञा को निर्भर बतलाया है; परन्तु सच यह है कि उनसे इसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यह तो केवल आपका स्वतन्त्र विचार है, जिसका आधार सिवाय आपके मानसिक भावों के और कुछ नहीं है। पाठक-वृन्द स्वयं पीछे लिखे हुए आपके धार्मिक मन्तव्यों पर दृष्टि डालकर इसकी सत्यता को जाँच सकते हैं। इस हेतु, यद्यपि आप अपनी उपर्युक्त प्रतिज्ञा (दावा) के लिए कोई प्रमाण नहीं दे सके तो भी यह उचित प्रतीत होता है कि आपके

इस मनोहर प्रतिज्ञा के प्रत्येक अङ्ग की सचाई पर भी कुछ विचार किया जाय, क्योंकि यह प्रतिज्ञा (दावा) हिन्दुओं के धर्म को एक ऐसे रूप में रखती है, जिसका जानना प्रत्येक धार्मिक और राजनीतिक भाई के लिए ज़रूरी है।

क्या हिन्दू-धर्म में अहिन्दू-पैग़म्बरों की पूजा के लिये स्थान है?

(१) महात्मा जी के दावा का पहला अंश है—हिन्दू-धर्म संकुचित नहीं है और उसमें संसार के सारे पैग़म्बरों की पूजा के लिए स्थान है।

पाठक-वृन्द ! हिन्दू-धर्म संकुचित है या विशाल, इस पर हम पीछे भली भाँति प्रकाश डाल चुके हैं और पौराणिक हिन्दुओं के वर्त्तमान विचार तथा कार्य दोनों की संकीर्णता को भी स्पष्टतया दिखला आये हैं। यदि यहाँ हिन्दू-धर्म से महात्मा जी का अभिप्राय वर्त्तमान हिन्दू-सम्प्रदायों के धर्म से है तो मैं कहूँगा कि आपका यह दावा बिलकुल निराधार है; क्योंकि मैं वास्तविकता के आधार पर कह सकता हूँ कि महात्मा जी के इस दावे का मूलाधार आपकी हिन्दू-मुस्लिम-एकता की हार्दिक इच्छा है; न कि हिन्दुओं के धर्म और इतिहास की आन्तरिक साक्षी।

इस प्रकार के विचार राजनीतिक क्षेत्र में हिन्दू तथा अहिन्दू-एकता के साधन समझे जाते हैं, इसलिए राजनीतिक नेता कभी-कभी ऐसी बात प्रकाशित करते रहते हैं। काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री बाबू भगवानदास जी ने भी एक बार भारत-मित्र कलकत्ता के प्रतिनिधि से इण्टरव्यू में कहा था कि यदि हिन्दू लोग हज़रत ईसा और हज़रत मुहम्मद को ऋषियों में मान लें तो इससे हिन्दुओं और अहिन्दुओं में जो पारस्परिक घृणा है, वह दूर हो सकती है। हिन्दू-अहिन्दू-एकता का विचार एक शुभ विचार है और हम इसका हृदय से आदर करते हैं, परन्तु इस दावे की सचाई से इन्कार करते हैं कि हिन्दुओं के धर्म में अहिन्दुओं के पैग़म्बरों की पूजा का स्थान है; क्योंकि साम्प्रदायिक सिद्धान्तों में अहिन्दू-पैग़म्बरों की पूजा का स्थान तो दूर रहा, स्वयं हिन्दुओं के भी किसी एक सम्प्रदाय में दूसरे हिन्दू सम्प्रदाय के आचार्य की पूजा, अपने आचार्य के तुल्य नहीं होती है। हाँ, यह बात अवश्य है कि जब तक हिन्दू एक वैदिक धर्म के मानने वाले थे और अनेक मत-मतान्तरों में विभक्त नहीं हुए थे तब तक जिन ऋषि-मुनि आदि महापुरुषों को वे अपनी पूजा का पात्र समझते थे, उनकी पूजा तो सम्प्रदायों में बँट जाने के बाद भी सब साम्प्रदायिक लोग करते रहे, परन्तु सम्प्रदायों में विभक्त हो जाने के बाद जो आचार्य हुए, उनको उस सम्प्रदाय के सिवाय, जिसके साथ उसका साम्प्रदायिक सम्बन्ध था, दूसरे किसी सम्प्रदाय ने अपना आचार्य मानकर उसको अपनी पूजा के

योग्य नहीं समझा। केवल यही नहीं कि साम्प्रदायिक लोग एक दूसरे के आचार्य को पूजा के योग्य नहीं समझते रहे, वरन् एक दूसरे के मत का खण्डन और आचार्यों पर आक्षेप भी करते रहे हैं। शैव, शाक्त, वैष्णव, शंकर और रामानुज आदि सम्प्रदायों के ग्रन्थ इसके अकाट्य प्रमाण हैं। इस हेतु हिन्दुओं के साम्प्रदायिक विश्वासों तथा भावों और मुसलमानों व ईसाइयों का गो-मांस-भक्षण आदि आर्य-संस्कृति और आदर्श के विरुद्ध आचार तथा व्यवहार की विद्यमानता में इसकी कदापि आशा नहीं की जा सकती। मेरे इस वर्णन का समर्थन सनातन-धर्मी हिन्दुओं के निम्नलिखित उस प्रस्ताव से भी होता है, जो सोनपुर, विहार प्रान्त में महाराजा, साहब दरभंगा की अध्यक्षता में होनेवाली सनातन-धर्म कान्फ्रेंस ने पास किया था।

"इस कान्फ्रेंस की सम्मति में विधर्मियों के देवता जैसे पैग़म्बर, क़ब्र, पाँच पीर, ग़ाज़ो मियाँ, सैयद सालार और ताज़िया आदि की पूजा या उसमें किसी प्रकार की सहायता देना धर्मशास्त्र की मर्यादा के विरुद्ध है। इसलिए किसी को उनकी पूजा नहीं करनी चाहिए और जहाँ यह रीति मौजूद हो, उसको नष्ट करना चाहिए"। (तेज, देहली, पहली दिसम्बर, सन् १६२६ ई०)

यहाँ पर यह आक्षेप हो सकता है कि "बौद्धधर्म के प्रवर्त्तक महात्मा बुद्ध को बहुत से धार्मिक विश्वासों में मतभेद होने पर भी जिन हिन्दुओं ने अवतार मान लिया है, वे हिन्दू अहिन्दुओं के

पैग़म्बरों की पूजा भी कर सकते हैं" इसके उत्तर में मैं निवेदन करूँगा कि—

(१) पहले तो यह उदाहरण अहिन्दुओं के पैग़म्बरों की पूजा के लिए घट नहीं सकता, क्योंकि महात्मा बुद्ध स्वयं हिन्दुओं में से थे। वह स्वयं और उनके अनुयायी हिन्दुस्तानी बौद्ध भी आर्य सभ्यता और अहिंसा आदि कई एक वैदिक सिद्धान्तों के मानने-वाले थे। हिन्दुस्तानी बौद्धों और हिन्दुओं के खान-पान और आचार-व्यवहार भी एक ही से थे; परन्तु ईसाइयों और मुसल-मानों की सभ्यता, खान-पान और आचार-व्यवहार हिन्दुओं से भिन्न हैं।

(२) ईसाइयों और मुसलमानों ने हिन्दुओं के अवतारों और ऋषि-मुनियों की पेट भर निन्दा की है। इनके विरुद्ध बहुत सी पुस्तकें भी लिखी हैं, जिनमें हिन्दुओं के महापुरुषों पर अशिष्टता-पूर्ण आक्षेप किये गये हैं। ईसाइयों के ऐसे ही प्रचारात्मक गन्दे साहित्य को छोड़कर यहाँ पर केवल मुसलमान लेखकों ही की पुस्तकों से कई उद्धरण उदाहरण-स्वरूप लिखता हूँ :—

"तुम लोग ऐसे कुबुद्धि, आत्म-प्रतिष्ठा-रहित और निर्लज्ज राम को, ऐसी दोषयुक्त सीता को स्मरण करके सीता-राम बकते फिरते हो। असुर रावण ने सीता को ले जाकर सात बरस तक उससे भोग करके उसके सत् को मिट्टी में मिला दिया।" (रद्द हिन्दू, पृष्ठ ३२ मुहम्मद इस्माइल कोकनी साकिन रत्नागिरी रचित, फ़ख़ुलमताबे लखनऊ, सन् १९१३ ई० में प्रकाशित)

"आश्चर्य है कि कृष्ण जैसे दुष्ट, व्यभिचारी, उपद्रवी को अवतार समझते हो। यह मालूम नहीं कि कृष्ण ग्वाले का बेटा था।" (रद्द हिन्दू, पृष्ठ २२)

"पाँचों पांडव और उनके पिता-पितामह सभी दुराचार, कुरीति और कुव्यवस्था, हत्याकारी, उपद्रवी व आत्मसम्मान-रहित, हरामी और हलाल के जने हुए थे।" (रद्द हिन्दू, पृष्ठ २६)

"ब्रह्मा, विष्णु, महेश यह तीनों दुष्ट, छली, विषयी और ऐसे दीन थे कि एक स्त्री के जादू से लड़के बन गये।" (तोहफ़तुल हिन्द में कथा सलोई पृष्ठ ६, मुहम्मद अब्दुल्ला-रचित, हिन्दुस्तानी प्रेस, लखनऊ में प्रकाशित)

"तेरी उपासनीय वह ही सरस्वती है, जो कि अपने पिता की प्रेमिका है, जो चिरकाल से थानेश्वर के नीचे पड़ी रहती है, अपनी लज्जा खोले"। (तेग़ फ़क़ीर, पृष्ठ ३८, मौलवी मुहम्मद हुसेन-रचित)

जिन पुस्तकों के प्रमाण ऊपर लिखे गये हैं, वह इसी प्रकार की गालियों से भरी हुई हैं। इनके अतिरिक्त "तलक़ीन मजहब" आदि अनेक पुस्तकें ऐसी हैं, जिनमें हिन्दुओं के पूज्य देवी देवताओं के सम्बन्ध में बहुत ही अश्लील वाक्य लिखे हुए हैं। मैं इससे अधिक उनमें से नक़ल करना उचित नहीं समझता। जो लोग हिन्दुओं के महापुरुषों और सती-साध्वी सीता जैसी सच्चरित्र आर्य देवियों के सम्बन्ध में इस प्रकार गाली-गलौज करते हैं, वे कैसे आशा कर सकते हैं कि हिन्दू उनके नेताओं की पूजा करें।

(३) सचेत हिन्दुओं की सम्मति है कि महात्मा बुद्ध को हिन्दुओं ने स्वयं अवतार नहीं माना, वरन् बौद्धों ने हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थों (पुराणों) में ऐसी मिलावट कर दी है, जिससे न केवल यही कि महात्मा बुद्ध अवतार सिद्ध हों, बल्कि हिन्दुओं के सब देवी-देवता भी कलंकित हों। इसका प्रमाण पुराणों के उन लेखों से अच्छी तरह मिल सकता है, जिनमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि सब देवताओं और ऋषि-मुनियों पर दोष लगाये गये हैं, परन्तु महात्मा बुद्ध पर किसी तरह का कोई कलंक नहीं लगाया गया। यह कार्य उन महापुरुषों के माननेवाले हिन्दू-भक्तों का कदापि नहीं हो सकता। साथ ही यह बात प्रकट है कि हिन्दू जिस तरह ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम और कृष्ण आदि अपने माने हुए देवता और अवतारों की मूर्त्तियों की पूजा करते हैं; उस तरह पर बुद्ध भगवान् की मूर्त्ति की पूजा नहीं करते, जिससे सिद्ध है कि क्रियात्मक रूप में हिन्दुओं ने महात्मा बुद्ध को भी अपनी पूजा का पात्र नहीं बनाया।

(४) कल्पना के लिये यदि यह मान भी लिया जाय कि हिन्दुओं ने स्वयं महात्मा बुद्ध को अवतार माना है तो भी इसका यह भयानक परिणाम उनके सामने है कि करोड़ों हिन्दू वैदिक धर्म से पतित होकर बौद्ध बन गये, जिनको फिर वैदिकधर्मी बनाने के लिए कुमारिल भट्ट और श्रीशंकराचार्य आदि महापुरुषों को बड़ा भारी प्रयत्न करना पड़ा था। इस हेतु हिन्दुओं को यह ऐतिहासिक घटना इस बात का आदेश करती है कि यदि वे हज़रत ईसा और हज़रत मुहम्मद को पैग़म्बर या अवतार व ऋषि-मुनि

मानकर उन्हें अपनी पूजा का पात्र बनायेंगे तो उनके बहुत से सीधे-सादे हिन्दू भाई बड़ी सुगमता से ईसाई और मुसलमान बनाये जायँगे, क्योंकि जो ईसाई और मुसलमान प्रचारक हिन्दुओं को ईसाई और मुसलमान बनाने के लिए प्रत्येक समय घात में लगे रहते हैं; वे हिन्दुओं की इस उदारता तथा सम्बन्ध से अनुचित लाभ उठाने में कुछ भी क़सर न रक्खेंगे।

(५) यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि महात्मा जी और आपके से विचार रखनेवाले अन्य कई हिन्दू नेता, हिन्दू तथा अहिन्दू-ऐक्य के वास्ते आज अहिन्दुओं के पीर तथा पैग़म्बरों की पूजा और उनके पवित्र माने हुए ग्रन्थों को ईश्वर-कृत मानने के लिये जिस भाव को हिन्दुओं के हृदय में पैठाना चाहते हैं, वह तो ईसाइयों और मुसलमानों की परम्परागत इच्छा है; क्योंकि वे इस रहस्य को अच्छी तरह समझते हैं कि इससे हिन्दुओं के हृदयों में ईसाइयत और इस्लाम का बीज बोकर अति सुगमता से उन्हें ईसाई और मुसलमान बनाया जा सकता है। साथ ही साथ हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के लिए वे इस साधन को बहुत अनुचित रीति से सदा से प्रयुक्त करते चले आये हैं और कर रहे हैं। वे तो बड़ी व्याकुलता से उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे हैं कि जिस दिन महात्मा जी आदि हिन्दू लीडरों की कृपा से उनकी वह हार्दिक इच्छा पूर्ण होगी; जिसको वह सैकड़ों वर्ष के प्रयत्न से भी उचित रीति पर पूरा नहीं कर सके। उनकी इस अभिलाषा और आशा का पता निम्नलिखित उद्धरणों से लगता है—

(१) सर आर्थर रे ने डेली टेलीग्राफ लंदन में नौजवान भारत के सम्बन्ध में अपने विचारों को प्रकट करते हुए पैरा १ में लिखा था—

'महात्मा गान्धी के प्रभाव के कारण लोगों में यह भाव उत्पन्न हो रहा है कि क्या हिन्दू रहते हुए हम महात्मा ईसा के भक्त नहीं बन सकते।' —(आर्य, लाहौर, ११ दिसम्बर, सन् १६२६ ई०)

(२) नैशनल-क्रिश्चियन-कौन्सिल-रिव्यू में लिखा है—"इस समय हिन्दू पहले से अधिक उदार हो रहे हैं। भारत के ईसाई आजकल यह सोच रहे हैं कि हिन्दू-धर्म ईसाइयों को ईसाई रहते हुए हिन्दू परिवार का मेम्बर बनने की आज्ञा दे सकता है'। ....हमें इस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए जिससे हम हिन्दुओं के घरों के मेम्बर बन सकें।

स्वयं महात्मा जी यंग-इण्डिया में "ईश्वर एक है" निबन्ध के नीचे लिखते हैं—

"मैं इस समय अपने पाठकों का ध्यान उन मुसलमान महाशयों (जो, १८ सितम्बर, सन् १९२४ ई०, की रात को डेपुटेशन के रूप में आपके समीप उपस्थित हुए थे) के पेश किये हुये उपाय की ओर दिलाना चाहता हूँ जो उन्होंने वर्त्तमान स्थिति में विषयों को सुलझाने के वास्ते पेश किया। इन मुसलमान भाइयों ने कहा, "हम वेदों को ईश्वर-कृत मानते हैं। श्री रामचन्द्र और श्रीकृष्ण महाराज पर विश्वास रखते हैं। हिन्दू क्यों क़ुरान को इलहामी (ईश्वर-रचित) नहीं मानते और हमारे साथ यह कहने से हिच-

किचाते हैं—ला इला: इल्लिल्ला: मुहम्मदर्रसूलिल्ला: । हमारा मजहब बिलकुल निराला नहीं है।"—(यंग इण्डिया, २५ सितम्बर, सन् १९२४ ई०; तेज, देहली, २ अक्तूबर, सन् १९२४ ई०)

इससे आगे महात्मा जी ने इसी पर अपनी निम्नलिखित सम्मति दी है—

"अब मैं इस चित्ताकर्षक उपाय की परीक्षा करता हूँ जो मेरे मुसलमान मित्रों ने पेश किया है और यह बतलाना चाहता हूँ कि मुझे इसमें से कम से कम क्या स्वीकार है।.................. वास्तव में सर्वसाधारण मुसलमान वेदों और हिन्दुओं के अन्य पवित्र ग्रन्थों को इलहामी (ईश्वर-रचित) नहीं मानते और न तो राम-कृष्ण को नबी अथवा ईश्वर का अवतार मानने को ही तैयार हैं। (राम और कृष्ण को कट्टर मुसलमान जैसा मानते हैं उसका नमूना पैरा २ में लिखा गया है—ग्रन्थकर्त्ता) मुझे ज्ञात है कि कई हिन्दू वर्गों में हज़रत मुहम्मद साहब को सादर स्मरण किया जाता है, बल्कि हिन्दुओं ने ऐसे गीत बनाये हैं जिनमें इस्लाम की महिमा गाई गई है"—(यंग इण्डिया, २५ सितम्बर, सन् १९२४ ई०; तेज़, देहली, २ अक्तूबर, सन् १९२४ ई०)

यह तो है वर्त्तमान ईसाइयों और मुसलमानों की हार्दिक अभिलाषा और महात्मा जी से उनकी आशाओं का फ़ोटो। अब मैं नीचे कुछ ऐसी चित्ताकर्षक घटनाओं को भी लिखता हूँ जिनसे ईसाई और मुसलमान प्रचारकों की, उनके छल पर निर्भर, करतूतों का दिग्दर्शन होगा जिनके द्वारा वे अपने पीर, पैग़म्बरों को अवतार

और अपनी पुस्तकों को वेद आदि प्रकट करके हिन्दुओं को अपने जाल में फँसाते चले आ रहे हैं। इससे पाठकों को ज्ञात हो जायगा कि यह विचार हिन्दुओं के लिए कितना हानि-प्रद और भयानक सिद्ध हुआ है।
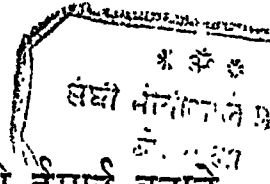
ईसाइयों के द्वारा हिन्दुओं को ईसाई बनाने की अशिष्ट रीतियाँ

(१) श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज अपनी रची पुस्तक "अन्धा एतक़ाद और ख़ुफ़िया जहाद" के पृष्ठ ११७ पर थियोडोर ग्रीसिंजर की बनाई "दी जीसूइट्स" नामक पुस्तक से नक़ल करते हैं कि—

"ज़्यूटर के वाद दूसरे प्रकार के ईसाई पादरी आने लगे। वे सब अपनी संख्या बढ़ाने की ओर प्रवृत्त हुये जिनका बहुत सीधा-सादा ढंग था। ये सरल साधन क्या थे? यह ढंग इसके सिवाय कुछ नहीं था कि चूँकि सारे हिन्दुस्थान में ब्राह्मण-धर्म प्रचलित था, इसलिए ये पादरी हिन्दुस्तानी पुजारियों तथा ब्राह्मणों का वेश दना लेते थे ताकि वे हिन्दुस्तानियों के सामने जिन्हें विदेशियों से स्वाभाविक घृणा थी इस देश के निवासी समझे जावें और साथ ही वे अपनी ईसाइयत को वर्त्तमान हिन्दू विचारों तथा रीतियों के साथ मिला-जुला लेते थे।

तब वे केवल वपतिस्मा देकर उन हिन्दुओं के नाम बदल देते थे। शेष बातों में वे हिन्दू के हिन्दू ही बने रहते थे ....

मेरे लिए यह सुगम है कि उन सम्पूर्ण जीसुयिटों की सूची बना दूँ जो इस भाँति देश में ब्राह्मण बनकर भ्रमण करते और सलीब (सूली) को पाँवतले रौंदते थे; परन्तु यहाँ पर दो उदाहरणों से सन्तोष करूँगा। पहला पीटर कांसेण्टाइनो वेशची था जिसने बड़ी सावधानी से हिन्दी और संस्कृत भाषा का अध्ययन किया था और ब्राह्मणों की प्रथाओं और नियमों और रहन-सहन का ऐसी उत्तमता से अनुकरण करता था कि दक्षिण के निवासी उसे एक सन्त के समान पूजने लगे थे।

(२) पादरी रोबरटो-दी-नोबली ने जो एक प्रसिद्ध ईसाई उपदेशक था संस्कृत का अध्ययन किया। ईसाई उपदेशों को संस्कृत में लिखा। एक संन्यासी का वेष बनाकर उसने अपना उपदेश आरम्भ किया। लोग झुण्ड के झुण्ड उसका उपदेश सुनने को इकट्ठे होने लगे। उसे संन्यासी समझ उनके साथ खाया-पिया। फिर एक बड़ी सभा में जहाँ बहुत से नगर-निवासी भी मौजूद थे, इस सन्यासी वेशधारी (झूठे सन्यासी) बगुला ने उनके (जो पंचम वेद को सुनने आया करते थे और हज़ारों की संख्या में थे) ईसाई बन जाने का समाचार सुनाया। जब

उसने अपने आपको कैथलिक-पन्थ के धर्मोपदेशक के रूप में प्रकट किया तब लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन सबने कहा कि हम ईसाई न बनेंगे, हम हिन्दू हैं, परन्तु उन कट्टर हिन्दुओंने जो वहाँ मौजूद थे, उन्हें हिन्दू मानने से इनकार किया इत्यादि। (वैदिक-धर्म, अगस्त, सन् १६२६ ई०)।

(३) ईसाइयों ने हिन्दुओं को हज़रत ईसा का विश्वासी बनाने के लिए निम्न प्रकार की पुस्तकें बनाईं और उनके नाम भी हिन्दुओं की पुस्तकों के सदृश ही रक्खे जिससे हिन्दू लोग हज़रत ईसा को हिन्दू समझ कर उस पर ईमान ले आयें।

"मंगल समाचार, सुन्दर पुरानी कथा, दान उते दान, धर्म-पुस्तक का सार, गुरु-ज्ञान, जेही करनी तेही भरनी, गीता की पोथी, ईसा निःकलंक की मौत, गुरु-परीक्षा, अयात मुक्तावली, इत्यादि"।

(४) ईसाइयों की जो मुक्तिफ़ौज नाम की संस्था है, उसने भी अपना नाम हिन्दुओं के सदृश और हिन्दू साधुओं समान भगवा-वेश इसीलिए रक्खा है कि वह अनभिज्ञ (नावाक़िफ़) हिन्दुओं को अपने जाल में फँसा कर ईसाई बना सके। इसके प्रमाण के लिए मैं अपनी आँख देखी एक घटना लिखता हूँ। लगभग पचीस साल बीते, एक बार मैं रामनवमी के मेले पर अयोध्या में अपने अन्य आर्य भाइयों के साथ था। वहाँ हमने मेले में घूमते हुए एक भगवा-वस्त्रधारी मुक्तिफ़ौज के आदमी के साथ एक हिन्दू-बालक को देखा। हमने उस लड़के से पूछा कि तू कौन है? कहाँ का है? और इसके साथ क्यों घूम रहा है?

उसने बतलाया कि " मैं गोरखपुर का रहनेवाला हूँ। घर से भाग कर आया हूँ। इस साधू ने मुझे दो पैसा के चने लेकर दिये हैं और कहा है कि मैं साधू हूँ, तुझे काशी ले चलूँगा और वहाँ तुझे संस्कृत पढ़ाऊँगा।" तब हमने उस साधु-वेशधारी मुक्तिफ़ौज के सोलजर से पूछा कि तुम इस नाबालिग़ हिन्दू लड़के को धोखा देकर अपने साथ क्यों ले जा रहे हो ? इसका उत्तर उसने यह दिया कि यह लड़का मेरे साथ नहीं है। हमने फिर उस लड़के को फ़ैजाबाद-आर्यसमाज में ले जाकर उसके सम्बन्धियों से पत्र-व्यवहार करके उसको उसके घर पहुँचा दिया।

हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के लिये मुसलमानों के जहाद सम्बन्धी गुप्त कार्य

(१) मौलाना मुहम्मद नज्मुलग़नी साहब रामपुरी स्वरचित पुस्तक "मज़ाहबुल इस्लाम" तृतीय संस्करण के पृष्ठ ३५५ पर लिखते हैं।

अर्नाल्ड कृत प्रीचिंग आफ़ इस्लाम के पृष्ठ २२५ में वर्णित है कि पीर सदरुद्दीन आज से चार सौ बरस पहले सिन्ध में आए थे और स्माईली-मज़हब रखते थे। उन्होंने अपना एक हिन्दू नाम रखा था और उन्होंने हिन्दुओं के धर्म से समानता रखनें वाली एक पुस्तक बनाई जिसका नाम उन्होंने 'दस अवतार' रक्खा था। इस पुस्तक में हज़रत अली को दसवाँ

अवतार माना था, खोजों ने इस पुस्तक को आरम्भ से ही ईश्वरी-पुस्तक के तुल्य माना। मृत्यु के समय से वह पुस्तक सदा मंगल-कामना के निमित्त पढ़ी जाती है और इसी प्रकार अनेक अवसरों पर उसे पढ़ते हैं। इस पुस्तक में उन्होंने ब्रह्मा आँहज़रत मुहम्मद साहब को, विष्णु हज़रत अली को और हज़रत आदम को शिव बताया।

(२) आप फिर पृष्ठ ३७२-३७३ पर "गुप्त तहक़ीक" प्रकरण के नीचे लिखते हैं :—

"शाह साहब ने (आग़ा खाँ प्रथम के पौत्रों में से एक पीर इमाम शाह) उनसे बैअत (दीक्षा) ली और निम्नांकित शिक्षा दी—ख़ुदा को एक मानो। उसके रसूल पर ईमान लाओ। अली को कृष्ण का अवतार समझो; और इमामशाह को अली का सहायक मानो। अपने विश्वास को छिपाओ और गुप्ती रहो। पहिनावा हिन्दुओं के तुल्य रक्खो। प्राचीन प्रथाओं पर स्थिर रहो। मांस मत खाओ। नाम मत बदलो। पाँच समय की नमाज़ तुमको आवश्यक नहीं। केवल यह चाहिए—ला इलाः इल्लिल्लाः अलहम्दुलिल्लाः, अल्लाः ओ अकबर कुल हु अल्लाः—का वज़ीफ़ा चुपके-चुपके पढ़ लिया करो। वज़ू न करो, नहीं तो तुम पर सन्देह किया जायगा। इसके बदले स्नान किया करो। रोज़े रमज़ान में न रक्खो,

---

[1] जहाद = इस्लाम के प्रचारार्थ युद्ध

लोग सन्देह करेंगे। रजब के महीने में इस कर्त्तव्य का पालन किया करो।

ज़कात तुम पर यह है कि आय का दशाँश अपने गुरु इमाम शाह को दिया करो। फलतः इन सब आज्ञाओं को पालन किया गया और गुप्ती लोगों की संख्या बढ़ने लगी। उस समय इमाम शाह ने एक पुस्तक लिखी जिसका नाम "सत दीनी" है, अर्थात् ईश्वर के सच्चे वाक्य। यह गुजराती भाषा में "मसनवी मौलाना रोम" की शैली पर है, जिसके आरंभ में यह लिखा है—"पहला सिरजनहार बखानो। उसको जपना कुछ शक न आनो।" अर्थात् सृष्टि के प्रथम निर्माता की स्तुति करो और उसके भजने तथा स्मरण में सन्देह न करो। सहायक इमाम शाह हिन्दू-पहिनावा में सतदीनी भजन गाते फिरते हैं और लोगों को अली के पन्थ में प्रविष्ट करते हैं। उन्होंने स्थान-स्थान पर अली के मन्दिर बनाये, जहाँ गुप्ती एकत्र होकर प्रार्थना करते और भजन सुनते हैं। गुप्ती लोगों में जब कोई मर जाता है तो वह जलाया जाता है परन्तु उसकी एक उँगली अथवा अँग काट कर पीर की छाया के नीचे दफ़न करते हैं।

अन्त में धीरे-धीरे इन गुप्तियों को भी इस्लाम की ओर खुल्लम-खुल्ला खींचा गया। और इनमें से बहुत से प्रकट रूप से मुसलमान होने लगे। जो गुप्ती प्रकट रूप से मुसलमान होता उसका जनेऊ पीर को दिया जाता और फिर उसको प्रगटी और मोमिन की पदवी दी जाती। (यह अनुमान

प्रबल है कि मुसलमानों का वर्त्तमान मेमन (मोमिन) सम्प्रदाय गुप्तियों से ही प्रगटी बना हुआ है—(ग्रन्थकर्त्ता)

आजकल पीर की दरगाह में प्रकटतया मुसलमान होने वालों के जनेउओं का एक बहुत बड़ा ढेर लगा हुआ है, जो स्मारक की रीति पर सुरक्षित रक्खा जाता है। गुप्तियों में इस समय पांच लाख हिन्दू सम्मिलित हैं जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, मरहठा, बनिया, श्रावत, कुनबी, चमार, ढेढ़, भङ्गी सभी जातियाँ हैं और डेढ़ लाख के लगभग 'प्रगटी' हैं अर्थात् जो खुल्लम-खुल्ला मुसलमान होगये हैं। यह लोग इस्लाम और अली के नाम पर मुग्ध हैं। गुप्ती लोगों की पहचान करना असम्भव है। वे प्रकट तथा गुप्त दोनों रूप में हिन्दू दिखाई देते हैं। परन्तु एक गुप्ती दूसरे गुप्ती को देखते ही पहचान लेता है। इसी प्रकार एक 'प्रगटी' गुप्ती को और गुप्ती 'प्रगटी' को देखते ही समझ जाता है कि यह हमारे ढंग का मनुष्य है, इत्यादि।

(३) श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अपनी पुस्तक "अन्धा एतक़ाद और ख़ुफ़िया जहाद"* के पृष्ठ ७७-७८ पर एक शम्सी भाई की लेखनी से लिखे हुए मासिक पत्र में से आग़ाख़ानियों की मजहबी पुस्तकों का सारांश लिखा है। उसमें लिखा है—

"जब शम्स दीन का पोता हिन्दुस्तान के गुजरात प्रान्त में रहने के कारण हिन्दुओं के पुराण ग्रन्थों से भलीभाँति परिचित हो

---

* अन्धा एतक़ाद और ख़ुफ़िया जहाद" का अर्थ है अन्ध विश्वास और गुप्त जहाद।

गया तब उसने सोचा कि जब यह मुसलमानी राज्य न रहेगा तब हिन्दू हमको मानना छोड़ देंगे, इसलिए सदरूद्दीन ने इस्लाम शाह से मिल कर युक्ति निकाली कि हिन्दुओं को वश में रखने के लिए पुस्तकें बनायें। अवतार परमेश्वर के आदि से प्रारंभ करें और अन्तिम अवतार आपको बनायेंगे। चारों वेदों का अलग-अलग मिलना लिखें जिससे इस समय अथर्ववेद के स्थान पर क़ुरान हदीस निश्चय करायें। .... जिस तरह ईसाइयों ने अपने ईसा मसीह पर हिन्दुओं को निश्चय कराने के निमित्त हिन्दुओं की पुस्तकों के सदृश अपनी पुस्तकों के नाम रख दिये हैं जैसे "मंगल समाचार" आदि उसी तरह सदरूद्दीन तथा इमाम शाह आदि ने हिन्दुओं की पुस्तकों के समान नाम रक्खे जैसे दस अवतार, बुद्ध कथा, कर्म कथा, ध्रुव कथा, मूल गोत्री (गायत्री) निःकलंकी गीता, पांडवों की बेल, सत वचन, सन्ध्या अर्जुन गीता, अराध, विनय, गायत्री, हस्तिनापुरी सोगनान। इनको इकट्ठा करके ग़ुलाम हुसैन खोजे बम्बईवाले ने बीड़ (जिल्द) बाँध दिया इत्यादि।"

(४) पीर सदरुद्दीन इस्माईली प्रचारक ने हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के निमित्त अपने पैगम्बरों को अवतार के और हिन्दुओं के नाम तथा ढंग की पुस्तकें लिख कर जिस धूर्त्तता युक्त रीति को सन् १४३० ई० में हिन्दुस्तान में चलाया था उसका क्रम आज तक बराबर चला आ रहा है। इस समय भी सर आग़ा ख़ाँ साहब इसको बड़े ज़ोर से चला रहे हैं। उनके हज़ारों प्रचारक हज़रतअली

को कृष्ण का अवतार बतला कर और हिन्दुआना नाम और ढंग की पुस्तकें लिख कर अब भी भोले-भाले हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का काम कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तान के विभिन्न भागों में बहुत से ऐसे इस्लामी केन्द्र बने हुए हैं जो कि अनेक प्रकार के गुप्त साधनों से अचेत हिन्दुओं को दिन-रात मुसलमान बनाने और अपने पीर तथा पैग़म्बरों को विश्वासी बना कर उनकी पूजा कराने का काम करते चले आते हैं। इनमें से देहली के ख्वाजा हसन निज़ामी साहब ने अपनी पुस्तक "फ़ातमी दावत" के पृष्ठ १२५ से १३७ तक में "सिलसिलए क़ादरियः, सहर वर्दी, रिफ़ाई और चिश्चितयः आदि के निम्नांकित फकीरों का उल्लेख किया है।

पीर बघार (सिन्ध), पीर झंडेवाला (सिन्ध), हज़रत हाजी वारिस अली शाह (देवा, बाराबंकी), मखदूम हुसैन शाह (मुल्तान), हज़रत सैयद अहमद कबीर साहब, हज़रत सैयद ग़ौस अली शाह (पानीपत), मौलाना नूरी दास महराज वास्तव में मौलाना नूरुद्दीन क़ादरी (मारहरा, जिला एटा) हज़रत मौलाना सैयद शाह मुखलिसुर्रहमान साहब (मीरार खेल-चटगाँव बंगाल) ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (अजमेर) इत्यादि। इन मशायख़ (शेखों) और फ़क़ीरों के सम्बन्ध में ख्वाजा साहब "दाई इस्लाम" नाम की पुस्तिका के पृष्ठ १२ पर इस प्रकार लिखते हैं—"हिन्दुस्तान के जितने भी सम्प्रदाय इस्लाम से भिन्न हैं उनमें आशा तथा भय मुसलमानों से अधिक है। विशेष कर हिन्दू जाति का जीवन एकदम

आशा तथा भय पर निर्भर है। ....इस रहस्य को मुसलमान फ़क़ीरों ने समझ लिया था और इसी कारण उन्होंने करोड़ों हिन्दुस्तानियों को मुसलमान कर लिया और अब भी करोड़ों आदमी मुसलमान फ़क़ीरों के प्रभाव में हैं। इन्हीं केन्द्रों में से एक केन्द्र देहली निज़ामुद्दीन औलिया साहब का भी है, जिनके स्थानापन्न इस समय स्वयं ख़्वाजा हसन निज़ामी साहब हैं, जिन्होंने हिन्दुओं को फँसाने के लिए "कृष्ण बीती" आदि पुस्तकों के अतिरिक्त इस्लाम की रक्षा और प्रचार के लिए मुसलमानों को अत्यन्त अनुचित और सदाचार-विरुद्ध उपायों और चालबाज़ियों को सिखलानेवाली संसार में बदनाम "दाई इस्लाम" नामक एक पुस्तिका लिखी और गुप्त रीति से मुसलमानों में हज़ारों की संख्या में वितरण किया। यद्यपि यह पुस्तिका ख़्वाजा साहब ने ही लिखी है, परन्तु पुस्तिका का विषय गुप्त रीति से इस्लाम के प्रचार में दक्ष, कई एक ख़ास मुसलमान महाशयों और अंजुमनों (मुसलमानी सभाओं) के पदाधिकारियों से परामर्श करके लिखा गया है, जैसा कि ख़्वाजा साहब स्वयं इस पुस्तिका के प्रथम संस्करण के आरम्भ में ही 'आवश्यक परामर्श' शीर्षक के नीचे लिखते हैं—

"भीतर का विषय शाबान (अरबी महीना) के आरम्भ में पूरा हो गया था, परन्तु छपा हुआ नहीं था कि मुझको बम्बई से हिज़ हाईनेस सर सुलतान मुहम्मदशाह आगा ख़ाँ ने मिलने को बुलाया। इसी इस्लाम की रक्षा तथा प्रचार के सम्बन्ध में बातें हुईं।

उसके बाद देहली में वापस आकर जनाब मौलाना किफ़ायतुल्ला साहब, जमैयत उल्माए हिन्द के सभापति, और जमैयत उल्मा के प्रबन्धकर्त्ता जनाब मौलाना अहमद सईद साहब से परामर्श हुआ। इसके अतिरिक्त और भी अनेक मशायख़ (शेख़ों) और उल्मा (विद्वानों) से वार्त्तालाप किया गया। प्रत्येक महाशय की सम्मति यही विदित हुई कि इस्लाम की रक्षा प्रचार के कार्य में कोलाहल मचाना और अख़बारों में प्रसिद्ध करना उचित नहीं है। अत्यन्त तत्परता से परन्तु बिलकुल चुप रहकर काम करना चाहिए।

इस हेतु सम्प्रति जितनी अंजुमनें[1] संयुक्त हो सकती थीं वे सब तबलीग़[2] के प्रतिनिधिओं के नाम से एक केन्द्र पर इकट्ठी हो गई हैं और उसका कार्यालय आगरा में स्थापित हुआ है।...... मेरे परामर्शदाता हज़रत सज्जादानशीं[3] साहब अजमेर शरीफ़ और जनाब मौलाना मताएउद्दीन साहब चिश्ती उर्फ़ पीर मोटामियाँ, सज्जादानशीं ख़ानक़ाह फ़रीदिया चिश्तिया (संगोल) और जनाब मौलाना नूरीदास महाराज (बम्बई) आदि महाशय होंगे; इत्यादि।"

इस पुस्तिका में वर्णित उपायों और चालबाज़ियों के आधार पर इस्लाम के प्रचारार्थ स्थिर किये हुए गुप्त-प्रबन्धों का यह फल हुआ कि हज़ारों हिन्दू बच्चे और स्त्रियाँ बहका कर मुसलमान

---

१ अंजुमन = मुसलमानी सभा। २ तबलीग़ = प्रचार। ३ सज्जादानशीन = नमाज पढ़नेवाले, बिछौने पर बैठनेवाले। ख़ानकाह = मठ। दीनदार = मज़हबी।

बनाये गये। यहाँ पर उनको विवरण के साथ लिखने का स्थान नहीं है और न इसकी आवश्यकता ही है।

इसके अतिरिक्त इन दीनदार ईसाइयों और मुसलमानों ने अपने पीरों और पैग़म्बरों की पूजा तथा प्रतिष्ठा के द्वारा हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के लिए उपर्युक्त चालबाज़ियों और धूर्त्तताओं पर ही सन्तोष नहीं किया; किन्तु इससे भी बढ़कर यह जाल रचा है कि हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों (भविष्य-पुराण) में भी अपने पीरों, पैग़म्बरों, मज़हब और क़ौम की प्रशंसा और आर्यों की निन्दा करनेवाले श्लोक मिला दिये तथा मिलवा दिये हैं, जिससे हिन्दू इन्हें अपने शास्त्रों का आदेश समझकर इनके विश्वासी हो जायँ और अपने धर्म को छोड़कर ईसाई तथा मुसलमान बन जायँ; जैसा कि नीचे के प्रमाणों से प्रकट है—

(१) म्लेच्छ शब्द के अनोखे अर्थ।

आचारश्च विवेकश्च द्विजता देवपूजनम्।
कृतान्येतानि तेनैव तस्मान्म्लेच्छः स्मृतिः बुधैः ॥४१॥
विष्णुभक्त्याग्निपूजा च ह्यहिंसा च तपोदमः।
धर्माण्येतानि मुनिभिर्म्लेच्छानां हि स्मृतानि वै ॥४२॥

(अर्थ) जो मनुष्य सदाचारी; विवेकी, द्विज और देवताओं की पूजा करता है उसको बुद्धिमान् लोग म्लेच्छ कहते हैं (४१)

परमात्मा की भक्ति, हवन करना, अहिंसा, तप और मन को वश में रखना यह धर्म मुनियों ने म्लेच्छों के ही बतलाये हैं। (४२)

(२) आर्यों और आर्यावर्त्त की निन्दा और म्लेच्छों तथा उनके देशों की प्रशंसा

या पवित्राः सप्तपुरी तासु हिंसा प्रवर्त्तते।
दस्यवः शवरा भिल्ला मूर्खा आर्ये स्थिता नराः ॥३८॥
म्लेच्छ देशे बुद्धिमन्तो नरावै म्लेच्छ धर्मिणः।
म्लेच्छाधीना गुणा सर्वेऽवगुणा आर्यदेशके ॥३९॥
म्लेच्छ राज्यं भारतेव तद्द्वीपेषु स्मृतं तथा।
एवं ज्ञात्वा मुनिश्रेष्ठ हरिं भज महामते ॥४०॥

(भविष्य-पुराण, प्रतिसर्ग ३, खं० १, अ० ५)

(अर्थ) जो काशी आदि पवित्र सात पुरी हैं, उनमें हिंसा हो रही है, दस्यु; शवर, भिल्ल लोग आर्यावर्त्त में रहते हैं (३८)।

म्लेच्छों के देश में म्लेच्छ-धर्म के माननेवाले मनुष्य बुद्धिमान् हैं। सम्पूर्ण गुण म्लेच्छों में हैं और सब अवगुण आर्यावर्त्त के रहने वालों में है (३९)

भारत और उसके द्वीपों में म्लेच्छ का राज्य है, ऐसा जानकर हे श्रेष्ठ मुनि! ईश्वर का भजन कर। (४०)

(३) हज़रत आदम और हौआ की प्रशंसा वर्णन

द्विशताष्ट सहस्रे द्वे शेषंतु द्वापरे युगे।
म्लेच्छ देशस्य या भूमिर्भविता कीर्त्तिशालिनि ॥२८॥
इन्द्रियाणि दमित्वा यो ह्यात्मध्यान परायणः।
तस्मादादमनामासौ पत्नी हव्यवती स्मृता ॥२९॥

अदान नगरस्यैव पूर्वभागे महावनम् ।
ईश्वरेण कृतं रम्यं चतुः क्रोशयुतं स्मृतम् ॥३०॥

(भविष्य पु०, प्रतिसर्ग पर्व ३, खं० १, अ० ४)

(अर्थ) जब द्वापर युग के दो हजार दो सौ आठ वर्ष शेष रहे तब म्लेच्छ देश की भूमि कीर्त्तिशाली हुई (२८)

जो अपने इन्द्रियों को दमन करके आत्मा के ध्यान में लीन हुआ उसका नाम आदम और उसकी पत्नी का नाम हव्यवती (हौआ) हुआ (२९)

अदन नगर के पूर्व भाग में चार कोस लम्बा चौड़ा ईश्वर का बनाया हुआ रमणीय बड़ा बगीचा था ॥३०॥

उसके आगे ३१ से ३४ वें श्लोक तक यह लिखा है—उस वाटिका में कलियुग (अभिप्राय शैतान) सर्प का रूप धारण करके आया तो पाप के वृक्ष के नीचे जाकर उसकी पत्नी को देखा (३१)

इस धूर्त्त ने उसको धोखा दिया और संसार के मार्ग को दिखलानेवाला फल (गेहूँ) उसके पति को खिलाया (३२)

उन दोनों (आदम व हौआ) ने औदुम्बर (गूलर) के पत्तों से हवा खाई । उनके बहुत से पुत्र और पुत्रियाँ हुईं । सभी म्लेच्छ बने (३३)

उसकी नौ सौ तीस वर्ष आयु हुई । फलों का भोजन करता हुआ अपनी स्त्री सहित स्वर्ग को प्राप्त हुआ (३४)

(४) हज़रत नूह और उसकी नौका

हज़रत आदम की सन्तान का क्रम बतलाते हुए हज़रत नूह की चर्चा इस तरह की गई है :—

> तस्माज्जातः सुतो न्यूहो निर्गत स्तूह एव सः ।
> तस्मान्न्यूहुः स्मृतः प्राज्ञै राज्यं पंचशतं कृतम् ॥४५॥
> सोमः शमश्च भावश्च त्रयः पुत्रा बभूविरे ।
> न्यूहः स्मृतो विष्णु भक्तः सोऽहंध्यान परायणः ॥४६॥

(भविष्य पु०, प्रतिसर्ग, पर्व ३ खं० १, अ० ४)

(अर्थ) उससे नूह नामक बालक उत्पन्न हुआ। चूँकि वह निश्चित बुद्धिवाला था इसलिए बुद्धिमानों ने उसको न्यूह कहा। उसने पाँच सौ वर्ष तक राज किया ॥४५॥

इसके सेम (साम), शम (हाम), और भाव (याफ़) ये तीन पुत्र हुए। नूह विष्णु का भक्त था और "सोऽहम्" के ध्यान में लीन रहता था ॥४६॥

इसके आगे इस प्रकार वर्णित है—एक बार भगवान विष्णु उसके स्वप्न में आये ॥४७॥

(और कहा) "प्यारे नूह यह बात सुन, आज से सातवें दिन प्रलय होगा। तू शीघ्र ही अपने कुटुम्ब के साथ नाव पर चढ़ ॥४८॥

और जीवन को बचा। हे भक्तों में श्रेष्ठ! तू सब से उत्तम होगा। यह जानकर मुनि ने बहुत दृढ़ नौका बनाई ॥४९॥ इत्यादि।

इसके आगे नौका की लम्बाई, चौड़ाई बतलाते हुए हजरत नूह के परिवार सहित बैठने का हाल लिखा है।

(५) हज़रत मूसा

हजरत नूह के बाद बहुत से दूसरे नबियों का वर्णन करते हुए हजरत मूसा की चर्चा इस प्रकार की है—

> ब्रह्मावर्त्तं मृते तत्र सरस्वत्या तटं शुभम् ।
> म्लेच्छाचार्यश्च मूसाख्यस्तन्मतैः पूरितं जगत् ॥३०॥

(अर्थ) सरस्वती नदी के पवित्र ब्रह्मावर्त्त को छोड़कर सम्पूर्ण जगत् म्लेच्छाचार्य मूसा के मतानुयायियों से भरा हुआ है ।

(६) हज़रत ईसा की प्रशंसा और वर्णन

> को भवानीति तं प्राह सहोवाच मुदान्वितः ।
> ईशपुत्रं च मां विद्धि कुमारी गर्भ सम्भवम् ॥२३॥
> म्लेच्छ धर्मस्य वक्तारो सत्यव्रत परायणम् ॥२४॥
> ईशमूर्तिर्हृदि प्राप्ता नित्य शुद्ध शिवंकरी ।
> ईशा मसीह इति च मम नाम प्रतिष्ठितम् ॥३१॥

(भविष्य पु०, प्रतिसर्ग, पर्व ३, खं ३; अं २)

(अर्थ) (राजा ने उससे पूछा) आप कौन हैं ? वह प्रसन्न होकर बोला मैं कुमारी के पेट से पैदा हुआ खुदा का बेटा हूँ ॥२३॥

मैं म्लेच्छ-धर्म का उपदेशक और सत्यव्रत का धारण करने वाला हूँ ॥२४॥

नित्य शुद्ध और कल्याणकारी ईश (ईश्वर) की मूर्त्ति हृदय में प्राप्त होने के कारण मेरा ईसा मसीह यह नाम प्रतिष्ठित है ।

(७) हज़रत मुहम्मद साहब का वर्णन

एतस्मिन्नन्तरे म्लेच्छ आचार्येण समन्वितः ।
महामद इति ख्यातः शिष्यशाखा समन्वितः ॥२॥

(भविष्य पु०; प्रतिसर्ग, पर्व ३, खं० ३, अ० ३)

(अर्थ) इतने ही में एक म्लेच्छ आचार्य पदवी से युक्त महामद (मुहम्मद) नाम से प्रसिद्ध अपने अनुयायियों सहित आया। इसके बाद १४ वें से १८वें श्लोक तक का अनुवाद इस प्रकार है—

रात को वह माया रचने में चतुर देव रूप महामद (मुहम्मद) पिशाच-शरीर को धारण करके भोज राजा से कहने लगा ॥१४॥

"हे राजा, तेरा आर्य-धर्म ही सब धर्मों से उत्तम है। मैं ईश्वर की आज्ञा से कठिन पिशाच-धर्म को प्रचलित करूँगा ॥१५॥

मेरे सम्प्रदाय का माननेवाला मनुष्य लिंग-छेदी (खतना या सुन्नत किया हुआ), शिखा-रहित, डाढ़ी रखनेवाला, उच्चस्वर (अज़ान) देनेवाला और सर्व-भक्षी होगा ॥१६॥

मेरे सम्प्रदाय में शूकर के सिवाय सब पशु मेरे शिष्यों के लिए भक्ष्य हैं क्योंकि उनका कुशाओं की तरह मूसलों से संस्कार होगा ॥१७॥

इसलिए धर्म को दूषित करनेवाली उन जातियों का नाम मुसलमान होगा। मुझसे प्रचलित किया हुआ ऐसा पिशाच धर्म होगा ॥१८॥

ऊपर लिखे हुए भविष्य पुराण के उद्धरणों से विदित होता है कि भविष्य पुराण में की हुई उपर्युक्त मिलावट ईसाइयों की ही

कारस्तानी है ; क्योंकि इसमें जहाँ हज़रत ईसा और उससे पहले नबियों की ख़ूब प्रशंसा की गई है वहाँ हज़रत मुहम्मद साहब की कोई प्रशंसा नहीं की गई और साथ ही प्रति-सर्ग, पर्व ३, खंड ४, अध्याय २२, के श्लोक ७२-७३ और ७५ में अंग्रेजों और महारानी विक्टोरिया के कलकत्ता में राज्य स्थापित करने की भी चर्चा की गई है और उनकी प्रशंसा इस प्रकार की गई है—

"वह हज़रत ईसा जो ख़ुदा का बेटा, उसके मतानुयायी और उनका हृदय सचाई को प्यार करनेवाला; काम-वासना को जीतने-वाला और क्रोध से रहित है" इत्यादि।

पाठकवृन्द ! यह है ईसाइयों और मुसलमानों का ऐतिहासिक प्रयत्न तथा प्रयास जो कि वे अपने पैग़म्बरों की पूजा के द्वारा हिन्दुओं को ईसाई और मुसलमान बनाने के लिए सदा से करते आये और कर रहे हैं। ईसाई और मुसलमान अपने आचार्यों की पूजा तथा प्रतिष्ठा को, हिन्दुओं को ईसाई तथा मुसलमान बनाने के लिए, साधन के तौर पर उपयोग करते चले आये हैं। अतः हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थों में मिलावट करने और मिलावट को उन ग्रन्थों का भाग बना देने पर भी वे बुद्धिमान् (द्विजों) हिन्दुओं के हृदयों में अपने पीरों तथा पैग़म्बरों की पूजा का भाव उत्पन्न नहीं कर सके, क्योंकि एक तो ईसाइयों और मुसलमानों की यह चेष्टा धूर्त्तता पर निर्भर और केवल हिन्दुओं को ईसाई और मुसलमान बनाने के अभिप्राय से थी और है, जिससे हिन्दुओं को अपने धर्म और जाति के नाश होने का पूरा भय था और है। और दूसरी बात यह कि

ईसाइयों और मुसलमानों के हृदयों में हिन्दुओं के महापुरुषों के लिए कोई सम्मान और पूजा का भाव ही नहीं है तथा उनके यहाँ ऐसा साहित्य भी मौजूद है जो कि हिन्दुओं के महापुरुषों का घोर अपमान और तिरस्कार करता है। जब ऐसी अवस्था है तब महात्मा जी आदि अथवा स्वयं वे लोग कैसे आशा कर सकते हैं कि हिन्दू उनके पैग़म्बरों की पूजा करें, क्योंकि यह कभी नहीं हो सकता कि जो व्यवहार वह हिन्दुओं से करने को तैयार नहीं हैं वह व्यवहार हिन्दू उनके साथ करें।

और यदि महात्मा जी का यहाँ हिन्दू-धर्म से अभिप्राय वैदिक-धर्म से, और संसार के पैग़म्बरों की पूजा से आशय संसार के विभिन्न विचारशील महापुरुषों और परोपकारी महात्माओं के सम्मान से है, तो मैं निवेदन करूँगा कि अवश्य है और रहेगा। क्योंकि वैदिक-धर्म में मतभेद होना (भिन्न विचार रखना) इस्लाम के तुल्य कोई घोर अपराध नहीं है, और न इसलिए ऐसी घृणा और दंड की आज्ञा है, जैसा कि इस्लाम में मुर्तिद (इस्लाम को त्यागनेवाले) के लिए वध का कठोर दण्ड मौजूद है। यही कारण है कि वैदिक-धर्मी विचार-स्वातन्त्र्य के सदा पक्षपाती रहे हैं। उनके विचार-स्वातन्त्र्य का ही यह परिणाम था कि भारतीय हिन्दू-जाति में भिन्न-भिन्न धार्मिक विचार रखनेवाले भी बड़े प्रेम से रहते आये हैं और उनके नैतिक और धार्मिक अधिकार वही रहे हैं जो कि आर्यों के थे। भारत-भूषण सर जे० सी० बोस के कथनानुसार भारत ऐसी एकता का क्षेत्र है जहाँ शताब्दियों से

संसार की विभिन्न जातियों का मिलाप होता रहा है। समस्त संसार के विद्यार्थी यहाँ के विद्वानों से विद्या प्राप्त करते रहे हैं। आर्यों ने यह घोषणा कर दी थी कि इस देश में उत्पन्न विद्वानों से समस्त संसार के लोग अपने अपने उपयोग की शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। (देखिये मनुस्मृति अ०, २ श्लोक, २० *)

यह ऐतिहासिक सत्य है कि भारत ने हर एक को जिसने उसको अपनी माता समझा और उसकी सभ्यता को अपनाया, धार्मिक विचार में भिन्नता होने पर भी, अपनी छाया में शरण देकर जातीय पृथक्त्व (हम दूसरी जाति के हैं ऐसे भाव) को मिटा दिया है। भारतीय आर्यों ने बड़ी उदारता से यवन (यूनानी), शक (तातारी) और तुरुष्क (तुर्क) इत्यादि संसार के सब खंडों के रहनेवालों को शुभागमन कहा है और यहाँ तक कि उनमें से ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेवाले योग्य सज्जनों को ब्राह्मण मानकर अपनी पूजा का पात्र बनाया है। हाँ, यह बात अवश्य रही है और रहेगी कि चाहे कोई किसी हिन्दू सम्प्रदाय का आचार्य हो या अहिन्दू सम्प्रदाय का पैग़म्बर और प्रवर्त्तक हो अथवा हिन्दुओं और अहिन्दू जातियों की विशेष व्यक्तियाँ हों, आर्यों में उनकी पूजा अथवा सम्मान उसी अवस्था में और उसी सीमा तक सम्भव है कि जिस अवस्था में जिस सीमा तक वे विचार और आचार से पवित्र हों।

---

* एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

क्योंकि वैदिक-धर्म विचार और आचार के महत्त्व और पवित्रता के गुण से मनुष्यों में पूज्य-भाव की प्रेरणा करता है, न कि उनके विशेप समुदायों का अगुवा होने के हेतु से। (इससे अधिक देखना हो तो चौथे आक्षेप के उत्तर में देखिये)

क्या हिन्दू-धर्म (वैदिक-धर्म) मिश्नरी (प्रचारक) धर्म नहीं है ?

(२) महात्मा जी की प्रतिज्ञा का दूसरा अंश यह है—"हिन्दू धर्म मिश्नरी धर्म नहीं है। हाँ, इसमें कितनी ही भिन्न-भिन्न जातियों का समावेश हुआ है। परन्तु उनकी तद्रूपता विकासात्मक और अत्यन्त सूक्ष्म है।"

(आर्य)—(१) महात्मा जी की यह प्रतिज्ञा भी घटनाओं के विरुद्ध है। इसका आधार केवल आपके उन एकता-सम्बन्धी भावों पर बना हुआ विदित होता है जो कि हिन्दू तथा अहिन्दू एकता की आवश्यकता का अनुभव करने से आपके हृदय में बने हैं। आपके विचार में मजहब का प्रचार एकता के लिए हानि-प्रद वस्तु है, क्योंकि वह मजहब बदलवा कर एक मजहबवालों को दूसरे मजहबवालों से लड़ाती है इसलिए एकता की उत्कट कामना के वश आपका अन्तःकरण इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं है कि हिन्दू-धर्म में धर्म-प्रचार करने का कार्य भी होता था चाहे

अहिन्दुओं के वैदिक-धर्मी बनने की ऐतिहासिक घटनाएँ आपके सामने ही रही हों। यही हेतु है कि महात्मा जी का उपर्युक्त लेख अपने आप खण्डित हो जाता है। आरम्भ में आपने जो यह दावा किया है कि "हिन्दू-धर्म मिशनरी धर्म नहीं है" उसका खंडन आपने स्वयं ही इस ऐतिहासिक सचाई को अपने निम्न शब्दों में स्वीकार करके कि "हाँ, इसमें कितनी ही भिन्न-भिन्न जातियों का समावेश हुआ है।" यद्यपि इसके आगे आपने इस समावेश (मेल) को विकासात्मक बतलाते हुए इस प्रबल एतिहासिक सचाई को अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा की है; परन्तु आपकी यह चेष्टा इतनी निर्बल है कि एक अन्वेषक की आँखों से असली बात ओझल नहीं कर सकती। भला इसमें आपके पास क्या प्रमाण है कि अहिन्दुओं का हिन्दुओं में मिलना विकासात्मक है और उपदेशात्मक तथा संसर्गात्मक (हिन्दुओं के मेल-जोल से) नहीं हैं? आपका यह कथन न केवल धर्मशास्त्रों और हिन्दू-इतिहास के ही विरुद्ध है, जैसा कि आगे चलकर सिद्ध किया जायगा, वरन् तर्क और अनुभव की दृष्टि से भी उसमें कोई महत्व नहीं प्रतीत होता; क्योंकि प्रत्यक्ष में भी हम किसी को जन्म से मिला हुआ धर्म नहीं पाते और न वह विकास के द्वारा कहीं पर प्राप्त हुआ ही दिखाई देता है। हम देखते हैं कि जबतक कोई धार्मिक-शिक्षा नहीं पाता अथवा धर्मोपदेश नहीं सुनता तब तक वह धार्मिक-ज्ञान भी नहीं प्राप्त कर सकता। मैंने जो कुछ कहा है वह श्रद्धालु भक्तों का

विश्वास नहीं है किन्तु अनुभवों और निरीक्षणों पर निर्भर एक तर्क-सिद्ध नियम है जिसको युक्ति ही से प्रत्येक बात को जाँचने वाले फिलासफरों के सिरताज महर्षि कपिल ने स्वरचित सांख्य दर्शन के दो सूत्रों में वर्णन किया है।

उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः।
इतरथान्धपरम्परा।

(सांख्य-सूत्र, अ० ३, सूत्र ७९-८१)

इसका तात्पर्य यह है कि उपदेशक के उपदेश से ही ज्ञान होता है और उससे जीवन्मुक्ति मिलती है। यदि यह न हो तो अन्धपरम्परा अर्थात् मूर्खता का ही राज्य रहता है। और यदि सचमुच धार्मिक विचार विकासात्मक ही होते तो न तो उनके पढ़ने-पढ़ाने की जरूरत ही होती, क्योंकि विकास का क्रम पूरा हुए बिना, शिक्षा और उपदेश से वह प्राप्त ही न किये जा सकते। और न जिन विभिन्न जातियों का समावेश हिन्दुओं में हुआ है वे हिन्दुओं में ही मिल सकतीं, क्योंकि भिन्न भिन्न जातियों के विकास का दर्जा भिन्न-भिन्न होने से विकास-सिद्धान्त (Evolution Theory) के नियमानुसार उनके हिन्दुओं में मिलने के लिए भी भिन्न-भिन्न वर्षों के लम्बे समय की आवश्यकता है। घटनाएँ बतलाती हैं कि यवन, शक, आभीर, तुरुष्क, हूण, मग, गुर्जर और काम्बोज इत्यादि जातियों के लोग हिन्दुस्तान में आकर विकास-वाद के कल्पित समय की प्रतीक्षा के बिना ही हिन्दुओं में मिल गये। इतिहास में इस बात का कोई भी प्रमाण नहीं मिलता

कि यह जातियाँ विकास की श्रेणियाँ अथवा शृंखलाएँ तय करती हुईं ही हिन्दुओं में मिलीं। यदि ऐसा होना आवश्यक था कि जिस देश से यह जातियां अथवा व्यक्ति आये थे उस अपने देश में भी वह जातियाँ उन्नति करती हुई सब बातों में हिन्दू बन गई होतीं; परन्तु सच बात यह है कि ऐसा नहीं हुआ। इस लिए महात्मा जी का यह कथन ठीक नहीं है कि बाहर से आई हुई यवन, शक अर्थात् यूनानी तथा तातारी आदि जातियों के लोग विकासवाद के अनुसार उन्नति करते हुए हिन्दुओं में मिले हैं, वरन् इसके विरुद्ध यह कहना बिलकुल ठीक होगा कि हिन्दुओं के और उपदेश से प्रभावित होकर ही यह लोग हिन्दुओं में मिले थे; जैसा कि भविष्य पुराण के इस श्लोक से प्रकट है :—

हैहयैस्तालजंघैश्च तुरुष्कैर्यवनैः शकैः।
उपोषिता इहात्रैव ब्राह्मणत्वमीप्सुभिः॥

(सिद्धान्त खंड, ब्राह्म पर्व १, अ० १६, श्लोक ६१)

(अर्थ) हैहय, तालजंघ, तुरुष्क (तुर्क), यवन (यूनानी) और शक (मध्य एशिया के निवासी तातारी आदि) आदि जातियों ने ब्राह्मणत्व प्राप्त करने की इच्छा से (प्रतिपदा का) उपवास किया।

इसी प्रकार भागवत, स्कन्ध २, अ० ४, में भी लिखा है :—

किरात हूणान्ध्र पुलिन्दः पुल्कसा
आभीर कङ्का यवना खसादयः।

ये ऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः ।
शुद्धयन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥

इस श्लोक का अर्थ श्रीभगवानदास जी, बनारस ने मार्च सन् १९२७ के शुद्धि समाचार के उदयांक में प्रकाशित किये हुए अपने लेख में यह किया है :—

"किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक्क यवन, खस आदि और दूसरे पापी मलिन लोग भी जिस भगवान के आश्रितों (वैष्णवों) का आश्रय पकड़ने से शुद्ध हो जाते हैं, अनार्य से आर्य हो जाते हैं उस भगवान को नमस्कार है ।"

इस श्लोक के पापी शब्द से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन आर्य लोग यूनानी और यहूदी आदि लोगों को विधर्मी ही नहीं किन्तु पतित भी समझते थे चाहे उनका मत कुछ ही क्यों न रहा हो। अत: जो सज्जन यह आक्षेप करते हैं कि प्राचीन आर्य केवल अपने में से पतित हो जानेवालों को ही पुन: अपने में सम्मिलित करते थे, अन्य मजहबवालों को नहीं, उनका आक्षेप निराधार है ।

हिन्दू (वैदिक) धर्म के मिशनरी धर्म होने का प्रमाण एक विश्वास-पूर्ण अरब निवासी कवि नीमान इब्न आदि की एक कविता से भी मिलता है। यह कविता कुस्तुनतुनिया के राजकीय-पुस्तकालय में विद्यमान है जिसको, श्री ज्ञानेन्द्र देव जी मौलवी फ़ाज़िल, ने अपने नेत्रों से देखा है। आपने उसका हिन्दी अनुवाद यह किया है :—

'विक्रम राजा अपने समय में बड़ा दानी और धर्मात्मा था। धन्य हैं वे लोग जिन्होंने उसके राज्य में जन्म लिया और उसका दर्शन किया। हम (अरबी) इस समय अविद्या और मूर्खता में फँसे हुये थे। हम स्वार्थी पाखण्डियों के पंजे में ऐसे ही फँसे थे जैसे एक कसाई के हाथों में बछेड़े, परन्तु दो धर्मात्माओं ने आकर यहाँ धर्म और सत्य-असत्य का ज्ञान दिया, विद्या का प्रचार किया। ये दोनों विद्वान् विक्रमादित्य के भेजे हुये भारत से आये थे'। (आर्य मुसाफिर, २ जून, सन् १९३१ ई०)।

(२) श्री शंकराचार्य आदि वर्त्तमान बड़े-बड़े सनातन-धर्मी विद्वान् और सनातनधर्म सभाएँ प्रमाण-सहित इस विचार को प्रकट कर चुकी हैं कि पतितों और अन्य मतवादियों को शुद्ध करके वैदिक-धर्मी बना लेना अथवा वैदिक-धर्मियों में मिला लेना शास्त्रों के अनुकूल है। यदि पाठकवृन्द उनकी सम्मतियों को जानना चाहें तो वे "शुद्धि-व्यवस्था" नामक पुस्तक में देख सकते हैं, जो कि कार्यालय भारतीय-हिन्दू-शुद्धि-सभा दिल्ली से मिल सकती है। अतः महात्मा जी का यह कहना ठीक नहीं है कि हिन्दू-धर्म मिशनरी धर्म नहीं है। हाँ, यदि आप का यह कथन केवल साम्प्रदायिक विश्वासों और उनके माननेवालों तक ही परिमित होगा, तब तो "कदाचित् किसी सीमा तक" इस हेतु कि कुछ साधारण हिन्दू, साम्प्रदायिक पक्षपात से और वर्त्तमान प्रथा से प्रभावित होकर, अभी तक अहिन्दुओं की शुद्धि में उसी तरह मीन-मेष कर रहे हैं जिस तरह अछूत समझे जानेवाले समूहों से हिन्दुओं के तुल्य वर्त्ताव करने में, परन्तु विदित होता है कि

आप का यह कथन अनभिज्ञ और कट्टर हिन्दुओं ही तक परिमित नहीं है, वरन् हिन्दू-धर्म से यहाँ आप का अभिप्राय वैदिक-धर्म से है। क्योंकि वैदिक-धर्मी आर्यसमाजियों के धर्म-प्रचार तथा शुद्धि के व्यवहारिक कार्यों के सम्बन्ध में आपने यह सम्मति प्रकट की है कि अन्य मज़हबवालों को अपने अन्दर मिलाने में आर्यसमाजियों ने ईसाइयों और मुसलमानों का अनुकरण किया है। आपका यह दोषारोपण उस ऐतिहासिक सचाई के बिलकुल विरुद्ध है जिस समय ईसाइयत और इस्लाम का जन्म भी नहीं हुआ था, उस समय भी कण्व, बुद्ध और शंकर आदि महापुरुष धर्म-प्रचार करते और दूसरों को अपने अन्दर मिलाते रहे हैं। इस हेतु यह तो कहा जा सकता है कि ईसाइयों और मुसलमानों ने इनका अनुकरण किया, न कि आर्यों ने ईसाइयों और मुसलमानों का।

(३) सब से बढ़ कर महात्मा जी के इस दावे के मिथ्या होने का प्रमाण यह है कि यह वेदादि शास्त्रों और धार्मिक इतिहासों के विरुद्ध है—जैसा कि नीचे के प्रमाणों से सिद्ध है—

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।

स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्यमुहुराचरिक्रत्।

(अथर्व०, कां ११, सू० ५, मं० ६)

(अर्थ) विद्या के प्रकाश से प्रकाशमान ब्रह्मचारी अर्थात् वेदों का विद्वान् दीक्षित (व्रतधारी) हो कर काली मृगछाला को धारण करता हुआ लम्बी डाढ़ी और मूंछ रखाये हुए चले अर्थात् भ्रमण करे। वह शीघ्र ही पूर्व समुद्र (पूर्वी सागर) से उत्तर समुद्र (उत्तरी सागर) तक पहुँच कर लोगों को एकत्र करके वार वार उनको पुकारता अर्थात् धर्म का उपदेश करता रहे।

कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ॥

(ऋ० ६ । ६३ । ५ ॥)

(अर्थ) समस्त संसार को आर्य बनाओ। यहाँ पर प्रश्न होता है कि यह आज्ञा किसको दी गई है। उत्तर स्पष्ट है कि धर्म को जाननेवाले और धारण करनेवाले विद्वानों को। फिर प्रश्न होगा कि किस तरह संसार को आर्य बनाया जाय ? जिसका वैदिक उत्तर यही हो सकता है कि धर्म का उपदेश अथवा प्रचार करके. क्योंकि धर्म के मर्म को जानकर उसपर आचरण करने से ही संसार आर्य बन सकता है।

एक जगह वेद ने उपदेश दिया है—

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥

(ऋ० १० । १३७ । १ ।)

(अर्थ) जो गिरे हैं उनको ऊपर उठाओ। जिन्होंने पाप किया है और जिनका जीवन अशुद्ध हो गया है उनको फिर से शुद्ध जीवन दो।

यजुर्वेद में भी स्पष्ट लिखा है—

देव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देव यज्यायै।
यद्वो शुद्धाः पराजघ्नुः इदं वः तत् शुन्धामि ॥

(यजु १—१३)

(अर्थ) तुम शुद्ध करो (अशुद्धों को), ईश्वर के आज्ञा किये हुए अग्निहोत्र आदि देव यज्ञों के करने के लिए। (और घोषणा करो) हे अशुद्धो! जो तुम में अशुद्धि है उसको मैं शुद्ध करता हूँ।

इन मंत्रों से स्पष्ट सिद्ध है कि वेद में धर्म प्रचार करने की और शुद्धि की स्पष्ट आज्ञा है। ऊपरवाले मंत्र से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अशुद्धों की शुद्धि की जाय, और अशुद्ध कौन हैं जो कि वेद के बतलाये हुए देव-यज्ञादि शुभ कर्मों के करनेवालों को आर्य्य और जो इन कर्मों को नहीं करते उनको दस्यु कहा है, जैसा कि ऋग्वेद १०-२२-८ में लिखा है—

अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तु रन्यव्रतो अमानुषः

(ऋ० १०।२२।८)

अर्थात् जो देव-यज्ञादि अच्छे कर्मों को नहीं करता, अच्छे विचारों, व्रतों, और मनुष्यता से रहित है वह दस्यु है। इसीलिये इस मंत्र में देवयज्ञादि अच्छे कर्मों के करनेवाले आर्य्यों को आज्ञा दी गई है कि इन कर्मों को न करनेवाले जो दस्यु हैं उनको देव-यज्ञादि शुभ कर्मों को करने के लिए शुद्ध करो।

आर्यों के लिए वेद ही कर्त्तव्याकर्त्तव्य आदि धर्मा-धर्म के लिए परम प्रमाण हैं, इसलिए वे वेद की इन आज्ञाओं के अनुसार बुरे मनुष्यों (दस्युओं) को भला बनाना और पतितों को ऊपर उठाना धर्म और कर्त्तव्य समझते थे। यही कारण था कि प्रत्येक समय के स्मृतिकार ने विचार और आचार (ज्ञान तथा कर्म) से भ्रष्ट लोगों को फिर से आर्य बनाने और अपने साथ मिलाने के लिए, उस समय की स्थिति की दृष्टि से, अपनी-अपनी स्मृति में प्रायश्चित्त का वर्णन किया है और पतितों की अवस्था के अनुसार उनसे उचित प्रायश्चित्त कराकर उनको अपने में मिलाने का नाम शुद्धि रक्खा है जैसा कि अत्रि-स्मृति के निम्नांकित श्लोक ३५ में लिखा है।

अभक्ष्य परिहारश्च संसर्गाऽश्चाप्य निन्दितैः।
आचारेषु व्यवस्था न शौचमित्यभिधीयते ॥

(अर्थ) अभक्ष्य और कुसंग का त्याग और सदाचार में स्थिति का नाम शुद्धि है। यदि किसी को यहाँ पर शङ्का हो कि स्मृतियों में पतितों की शुद्धि और उनके सम्बन्ध में प्रायश्चित्त की रीति तो आर्यों (हिन्दुओं) में से पतित मनुष्यों के लिए है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ईसाई और मुसलमान आदि विधर्मियों (अन्य मजहबवालों) की शुद्धि भी हिन्दुओं के धर्म में विहित है, तो मैं निवेदन करूँगा कि प्रथम तो वैदिक-धर्मियों के लिए कोई विधर्मी है ही नहीं, क्योंकि धर्म मनुष्य-मात्र का एक ही

है। विधर्मी तब हो सकते हैं जबकि धर्म अनेक हों। जिन्हें विधर्मी कहा जाता है वास्तव में वे मतवादी हैं। भूल से मनुष्यों ने अपने-अपने मत, सम्प्रदाय अथवा मजहब अलग-अलग बना लिये हैं। भिन्न-भिन्न मजहबों अथवा मत-मतान्तरों में रहते हुए भी महर्षि मनु लिखित धृति, क्षमा* आदि गुणवाला वैदिक-धर्म ही उनके लिये भी धर्म है। अथवा यों समझिये कि संसार के मत-मतान्तरों अथवा मजहबों में भी सार-रूप इसी वैदिक-धर्म का अंश है। यदि इस धर्म के अंश को इनमें से निकाल दिया जाय तो ये मत-मतान्तर बिलकुल निस्सार हो जाते हैं और इनमें साम्प्रदायिक द्वेष और भ्रान्ति के सिवाय शेष कुछ नहीं रहता। इसलिए सम्प्रदायों (मजहबों) अथवा मतमतान्तरों को धर्म कहना भूल है।

मनुष्य-जाति का आदि स्रोत

(द्वितीय)···इतिहास और शास्त्र बतलाते हैं कि सारे संसार के लोग आर्यों में से ही निकले हैं जैसा निम्नलिखित प्रमाणों से प्रकट है—

(१) शनकैस्तु क्रियालोपा दिमः क्षत्रियजात्यः।
वृषलत्वं गताः लोके ब्राह्मणादर्शने न च ॥४३॥

---

* धृतिः क्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणं ॥

पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवना शकाः।
पारदा पह्लवाश्चीनाः किराता दरदा खशः ॥४४॥
मुखबाहूरुपज्जानां या लोकजातयोबहिः।
म्लेच्छ वाचश्चार्य वाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥४५॥

मनुस्मृति अध्याय १० के इन तीनों श्लोकों में बतलाया गया है कि ब्राह्मणों (उपदेशकों) के अदर्शन अर्थात् न मिलने से वैदिक-कर्मों से अपरिचित हो जाने पर धीरे-धीरे क्षत्रिय जातियाँ पतित हो गईं। और पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड़ (दक्षिणी), काम्बोज (कम्बोडियन) यवन (यूनानी), शक (सीथियन आदि मध्य एशिया के निवासी), पारद, पह्लव (ईरानी या पह्लवी), चीन (चीन-निवासी), किरात (गोंड़), दरद (कश्मीर प्रान्त में), खश (आसाम प्रान्त के निवासी) आदि नामों से प्रसिद्ध हुईं। यह ब्राह्मणों और क्षत्रियों आदि से उत्पन्न जातियाँ चाहे म्लेच्छ भाषा बोलती हों चाहे आर्य-भाषा, सब ही दस्यु कहलाती हैं।"

इसी तरह महाभारत शान्ति-पर्व राज-प्रकरण के अध्याय ६५ के निम्नलिखित श्लोकों में भी कहा गया है।

(२) यवनाः किराताः गान्धाराश्चीना शवर बरबराः।
शकास्तुषारा कङ्काश्च पह्लवाश्चान्ध्र मद्रकाः।
चौड्रा पुलिन्दा रमठा काम्बोजाश्चैव सर्वशः।
ब्रह्म क्षत्र प्रसूताश्च वैश्या शूद्रा च मानवाः ॥१४॥

यवन, किरात, गान्धार (कन्धारी), चीनी, शवर (भील) बरबर (अलजीरियन या अफ्रीकन), शक, तुषार, कंक, पह्लव; आन्ध्र, मद्रक (मद्रासी), औड्र, पुलिन्द, रमठ और काम्बोज आदि संसार भर की जातियाँ ब्राह्मण आदि चारों वर्णों से ही पैदा हुई हैं। और देखिये, विष्णु-पुराण क्या कहता है—

क्षत्रियाश्च ते धर्म परित्यागाद्
ब्राह्मणैश्च परित्यक्ता म्लेच्छतां ययुः ॥

(विष्णुपुराण, ४ । ३)

"अर्थात् सब क्षत्रिय ही अपने धर्म और ब्राह्मणों के त्याग से म्लेच्छ बने हैं।"

आर्यों का आदि जन्म-स्थान

आर्यों का जन्म-स्थान आर्यावर्त्त ही है। वे बाहर से नहीं आये। इसके प्रमाणार्थ मैं कलकत्ता यूनिवर्सिटी के प्राचीन आर्य-सभ्यता के महोपाध्याय (लेक्चरार) अविनाश चन्द्र दास रचित ऋग्वेदिक इण्डिया (Rigvedic India) नामक पुस्तक से केवल एक उद्धरण नीचे लिखता हूँ। अधिक जानने की इच्छा हो तो कृपया मूल-पुस्तक पढ़िये।

"Sapta Sindhu has been admitted by Geologists to be the earliest life producing region in

the whole of India where the evolution of animal life took place in continuous succession until man was created. As the region was peopled by the Aryans from time immemorial they came to regard it as their original cradle."

(*Rigvedia Indic. 559*)

जियालोजी (भूगर्भ-विद्या) के जाननेवालों ने माना है कि हिन्दुस्तान भर में सप्त-सिन्धु (पंजाब) सब से पहला स्थान था जहाँ पर जीवन का आविर्भाव हुआ और जहाँ पर पाशविक जीवन की शनैः शनैः उन्नति होती गई, यहाँ तक कि मनुष्य उत्पन्न हुए। चूँकि इस खंड में आर्य लोग अज्ञात-काल से रहते थे इसलिए वे उसे अपना आदि स्थान समझने लग गये। (ऋग्वेदिक इण्डिया, पृष्ठ ५५९)

इन प्रमाणों के लिखने के बाद मैं आशा करता हूँ कि जो लोग एवोल्यूशन थ्योरी (विकासवाद) के प्रभाव-वश लिखे हुए युरोपियन इतिहासज्ञों के इतिहासों को पढ़कर यह कहा करते हैं कि गोंड़, भील आदि जंगलों में रहनेवाली जातियाँ हिन्दुस्तान के मूल-निवासी हैं, आर्यों ने बाहर से आकर उन्हें मारकर देश से निकाल दिया और द्रविड़ व मद्रास प्रान्त के नायर (अनार्य) आदि अब्राह्मण आयरों (आर्यों) और दस्यु तथा म्लेच्छ कहे जानेवाले लोग आर्यों से भिन्न वंश के हैं वे युरोपियन इतिहासज्ञों के जन्म से भी बहुत पूर्व लिखी हुई मनुस्मृति आदि पुस्तकों के उपयुक्त

श्लोकों और भूगर्भ-शास्त्र-नेत्ताओं के निरीक्षणों पर निर्भर उपर्युक्त निर्णय को यदि ध्यान-पूर्वक पढ़ेंगे तो उनका भ्रम दूर हो जायगा, क्योंकि उनमें स्पष्ट बतलाया गया है कि वास्तव में यह सब जातियाँ आर्य-वंश से ही हैं और आर्य लोग हिन्दुस्तान के मूल-निवासी हैं। या यों समझिये कि आर्य लोग ही जब आर्यावर्त्त से बाहर दूसरे देशों और द्वीपों में बसने के लिए अथवा किसी दूसरे कारण से चले गये और वहाँ के निवासी बन गये तब धर्म-विद्या के केन्द्र आर्यावर्त्त से दूर हो जाने के कारण ब्राह्मणों (धार्मिक नेताओं) के न मिलने पर कुछ काल बीतने पर वे वैदिक-धर्म और कर्म से रहित हो गये, और देश तथा अवस्थाओं के विचार से विभिन्न नाम से पुकारे जाने लगे। परन्तु उनका असली और प्रथम उत्पत्ति-स्थान आर्यावर्त्त और आर्य-जाति ही है। उदाहरणार्थ शक जाति को ही लीजिये। इसकी उत्पत्ति स्नातक मंडल गुरुकुल कांगड़ी के मासिकपत्र 'अलंकार' के मई सन् १९२६ ई० के अङ्क में श्री पं० चन्द्रमणि जी पालीरत्न ने पाली ग्रन्थों में से इस प्रकार उद्धृत की है—

"सुजात के पुत्र इक्ष्वाकु (पाली ग्रन्थों में इसका नाम उक्का लिखा है, जिसकी राजधानी काशी थी) की हथा नाम्नी महारानी से उकामुख, कटकण्डु, हतक और पुनर नामक चार पुत्र और पाँच पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। तत्पश्चात् महारानी मर गई और राजा ने किसी अन्य राजकुमारी से विवाह कर लिया। उससे "जन्तु" नामक अत्यन्त सुन्दर बालक उत्पन्न हुआ, जिसको देखकर

राजा बहुत प्रसन्न हुआ और रानी से कहा कि वर माँगो। तब रानी ने कहा कि आपके पश्चात् मेरा पुत्र राजसिंहासन पर बैठे। यह सुनकर राजा को बड़ा दुःख हुआ। उसने रानी को बहुत समझाया, परन्तु उसने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। राजा ने दुःखी होकर अपने पुत्रों को बुलाकर कहा कि तुम हाथी, रथ इत्यादि राज्य की वस्तुएँ लेकर अन्यत्र चले जाओ और मेरी मृत्यु के बाद आकर राज करना।

इस कठोर आज्ञा को सुनकर निरपराध लड़के रोते-चिल्लाते हुए राज्य और युद्ध की सामग्री लेकर राजधानी से निकल पड़े। प्रजा के बहुत से मनुष्य यह जानकर कि राजा के पश्चात् यह वापस आकर फिर राज करेंगे, उनके साथ हो लिये। इस प्रकार बहुत सी सेना उनके साथ हो गई। इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि जम्बू द्वीप अति विस्तृत है। उसके किसी जंगल में अलग ही अपना राज्य स्थापित करेंगे। इस हेतु वे हिमालय की ओर चल पड़े और चलते-चलते पुष्करणी नदी के किनारे कपिल मुनि की पर्ण-कुटी पर पहुँचे। मुनि ने उनका वृत्तान्त जानकर कृपा-पूर्वक उनसे कहा कि तुम यहीं पर अपनी राजधानी बनाओ। उन्होंने कहा कि यह तो आपके रहने का स्थान है। तब मुनि ने कहा कि इसकी चिन्ता मत करो। मेरी कुटिया का स्थान छोड़कर तुम नगर बसालो और उसका नाम कपिलवस्तु रक्खो। फलतः उन्होंने वहाँ पर नगर बसाया और उसका नाम कपिलवस्तु रक्खा। जब महाराज इक्ष्वाकु को कपिलवस्तु में अपने पुत्रों के

राज्य स्थापन करने का हाल मिला तो उसके मुख से पाली भाषा के ये शब्द निकले—

"सक्कावत भो राजकुमारा परम सक्कावत भो राजकुमारा"

जिसका अर्थ है कि "वाह, राजकुमारो तुम राज्य स्थापन करने में शक्त (समर्थ) हो, वाह राजकुमारो तुम राज्य स्थापन करने में परम शक्त हो।"

इस पितृ-वचन (पिता के वाक्य) को लेकर उन राजकुमारों का नाम शक और उनके देश का नाम शाका-द्वीप पड़ गया। यह वही शक जाति और कपिलवस्तु नगर है जिसमें जगत्-प्रसिद्ध महात्मा बुद्ध पैदा हुए थे। और शक जाति में पैदा होने के हेतु से ही जिन्हें शाक्य मुनि भी कहते हैं। फिर यही शक जाति (सीथियन) धीरे-धीरे मध्य-एशिया में फैलती गई। इसके बाद के तातारी, मंगोल तथा मुग़ल भी इन्हीं में से प्रतीत होते हैं।

यह वही शक जाति है जिसके सम्बन्ध में महाभारत में लिखा है कि कौरवों और पांडवों के संग्राम में यवन (यूनानी) और शक अपनी अपनी सेनाओं को लेकर युद्ध में सम्मिलित हुए थे। फिर इसी शक जाति ने महाराज विक्रमादित्य से पूर्व-शासन करने के निमित्त भारत पर आक्रमण किया और भारत में अपना राज्य स्थापित कर के उज्जैन को अपनी राजधानी बनाया था और अपना शाका नाम का संवत् चलाया था जो इस समय संवत् १८५० है।

इस समय राजपूताने में जो शेखावत अथवा सकावत राजपूत कहलाते हैं वह भी उसी शक जाति में से ही प्रतीत होते हैं और पाली भाषा के पिछले सक्कावत नाम से ही पुकारे जाते हैं।

इसी प्रकार ग्रीक अर्थात् यूनानी जाति के सम्बन्ध में महाशय पोकोक अपनी पुस्तक इण्डिया इन ग्रीस में लिखते हैं कि मगध देश (विहार) के राजा (जिनकी राजधानी राजगृही थी) भारतवर्ष से जाकर ग्रीस (यूनान) में बसे थे। राजगृही के लोग गृहीक कहलाते थे। वे ही युरोप में जाकर ग्रीक कहलाने लगे। वह यह भी लिखते हैं कि ग्रीक लोगों के ग्रीस में पहुँचने से पहले वहाँ पर जो पीलासगो नाम की एक जाति रहती थी। उस जाति के लोग भी मगध देश (गया) से ही गये थे। प्राचीन-काल में मगधराज के विहार प्रान्त का नाम पीलास था। यही विहार प्रान्त के पीलासी लोग पीलासगी नाम से प्राचीन ग्रीस में पाये जाते हैं। यूनान के प्राचीन कवि (ए० सी० एस०) एसेस के कथनानुसार ग्रीस का राजा पीलासीगस गया में पैदा हुआ था, इत्यादि।

यही दशा हिन्दुस्तान में बाहर से आनेवाले आभीर, हूण, मुग, गुर्जर और मैत्रिक आदि दूसरी जातियों की है, जो कि इस समय हिन्दुस्तान में अहीर, हूण, मेगिक अथवा सेवक, गुर्जर और महर आदि नाम से प्रसिद्ध हैं, परन्तु इवोल्यूशन थ्यूरी (विकास-वाद) के माननेवाले युरोपियन इतिहास-वेत्ताओं ने कल्पना करके इन्हें हिन्दुओं से बिलकुल ही भिन्न जातियाँ समझ लिया और उनके विशेष कारणों के वश पुनः भारत में आकर आर्यों से मिल

जाने से उनके इस समावेश (सम्मिलन) को हिन्दुओं में विभिन्न स्वतंत्र जातियों की मिलावट समझा। वास्तव में संसार भर की जातियों का आर्यों से वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि द्वीप पाली, स्याम, जावा, सुमात्रा, लम्बक, समावा, न्यूजीलैण्ड, फ़ारमूसा, ओगंडा, मेडागास्कर, जमैका, अरादक, इत्यादि के निवासियों का है। इनमें अभी तक हिन्दू प्रथा तथा रीतियाँ मौजूद हैं, अथवा फ़िजी, केनिया, अफ्रीका और अमेरिका आदि देशों में गये हुए हाल के हिन्दुस्तानियों का है। अब उपदेशकों (ब्राह्मणों) के उपर्युक्त द्वीपों में न पहुँचने से जो धार्मिक अथवा सामाजिक पतन परिवर्त्तन वहाँ के निवासियों का हुआ है या हो रहा है या फ़िजी, अफ्रीका और ब्रह्मा में आर्य-उपदेशकों के न पहुँचने से होना सम्भव है वही धार्मिक और सामाजिक परिवर्त्तन दीर्घकाल से आर्यावर्त्त से सम्बन्ध न रहने पर भूतल-निवासियों का हुआ है।

यही नहीं कि आर्यों के शास्त्रों और ऐतिहासिक ग्रन्थों (रामायण, महाभारत, राजतरंगिणी आदि) से ही इस बात का पता चलता है कि प्राचीन-काल में (जब कि ईसाई तथा मुसलमान आदि जातियों का जन्म भी नहीं हुआ था) समस्त भूगोल में आर्य लोग ही बसे थे और इनका ही राज्य था। संसार की वर्त्तमान जातियों में हिन्दुओं के धर्म, सभ्यता, प्रथा तथा रीतियों के चिह्नों की विद्यमानता और पुरातत्व के अन्वेषण-कर्त्ताओं के मैकसिको, पेरू, असीरिया, (फ़िलिस्ताइन) इत्यादि देशों से प्राप्त आर्यों (हिन्दुओं) से सम्बन्ध रखनेवाले पुरातत्व तथा शिलालेखों से

भी यही सिद्ध होता है कि किसी समय समस्त भूमंडल पर आर्य (हिन्दू) लोगों का ही निवास था। युरोपियन, ईरानी और यूनानी आदि जातियाँ अब भी आर्यों के वंश से ही मानी जाती हैं। यदि संसार में आर्य, मंगोलियन और निग्रो वंशों की विद्यमानता बतलाकर यह आक्षेप किया जाय कि यह भिन्न-भिन्न आकृतिवाले वंशों का प्रारम्भ एक ही आर्य वंश से नहीं माना जा सकता, तो उत्तर दिया जा सकता है कि प्रथम तो आर्यों में भी सब मनुष्य एक ही आकार-प्रकार के नहीं होते। सम्भव है कि उपर्युक्त वंशों का आरम्भ भी आर्यों ही की भिन्न-भिन्न आकृति रखनेवाली भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से हुआ हो। फलतः महाभारत शान्ति-पर्व अध्याय २९६ के इस श्लोक से इसका प्रमाण भी मिलता है—

> मूल गोत्राणी चत्वारि समुत्पन्ननि पार्थिव।
> अंगिराः कश्यपश्चैव विसिष्ठो भृगुरेव च ॥ १७
> कर्मतोऽन्यानि गोत्राणि समुत्पन्नानि पार्थिव ॥

जिसका अर्थ यह है कि वास्तव में मूल-गोत्र अर्थात् प्रारम्भिक वंश अङ्गिरा, कश्यप, वसिष्ठ और भृगु चार ही हैं। उनके अतिरिक्त जो अन्य गोत्र हुए हैं वे बाद में कर्म से ही उत्पन्न हुए हैं। इस हेतु यह मानना अनुमान-सिद्ध है कि पृथक्-पृथक् वंश माने जानेवाले वंशों का प्रारम्भ अंगिरा आदि चार आर्यों ही से हुआ है। इसके अतिरिक्त देश-परिवर्त्तन से वहाँ का

जलवायु और खाने-पीने की वस्तुओं के चिरकाल तक सेवन करने के प्रभाव से रूप तथा आकृति में परिवर्त्तन का होना भी असम्भव नहीं है। यदि आर्य, ईरानी, यूनानी और युरोपियन आदि विभिन्न रंग-रूप वाली जातियों का समारम्भ एक ही आर्य-वंश से हो सकता है तो दूसरी का भी आर्य-वंश से होना सम्भव है। फलतः आर्यों और मंगोलियनों की वाहरी आकृति में तो वहुत अन्तर नहीं है और तिब्बती आदि मंगोलियन जातियाँ उसी शक जाति में हैं जिसका इतिहास उनके अपनी जाति के असली पाली ग्रन्थों में से पीछे लिखा जा चुका है जिससे यह सिद्ध होता है कि वह आर्य-वंश अथवा सन्तति से ही हैं। वाह्य आकृतियों के वदलने का प्रमाण इस सत्य घटना से भी मिलता है कि यही तातारी, मंगोल, अर्थात् मुग़ल जब हिन्दुस्तान में आकर वस गये तो उनकी वाहरी आकृति में भी परिवर्त्तन हो गया। हाँ, आर्यों और हवशियों (निग्रो) की वाह्य आकृति में कुछ अधिक अन्तर मालूम देता है, परन्तु इसके सम्बन्ध में भी जहाँ संस्कृति के ग्रन्थों में यह लिखा है कि हव्श देश का प्राचीन नाम कुश द्वीप है, जिसको महाराज रामचन्द्र जी के पुत्र कुश ने वसाया था और वहाँ के लोग उसकी और दूसरे आर्यों की सन्तति में से थे। वहाँ Cuveir कूवियर आदि पुरातत्त्व वेताओं ने मानव-सन्तति की खोपड़ियों की तुलना करके जो अन्वेषण किया है उससे भी यही परिणाम निकलता है कि हव्श तथा मिश्र के निवासियों की खोपड़ियाँ ८० प्रतिशत आर्यों से मिलती

जुलती हैं और युरोपियन इतिहासकार भी प्राचीन हब्शी जाति का नाम Cushite कुशीट ही लिखते हैं।

(तृतीय) आर्य शब्द का वाच्यार्थ भी विशेष रूप तथा आकृति वाले मनुष्यों पर नहीं, किन्तु विशेष सभ्यता और सदाचार रखने वाले मनुष्यों पर ही घटता है। वेदों में मनुष्यों के आर्य और दस्यु केवल दो ही भेद बतलाये गये हैं, परन्तु उनमें आकृतियों का भेद कहीं नहीं बतलाया गया। यह बाह्य आकृति और सन्तति का भेद केवल युरोपियन इतिहासकरों की उपज है। वास्तव में आर्य और दस्यु एक ही वंश से हैं और वेदादि शास्त्रों में उनका पारस्परिक भेद केवल गुणों और कर्मों से ही बतलाया गया है जैसा कि नीचे के प्रमाणों से प्रकट है—

अकर्मा दस्युरभिनो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः।

(ऋ १०-२२-८)

(अर्थ) जो मनुष्य देवयज्ञादि शुभ कर्मों को नहीं करता, उत्तम विचारों, व्रतों और मनुष्यता से रहित है वह दस्यु है।

तानन्ु व्याजहार अन्तान् वः प्रजा भक्षीष्टेत त एतेंध्रा पुण्ड्राः शवरा पुलिंदा मूतिवा इति उदंत्या वहवो भवन्ति वैश्वामित्रा दस्युनां भूयिष्ठाः।

(ऐतरेय ब्रा० ७-१८)

इसका अर्थ यह है कि आन्ध्र, पौण्ड्र, शबर (भील-गौड़), पुलिंद, मूतिव और अन्य अनेक सीमाप्रान्त के निवासी विश्वामित्र

के उन पुत्रों की सन्तति हैं जो कि उसकी आज्ञा तोड़ने के कारण दस्यु हो गये थे।

दृश्यन्ते मानुषे लोके सर्ववर्णेषु दस्युवः।
लिंगान्तरे वर्त्तमाना आश्रमेषु चतुर्ष्वपि॥

(महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ६५, श्लो० २३)

(अर्थ) मनुष्यों के चारों वर्णों और चारों आश्रमों में दस्यु दिखाई देते हैं जिनके चिह्न अलग-अलग हैं।

शुक्रनीति में भी लिखा है—

न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रिय वैश्य एव च।
न च शूद्रो न च म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः॥

(अर्थ) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और म्लेच्छ इनका भेद जाति से नहीं है किन्तु गुण और कर्म से है।

पाठक-वृन्द! क्या इन दो श्लोकों को देखकर भी कोई कह सकता है कि आर्य, दस्यु और म्लेच्छ में परस्पर जन्म-मूलक या जाति सम्बन्धी अन्तर है अथवा वे एक ही वंश से नहीं हैं।

हरिवंश में भी देखिये—

पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनकाः
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च॥

(हरिवंश अ० २९)

अर्थ—गृत्समद का पुत्र शुनक हुआ और उसका पुत्र शौनक हुआ और उस शौनक की सन्तान, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र (चारों वर्ण की) हुई।—

एतेषां गिरसः पुत्रा जाता वंशेऽथ भार्गवे।
ब्राह्मणा क्षत्रिया वैश्या शूद्राश्च भरतर्षभ॥

(हरिवंश, अ० ३२)

इस श्लोक में भी बतलाया गया है मि भार्गव वंश में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत,'स्कन्ध ४ श्लोक, १३-१५ में लिखा है कि अंग राजा के पुत्र वेन राजा की सन्तान में पृथु राजा क्षत्रिय और कृष्ण वर्ण निषाद हुआ। मत्स्य पुराण के दसवें अध्याय में भी लिखा है—

तत्कायात् मथ्यमानात्तु निपेतु र्म्लेच्छ जातयः॥७॥
शरीरे मातुरंशान कृष्णां जन सम प्रभाः॥८॥

जिसका अर्थ है कि इस (वेन राजा) से माता के अंश के कारण कृष्ण वर्ण म्लेच्छ जातियाँ उत्पन्न हुईं।

इससे उन लोगों की भी भूल दूर हो सकती है जिनका यह विचार है कि काले रंग के म्लेच्छ अथवा दस्यु आर्यों से भिन्न वंश के थे। इसके अतिरिक्त मत्स्य पुराण, अध्याय ४, श्लोक २८ में बतलाया गया है कि मनु के पुत्र वामदेव के घर में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सन्तान पैदा हुई। ऐसे ही इतिहास से रावण, जाबालि,

व्याधकर्मा और प्रह्लाद आदि अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों के प्रमाण दिये जा सकते हैं जो कि ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए और राक्षस या दस्यु कहलाये अथवा राक्षसों और चांडालों (दस्युओं) के घर पैदा हुए और आर्य बन गये।

ऊपर लिखे हुए प्रमाणों से यह बात भी भलीभाँति सिद्ध हो जाती है कि यह केवल दोषारोपण और झूठा कलङ्क लगाना है जो कुछ स्वार्थी, आर्यों को बदनाम करने और हिन्दुओं के राजनीतिक पक्ष को निर्बल बनाने के लिए चमार आदि दलित वर्गों को हिन्दुओं से पृथक् और घृणायुक्त करके, उन्हें ईसाई और मुसलमान बनाने की इच्छा से यह कहते फिरते हैं कि चमार और मेहतर आदि वर्ग ही हिन्दुस्तान के मूल निवासी हैं, जो युद्ध में पकड़े गये थे और और जिन्होंने विजेता आर्यों के कहने से नीच व्यवसायों को ग्रहण कर लिया था। इसके अतिरिक्त चमार आदि वर्गों के आर्यों के अन्तर्गत होने का एक बड़ा प्रमाण यह भी है कि उनके आपस में गोत्र या जाति भी मिलते हैं। फलतः पाठकों के मनोरंजनार्थ इसके कुछ उदाहरण जिला रोहतक, हिसार और उसके आस-पास के रहने वालों के नीचे लिखे जाते हैं—

नाम गोत्र या जाति	उस गोत्र या जाति के जो-जो लोग हैं
खंडेलवाल	चमार, ब्राह्मण, वैश्य, मेहत्र
भनवोरिया	चमार, गौड़ ब्राह्मण
वशिष्ठ	चमार, ब्राह्मण, जम्मू रियासत में वसिष्ट
झंझोटिया	चमार, गौड़ ब्राह्मण, भङ्गी

नाम गोत्र या जाति	उस गोत्र या जाति के जो-जो लोग हैं		
बाविलिया	चमार, ब्राह्मण		
गहलोत	चमार, राजपूत, भङ्गी		
राठौर	,,	,,	
बहटी	,,	,,	
सोलंखी	,,	,,	
तंवर	,,	,,	भङ्गी
चौहान	,,	,,	
पंवार	,,	,,	भङ्गी
हाडा	,,	,,	,,
खेची	,,	,,	
चायल	,,	,,	
सांखला	,,	,,	
गोड़	,,	,,	ब्राह्मण
सोंहदा	,,	,,	
बड़हार	,,	,,	
मोयल	,,	,,	
बड़गूजर	,,	,,	
चोपड़ा	,,	,,	क्षत्रिय
गोयल	,,	वैश्य	
सेंगल	,,	गूजर, मेव, जाट, वैश्य, सुनार	
खत्री	,,	यह क्षत्रियों से निकले हुए मालूम होते हैं	

नाम गोत्र या जाति	उस गोत्र या जाति के जो जो लोग हैं		
ब्राह्मनिया	चमार, यह ब्राह्मणों से निकले मालूम होते हैं		
माड़ल	,,	गूजर	
चांदेला	,,	,,	सुनार
कटारिया	,,	जाट	
थग्या	,,	,,	
गठवाल	,,	,,	
डुवास	,,	,,	
अलावत	,,	जाट	
पूनिया	,,	,,	
कड़वासरा	,,	,,	
गोरा	,,	,,	
चांदरा	,,	,,	
भाँभू	,,	,,	
डील्हू	,,	,,	
चूनवुक	,,	,,	
मान	,,	,,	
वोयत	,,	,,	धानुक, भङ्गी, हेड़ी
निरवान	,,	,,	
मेहता	,,	,,	पञ्जाब में ब्राह्मण
वाहज	,,	,,	सुनार
कुड़ेला	,,	,,	,,

नाम गोत्र या जाति	उस गोत्र या जाति के जो-जो लोग हैं		
सिंहमार	चमार	जाट,	कुम्हार
लॉवा	,,	,,	पञ्जाब में खत्री
तोंड़ीवाल	,,	अहीर	
आफरिया	,,	,,	

सूचना—

(१) खंडेलवाल जाति के चमार और वैश्य जयपुर और दिल्ली आदि स्थानों में मिलते हैं।

(२) जिला रोहतक में धय्या और गठवाल दो बड़ी संख्याओं में जाटों की विरादरियाँ रहती हैं और यहीं पर इस जाति के चमार भी रहते हैं।

पाठक-वृन्द ! मैं समझता हूँ कि जो उद्धरण पहले लिखे गये हैं वे इस वात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि यूरोपियन इतिहासकारों और उनके अनुयायियों का यह कहना विलकुल गलत है कि आर्य लोग हिन्दुस्तान में वाहर से आये और गोंड़, भील, द्रविड़ आदि हिन्दुस्तानी और दूसरी कुछ विदेशी जातियाँ-आर्यों में से नहीं हैं; क्योंकि मनुस्मृति और महाभारत आदि ग्रन्थ (जिनके प्रमाण पहले लिखे गये हैं) यूरोपियन इतिहासकारों के इतिहासों से वहुत ही प्राचीन हैं। उनके लेख भी प्राय: घटनाओं पर ही माने जा सकते हैं; क्योंकि उनके ये लेख सत्य-घटना के समान ही वर्णित किये गये हैं। यह भी सम्भव है कि इन ग्रन्थों के वनानेवालों और गोंड़, भील और द्रविड़ आदि हिन्दुस्तानी और

दूसरी विदेशी जातियों का आर्यों से पृथकत्व और आर्यावर्त्त में उनका आवागमन उसके समय में अथवा उनसे कुछ ही पूर्व समय में हुआ हो और उनके समय में भी होता रहा हो। इस हेतु यह कहना बिलकुल न्यायोचित होगा कि मनुस्मृति आदि के लेख युरोपियन इतिहासकारों के लेखों से अधिक विश्वस्त हैं। इसी आधार पर दृढ़ता से कहा जा सकता है कि वर्त्तमान मूसाई, (यहूदी) ईसाई और मुसलमान महाशय भी इन्हीं आर्यों की सन्तान हैं जो कि मनुस्मृति आदि के लेखानुसार ब्राह्मणों (धर्मोपदेशकों) के न मिलने से धार्मिक कर्त्तव्यों के न करने के कारण पतित हो गये थे। इन धर्म-कर्म से रहित हो जानेवालों को स्मृतियों की परिभाषा में पतित कहते हैं। इसी कारण स्मृतियों में पतितों ही की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। अब यहाँ पर यह आक्षेप हो सकता है कि ईसाइयों और मुसलमानों को हिन्दुस्तान में आये केवल एक हज़ार वर्ष के लगभग हुआ है इसलिए प्राचीन स्मृतियों के प्रायश्चित्त का नियम इन पर लागू नहीं हो सकता। इसका उत्तर यह है कि प्रायश्चित्त के नियम का काल से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि प्रायश्चित्त पतितों के लिए है और पतित हर समय में होते हैं। स्मृतियों में वैदिक विचार और आचार से भ्रष्ट को पतित कहा गया है, इसलिए चाहे किसी काल में हों, गोंड़, भील और द्रविड़ हों, या ईसाई, मुसलमान और हिन्दू हों, स्मृतियों के प्रायश्चित्त का नियम सब पर लागू हो सकता है। हाँ, प्रायचिश्त्त के साधन और रीतियाँ समय की

आवश्यकता और पतितों की अवस्था के विचार से न्यूनाधिक होते और बदलते रहते हैं। यही कारण है कि मनु के काल से लेकर जबतक वैदिक-धर्म की मर्यादाओं को पालन करनेवाले आर्यों का राज्य और धर्म के राजनीति आदि अङ्गों के जाननेवाले विद्वान् भारत में विद्यमान रहे तबतक देश, काल और अवस्था के परिवर्त्तन के कारण समाज की आवश्यकता पूरी करने के लिए जिन-जिन नियमों की आवश्यकता हुई उनके बनाने के लिए यहां पर स्मृति आदि के बनाने का क्रम बराबर जारी रहा, फलतः इस क्रम की कुछ स्मृतियाँ और सूत्रग्रन्थ ऐसे भी हैं जिनमें जहाँ अहिन्दुओं की शुद्धि के प्रायश्चित्त का भी विधान है वहाँ इस प्रकार की घटनाओं का भी उल्लेख है जिनसे सिद्ध होता है कि आर्य लोग न केवल अपने देश में ही शुद्धि का काम करते रहे हैं किन्तु वे दूसरे देशों में भी धर्म-प्रचारार्थ जाकर अहिन्दुओं की शुद्धि बराबर करते रहे हैं। इसकी सिद्धि में प्रमाणों को नीचे लिखा जाता है। कृपया देखिये—

बलाद्दासी कृता ये च म्लेच्छ चाण्डाल दस्युभिः।
अशुभं कारिताः कर्म गवादि प्राणि हिंसनम् ॥१७॥
उच्छिष्ट मार्जनञ्चैव तथा तस्यैव भोजनम्।
खरोष्ट्र विड् वराहाणा मां मिषस्य च भक्षणम् ॥१८॥
तत्स्त्रीणांच तथा सङ्गंताभिश्च सह भोजनम्।
मासोषिते द्विजातौ तु प्रजापत्यं विशोधनम् ॥१९॥

संवत्सरोषितः शूद्रो मासार्धं यावकं पिबेत्।
मासमात्रोषितः शूद्रः कृच्छ्रः पादेन शुद्ध्यति ॥२१॥

(देवल स्मृतिः)

(अर्थ) जिसको म्लेच्छों (ईसाइयों, मुसलमानों) चाण्डालों और दस्युओं ने जबरदस्ती दास (गुलाम) बना लिया हो और उससे गाय आदि प्राणियों के मरवा डालने का बुरा काम कराया हो, जिसने उनकी जूठन साफ की हो अथवा खाई हो; गधे, ऊँट, दुम्बे और सूअर का मांस खाया हो उनकी स्त्रियों के साथ एक मास तक भोग और भोजन किया हो, तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की शुद्धि प्राजापत्य व्रत के करने से होती है, और शूद्र की शुद्धि पादकृच्छ्रव्रत से, और यदि शूद्र ने एक वर्ष तक ये पाप किये हों तो वह पन्द्रह दिन तक जौ की कढ़ी पीकर शुद्ध हो सकता है।

सरस्वत्याज्ञया कण्वो मिश्रदेशमुपाययौ।
म्लेच्छान्संस्कृत्य चाभाष्य तदा दश सहस्रकान् ॥१६॥
वशीकृत्य स्वयं प्राप्तो ब्रह्मावर्ते महोत्तमे।
ते सर्वे तपसा देवीं तुष्टुवुश्च सरस्वतीम् ॥१७॥
पंच वर्षान्तरे देवी प्रादुर्भूता सरस्वती।
सपत्नीकांश्च तान्म्लेच्छान शूद्रवर्णाय चाकरोत् ॥१८॥
कारुवृत्तकराः सर्वे बभूवुर्बहु पुत्रकाः।
द्विसहस्रास्तदा तेषां मध्ये वैश्याः बभूविरे ॥ १९ ॥

तन्मध्ये चार्चाय पृथुर्नाम्नो कश्यप सेवकः ।
तपसा च तुष्टाव द्वादशाब्दं महामुनिम् ॥ २० ॥
तदा प्रसन्नो भगवान् कण्वो वेद विदांवरः ।
तेषां चकार राजानं राजपुत्र परम ददौ ॥२१॥

(भविष्य पु०, प्रतिसर्ग, खं० ४, अ० २१)

(अर्थ) सरस्वती (विद्या) की प्रेरणा से कण्व ऋषि मिश्र देश में गया और वहाँ के दस सहस्र म्लेच्छों को पढ़ा कर और अपने वश में करके पवित्र ब्रह्मावर्त्त देश में लाया। उन शुद्ध हुए म्लेच्छों ने तप (श्रम) से देवी सरस्वती (विद्या) को प्रसन्न (प्राप्त) किया और पांचवें वर्ष में देवी की प्रसन्नता से उनको उनकी स्त्रियों सहित शूद्र वर्ण मिला। इसके बाद उनमें से दो हजार को वैश्य की पदवी दी गई और उनमें से पृथु नामक पुरुष ने बारह वर्ष तक आचार्य (शिक्षक) की सेवा की। तब वेद के ज्ञाता कण्व ने प्रसन्न होकर उसको राजा (क्षत्रिय) बना दिया और उसको राजपुत्र नामक नगर दिया। (तत्पश्चात् उसी के यहाँ मगध नाम का पुत्र हुआ जिससे मगध-राज्य का निर्माण हुआ)।

मिश्रदेशोद्भवा म्लेच्छाः काश्यपेनैव शासिताः ।
संस्कृताः शूद्रवर्णान् ब्रह्मवर्णमुपागताः ॥

(भविष्य पु०, प्रतिसर्ग, पर्व ३, खं० ४, अ० २०, श्लोक ७२)

(अर्थ) मिश्र देश में उत्पन्न म्लेच्छों को कश्यप के पुत्र कण्व ने विद्या पढ़ाई। इसलिए वह संस्कृत (शुद्ध) होकर ब्राह्मण-वर्ण को प्राप्त हो गये।

यंत्राणि कारयामासुः सप्तस्वेव पुरीषु च।
तदधो ये गता लोकास्सर्वे ते म्लेच्छतां गताः॥
महत्कोलाहलं जातमार्याणां शोककारिणाम्॥

(भविष्य पु०, प्रतिसर्ग ३, खं० ४, अ० २१, श्लोक ५०)

इससे पहले श्लोक ४८ में बतलाया गया है कि जब आर्यावर्त्त में म्लेच्छों का राज्य हो गया, तब उन्होंने सातों पुरियों (काशी, जगन्नाथ आदि) में महान् यन्त्र रचे अर्थात् मसजिदें आदि बना लीं, और जो उनके आधीन हुए वे म्लेच्छ बना लिए गए, तब आर्यों में कोलाहल मचा और वे बहुत दुखी हुए।

श्रुत्वा ते वैष्णवाः सर्वे कृष्णचैतन्य सेवकाः
दिव्यं मन्त्र गुरोश्चैव पठित्वा प्रययुः पुरी॥५१॥

यह समाचार सुनकर वैष्णव मत के मानने वाले कृष्ण चैतन्य के अनुयायी अपने गुरु से उत्तम उपदेशों को ग्रहण करके सातों पुरियों में फैल गए।

रामानन्दस्य शिष्यो वै चायोध्यामुपागतः
कृत्वा विलोमं तं मंत्रं वैष्णवास्तान कारयत॥५२॥
म्लेच्छास्ते वैष्णावाश्चासन् रामानन्द प्रभावतः
आर्याश्च वैष्णवा मुख्या अयोध्यायां बभूविरे॥५४॥

(अर्थ) उनमें से रामनन्द का शिष्य · अयोध्या में गया और वहाँ म्लेच्छों के उपदेशों का खंडन करके उनको वैष्णव बनाया। वे सारे म्लेच्छ रामानन्द के प्रभाव से वैष्णव बने और शेष आर्य अयोध्या में रहने लगे। इससे आगे के श्लोकों का अर्थ यह है—

बुद्धिमान् निम्बादित्य कांची में गया और वहाँ पर म्लेच्छों के विरुद्ध उपदेश करके सब को वैष्णव बनाया। इस तरह वैष्णव स्वामी हरिद्वार गया और वहाँ म्लेच्छों के विरुद्ध प्रचार करके सब को वैष्णव बनाया। इसी प्रकार वाणीभूषण आदि विद्वानों ने काशी आदि स्थानों में जाकर हजारों म्लेच्छों को शुद्ध किया।"

इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि आर्य (हिन्दू) लोग सदैव म्लेच्छों को शद्ध करके अपने में मिलाते रहे हैं।

शुद्धि का कार्य कैसे बन्द हुआ।

अब यहाँ पर यह प्रश्न किया जाय कि यदि हिन्दू सदा ही शुद्धि का काम करते आये थे तो उनमें से शुद्धि की प्रथा कैसे बन्द हो गई ? इसके उत्तर में सब से पहले मैं महाशय अल्वेरूनी के शब्दों को सामने रक्खूँगा और कहूँगा कि बग़दाद के निवासी उस मुसलमान लेखक का निम्नलिखित आँखों-देखा वर्णन कृपया ध्यान से पढ़िए। अल्बेरूनी को मुहम्मद ग़ज़नवी स्वयं आपने साथ लाया था और उसने भारत (मुलतान) में रह कर संस्कृत का अध्ययन

किया और भारत के तत्कालीन वृत्तान्त के सम्बन्ध में अरबी भाषा में एक बड़ा ग्रन्थ लिखा जिसका हिन्दी अनुवाद 'अल्बेरूनी का भारत' के नाम से छप चुका है। वह लिखता है—

"जिस समय ग़ज़नी के सामानी वंश की छाया में सर्वोच्च शक्ति नासिरुद्दीन सुबुक्तगीन के हाथ आई, उससे पहले किसी भी मुसलमान विजेता ने काबुल और सिन्ध नदी (अटक) सीमा को पार नहीं किया था। सुबुक्तगीन ने धर्म-युद्ध (जहाद) को अपना व्यवसाय ही बना लिया और इसी हेतु अपना नाम अलग़ाज़ी रक्खा। अपने बाद के उत्तराधिकारी-शासकों के लाभार्थ भारत की सीमा को निर्बल बनाने के लिये उसने मार्ग तैयार किए, जिनसे उसके बाद उसका पुत्र यमीनुद्दौला महमूद तीस बरस से भी अधिक समय तक भारतवर्ष पर आक्रमण करता रहा। पिता और पुत्र पर ख़ुदा दया करे। महमूद ने भारत के ऐश्वर्य को बिलकुल नष्ट कर दिया और वहाँ ऐसे-ऐसे पराक्रम दिखलाए कि हिन्दू मिट्टी के कणों की भाँति चारों ओर बिखर गए। अब उन बिखरे हुए अवशिष्ट मनुष्यों के हृदय में स्वभावतः मुसलमानों के प्रति स्थायी घृणा जम गई है"। (अल्बेरूनी का भारत, हिन्दी, प्रथम भाग, पृष्ठ २७)

इसके पश्चात् मैं घटनाओं के आधार पर सुबुक्तगीन और महमूद गज़नवी के अतिरिक्त तैमूर, नादिरशाह, अहमदशाह, अलाउद्दीन, मुहम्मद गोरी और औरंगज़ेब इत्यादि मुसलमान आक्रमण कारियों और शासकों की, शताब्दियों तक, भारत में की हुई,

लूट-मार और मज़हबी ज़ुल्म की ओर भी आक्षेपकर्त्ता का ध्यान दिलाऊँगा और पूछूँगा कि क्या इन निर्दयी तथा सदाचार और स्वतन्त्रता के शत्रु इस्लाम के राजनीतिक प्रचारकों के शासन में हिन्दू शुद्धि का काम जारी रख सकते थे ?

पाठक-वृन्द ! मैं उन मृत मुसलमानों के जहादी (मज़हबी-युद्ध सम्बन्धी) कार्यों को यहाँ जान बूझकर नहीं लिखना चाहता। एक तो इस हेतु कि काल के परदे में छिपे हुए इनके इस्लामी अन्यायों तथा अत्याचारों को लिखकर उसके प्रचार को बढ़ाना और पाठकों के हृदयों को दुखाना अभीष्ट नहीं है। दूसरा इस लिए कि इनके निजी और हिन्दुस्तान के अन्यान्य इतिहासों में इनके भयंकर कार्यों का विस्तृत वर्णन है। पाठकवर्ग उनको वहीं पर पढ़ सकते हैं। अथवा यदि नमूने के तौर पर पाठक-वृन्द उनके मज़हबी अत्याचारों को जानना चाहें तो अमृतसर के महाशय 'प्रीतम' की लिखी "इस्लाम कैसे फैला" नाम की पुस्तिका को देखकर जान सकते हैं। इन बातों को छोड़कर भी मैं संस्कृत-साहित्य से इसका प्रमाण चाहनेवाले भाइयों के परिचय के लिए केवल दो प्रमाण नीचे लिखता हूँ।

हिमपर्वत मार्गेण, सिन्धुमार्गेण चागमन्
जित्वार्य्यांल्लांठयित्वा तानस्वदेशं पुनराययुः ॥१६
गृहीत्वा योषितस्तेषां परमं हर्षमुपाययुः ॥ १७ ॥

(अर्थ) हिमालय और सिन्धु नदी (अटक) के मार्ग से आए (इन मार्गों से आनेवाले मुसलमान ही हो सकते हैं)। आर्यों

को जीतकर और लूट-पीट कर जब अपने देशों को वापस गए तो आर्यों की स्त्रियों को पकड़ कर ले गए और बड़े हर्ष को प्राप्त हुए।

सत्काव्य संहारविधौ खलानां दीप्तानिव ह्वे रपिमानसानि।
भासस्य काव्यं विष्णुधर्मात् सोप्यान नात्पारतरन्मोच ॥

यह हजरत ईसा की बारहवीं शताब्दी में ज्यानक के लिखे हुए पृथ्वीराज चरित के पहले सर्ग का तीसरा श्लोक है। इसकी टीका करते हुए ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी में जोनराज लिखता है।

सोऽग्निरपि भासमुनेः काव्यं विष्णुधर्मान्।
मुखात् त्यक्तवान नादहदित्यर्थः ॥

इसका अर्थ यह है कि "सच्चे काव्यों (लिटरेचर) को जलाने के लिए दुष्टों ने जो अग्नि जलाई थी उसके दहकते हुए मुख से भी भास कवि का काव्य बच गया।"

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि मुसलमान आक्रमणों और शासकों ने न केवल आर्यों को मारा-लूटा और उनकी स्त्रियों को ही पकड़ ले गये, किन्तु उन पक्षपाती मदोन्मत्तों ने आर्यों की सभ्यता और धार्मिक कर्त्तव्यों को मिटाने के लिए उनके बहुमूल्य साहित्य को भी जला कर भस्म कर डाला। इस प्रकार के अत्याचारों का यह आवश्यक परिणाम निकला कि शुद्धि के कार्य में भी शिथिलता आने लगी अर्थात् ब्राह्मणों और अन्य जातियों ने प्राण-भय से पतितों को अपने में मिलाने से इन्कार करना आरम्भ कर दिया;

क्योंकि उस समय उसका सीधा सम्बन्ध मुसलमानों से था। विदित होता है कि यह वही समय था जब कि आचार्यों को शुद्धि से इन्कार करनेवालों के सम्बन्ध में इस प्रकार की व्यवस्थाएँ देनी पड़ती थीं--

आर्त्तानां मार्गमाणानां प्रायश्चित्तानि योद्विजाः।
जानन्तु न प्रयच्छन्ति ते यान्ति समतांतुतैः॥

अंगिरस मुनि कहते हैं कि प्रायश्चित्त की प्रार्थना करनेवाले लोगों को जानते हुए भी जो द्विज (उसका) प्रायश्चित्त नहीं कराते वे पतितों के बराबर हो जाते हैं अर्थात् पतित हो जाते हैं।

ज्ञाति त्यक्तो हि कुरुते पापं ज्ञाति विवर्जितः।
तत् पापं ज्ञाति बन्धुनां जायते मनुरब्रवीत्॥

(स्कन्ध पु० ३१८)

स्कन्ध पुराण में लिखा है कि जाति को छोड़ कर जो मनुष्य जाति से पृथक् होने (अर्थात् पतित होने) के कारण पाप करता है वह पाप, मनु जी के नियमानुसार, विरादरी (जाति) को भी लगता है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि वैदिक-धर्मियों को अपनी विरादरी के आदमियों को पतित अर्थात् मुसलमान आदि न होने देना चाहिए और यदि वे अपने कर्त्तव्य को पूरा नहीं करेंगे तो वे भी पाप के भागी होंगे।

यदि इन प्रमाणों के लिखने के बाद भी किसी को मुसलमानों के इतिहास-प्रसिद्ध अत्याचारों को यहाँ पर न लिखने के कारण मेरे वर्णन में कुछ सन्देह हो तो मैं शुद्धि के सम्बन्ध में कट्टर पक्ष-पाती मुसलमानों की मनोवृत्ति और अत्याचार को जानने के लिये हाल ही में किये उनके कुछ कार्य और लेख नीचे लिखता हूँ। आशा है कि इनसे पाठकों को शुद्धि के सम्बन्ध में विगत मुसल-मान अधिकारियों की गति-विधि भी भली भाँति विदित हो जायगी।

इस्लाम छोड़ने और छुड़ाने वालों के लिए शरा का फ़तवा* और उसका उपयोग

(१) इमाम हिन्द (हिन्दुस्तान के इमाम) कहलानेवाले मृत मौलाना अब्दुल बारी साहब (फिरंगी महल्ला लखनऊ) ने मुसलमानों के नाम एक खुला पत्र प्रकाशित किया था, उसमें आप लिखते हैं "ऐसा होते हुए भी मैं आर्य-समाज को इसका अधिकारी नहीं समझता कि वह अपने झूठे मज़हब का निमन्त्रण दे।............मैं तो सिवाय सच्चे मज़हब इस्लाम के किसी झूठे मज़हब के निमन्त्रण को किसी का भी अधिकार नहीं समझता। यह बात भिन्न है कि मिथ्या-वादी झूठी बातों का

---

*फ़तवा = दंड सम्बन्धी व्यवस्था। मुर्तिद = इस्लाम को छोड़ने वाला।

प्रचार करें और मैं उसको रोक न सकूँ।.........साँप और बिच्छू यदि हमको नहीं काटते हैं और ज़हरीले हैं तो हमें अख़तियार है कि हम उन्हें न मारें परन्तु मुर्तियों (इस्लाम को त्यागनेवालों) के विषय में हमको अख़तियार नहीं है कि हम उनसे समझौता करें।" (मुसलमानों के नाम खुला पत्र, पृष्ठ १२-१३)

"मुर्तिद (इस्लाम को छोड़नेवाला) और मवीदइर्तदाद (इस्लाम को छुड़ानेवाला) से मुझसे सन्धि नहीं हो सकती। यह ऐसा कार्य है जिसका प्रतिकार नहीं हो सकता। मैं सिवाय इस्लाम के किसी को इसका हक़दार नहीं समझता कि वह अपने मज़हब का प्रचार करे और लोगों को मज़हब का निमन्त्रण दे। इस हेतु कि मैं सिवाय इस्लाम के अन्य किसी मज़हब को आचरण करने के योग्य विश्वास नहीं करता हूँ। मैं यदि एक मिनट के लिए भी इसको पसन्द कर लूँ तो अपने ईमान में मुझे सन्देह है। ईश्वर इससे हमारी रक्षा करे। चाहे मुसलमान अरब देश के वंश से हों य अजमी हों अथवा हिन्दुस्तानी हों, किसी मुसलमान को मुर्तिद (ग़ैर मुस्लिम) करने का हक़ किसी को प्राप्त नहीं है। प्रत्येक सम्भव शक्ति से हमको रोकना चाहिए। यदि ऐसा न करेंगे तो मुस्लिम रहना हमारा विदित है। (मुसलमानों के नाम खुली चिट्ठी, पृष्ठ ४६)।

हम शुद्धि के आन्दोलन को कुचलने के लिए प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करेंगे और इसको अपना कर्तव्य समझते हैं। मैं किसी बदनामी से नहीं डरता हूँ। मैं स्पष्ट निवेदन करता हूँ कि

प्रत्येक विपक्षी तथा शत्रु से यहां तक कि अङ्गरेजों से भी सन्धि हो सकती है; परन्तु इस्लाम के छोड़नेवालों से नहीं हो सकती है ...... हमारी इच्छा केवल यही नहीं कि मुर्तिद पुनः मुसलमान हो जायँ, किन्तु हम तो समस्त हिन्दुओं को मुसलमान होने का निमन्त्रण देते हैं। वरन् संसार को जो मुसलमान नहीं है, इस्लाम का निमन्त्रण देते हैं और किसी मज़हब का निमन्त्रण सुनना नहीं चाहते।" (मुसलमानों के नाम खुली चिट्ठी पृष्ठ ४८)

जनवरी सन् १९२४ ई० के अन्तिम सप्ताह में बम्बई में श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने एक अधिवेशन में मौलाना अब्दुलबारी साहब के उपर्युक्त मजहबी स्वतन्त्रता और एकता के बाधक इस्लामी मन्तव्यों की चर्चा की तब उपस्थित मनुष्यों में से एक ने उनकी सत्यता से इन्कार किया और अखबार शौकत बम्बई के सम्पादक मुल्ला खुजन्दी ने बारी साहब को पत्र लिखा जिसका उत्तर मौलाना अब्दुलबारी साहब की ओर से १७ फरवरी सन् १९२४ ई० के अखबार शौकत में निम्नलिखित प्रकाशित हुआ—

"ऐसे ही मैंने मुर्तिद को क़त्ल की आज्ञा नहीं दी, न हम लोगों में से ऐसी आज्ञा कोई दे सकता है। विशेष कर उस अवस्था में जब कि मुर्तिद के क़त्ल से अपराधी को प्राणदण्ड के योग्य समझा जाय। मैं खुदा और रसूल पर ईमान लाया हूँ। जो आज्ञा उनकी है,

मेरे निकट वही न्याय और स्वतन्त्रता सत्य के अनुसार है। मुझे उसके प्रकट करने में कोई रुकावट नहीं होती है। रसूलअल्लाः सल्लअल्लाः अलैवस्सलम् की आज्ञा है कि मुर्तिद् कत्ल कर दिया जाय। खलीफ़ा अकबर ने मुर्तिदों के क़त्ल पर इतना जोर दिया है कि सब सन्धि पर आचरण करनेवाले अन्त में अनुकूल हो गये।.........हज़रत अब्दुल्ला बिन मसऊद, हज़रत अली इत्यादि ने मुर्तिद चाहे वह मूसाई अथवा ईसाई हो गया था मुशरिक़ज़िन्दीक़ हो, उसके क़त्ल करवा डालने पर सम्मति दी। इस हेतु यदि मुझसे फ़तवा पूछा जायगा तो मुफ्तियों के कथन और शरा के जाननेवालों के अनुकूल व्यवस्था दूँगा। वह यह कि मुर्तिद् को तीन दिन का अवकाश दिया जायगा, उसके बाद वह तोबा न करे तो क़त्ल कर दिया जावेगा।"

श्रद्धानन्द साहब ने हमारे एक लेख का अपने भाषण में प्रमाण दिया है। हमने लिखा था कि साँप और बिच्छुओं से सन्धि हो सकती है, परन्तु इस्लाम छोड़नेवालों और छुड़ानेवालों से सन्धि नहीं हो सकती। हम अब भी यह कहते हैं कि मुर्तिद् अगर मज़हब इस्लाम की ओर न लौटे तो मुसलमान उसको वध के योग्य समझेंगे। हनफ़ियों का मत है कि इस्लाम को छोड़नेवाली स्त्री वध न की जायगी। अन्य आयमा लोग उसके वध के भी पक्षपाती हैं। (मुसलमानों के नाम खुला पत्र, पृष्ठ ११)।

यह तो हज़रत मुहम्मद साहब आदि की आज्ञानुसार मौलाना अब्दुलबारी साहब का वह फ़तवा है, जिसके सम्बन्ध में महात्मा जी ने अपनी २९ मई सन् १९२४ ई० की प्रसिद्ध घोषणा में निम्न-लिखित सम्मति को प्रकट किया था—

"मौलाना अब्दुलबारी साहब को मेरे सामने एक मजहबी दीवाना के रूप में रक्खा गया है और हिन्दुओं का सबसे बड़ा शत्रु बनाया गया है। आपके कई लेख भी मेरी दृष्टि के सामने हैं, परन्तु मैं उनका अभिप्राय समझने में अशक्य हूँ। मैंने उनके सम्बन्ध में मौलाना से आग्रह भी नहीं किया; क्योंकि मैं उन्हें ईश्वर परमात्मा का निरपराध बालक समझता हूँ।"

पाठकवृन्द ! महात्माजी संसार भर के लेख तो समझ सकते हैं; परन्तु मौलाना अब्दुलबारी साहब के लेख समझने में बिलकु. अशक्य हैं। आप मौलाना से उनके सम्बन्ध में इस हेतु नहीं पूछा क्योंकि आप उन्हें निरपराध समझते हैं। इसको महात्मा जी का भोलापन समझा जाय अथवा कृपा तथा पक्षपात करना। पाठक-वृन्द स्वयं इसका निर्णय कर लें।

(२) जमैयतुल उल्मा के अखबार अलज़् मैयत २९ नवम्बर सन् १९२६ ई० के अंक में इस्लाम को छोड़नेवाली स्त्री के लिए निम्नांकित फ़तवा लिखा हुआ है :—

"(१) मुर्तिदा (इस्लाम को छोड़नेवाली स्त्री) कोई नया विवाह नहीं कर सकती।

(२) उसको क़ैद किया जायगा और जब तक मुसलमान न हो, बराबर क़ैद रहेगी।

(३) वह अपने प्रथम पति के सिवाय किसी से विवाह न कर सकेगी।

(४) उसको प्रथम पति के साथ विवाह करने के लिए बाध्य किया जायगा, चाहे वह राज़ी हो या न हो।

(५) उसको इस्लाम स्वीकार कराने के लिए बाध्य किया जायगा।

(६) उसको पचहत्तर (७५) कोड़े मारे जायँगे।

(३) रियासत भूपाल की स्वामिनी बेगम साहबा ने नौ मुस्लिमों* की शुद्धि को रोकने के लिए निम्न-लिखित क़ानून बनाया था :—

"नक़्ल जरीदा ७ जुलाई सन् १९२० ई०—घोषणा संख्या ७, ता० ५ जुलाई सन् १९२० ई० श्रीमती बेगम साहबा रियासत भूपाल की स्वामिनी ने स्वीकृत किया है कि ताज़ीरात शाह-जहाँनी नं १, सन् १९१२ ई० की धारा ३०० के अनुसार अर्थात् "मजमूआ ताज़ीरात भूपाल" (भूपाल-दण्ड-संग्रह) में धारा (दफ़ा)

*नौ मुस्लिम = नए मुसलमान अर्थात् जो कुछ ही वर्ष पूर्व या पीढ़ी दो पीढ़ी से मुसलमान बने हैं, जिनकी बहुत सी प्रथायें हिन्दू प्रथाओं के तुल्य हैं और वे नाम मात्र के मुसलमान हैं।

३९३ (अ) में निम्न-लिखित बात बढ़ाई जाय, जो प्रकाशित होने की तारीख़ से कुल रियासत भूपाल में जारी होने और व्यवहार में लाने योग्य समझी जायगी।"

इस्लाम स्वीकार करने के बाद मुर्तिद[1] हो जाना

दफ़ा ३९३ अलिफ़—यदि कोई मनुष्य इस्लाम स्वीकार करने के बाद मुर्तिद हो जाय तो उसको दोनों प्रकार का दंड दिया जायगा, जिसकी अवधि ३ वर्ष क़ैद हो सकती है या जुर्माना (आर्थिक-दंड) किया जायगा, या दोनों दंड दिए जायँगे। सर्व-साधारण को सूचना देने तथा व्यवहार में लाने के लिए यह घोषणा की जाती है।

भूपाल की शासिका महोदया की आज्ञानुसार (मोहर)
वाजिब अलीख़ाँ, सेक्रेटरी, जुडीशल डिपार्टमेंट।

(नोट) दो-तीन मास हुए हैं कि हिन्दुओं के कोलाहल मचाने पर वर्त्तमान शासक रियासत भूपाल ने इस क़ानून को रद्द कर दिया है।

यह तो मुफ़्तियों[2] और मुसलमान शासकों के फ़तवों का नमूना है। अब फ़तवों (दंड-व्यवस्थाओं) की पूर्त्ति में होनेवाली घटनाओं का भी नमूना देखिए।

---

१ मुर्तिद हो जाना = इस्लाम को छोड़ देना।
२ फ़तवा देनेवाले को मुफ़्ती कहते हैं।

(१) शुद्धि की पताका फहरानेवाले महान् शहीद[1] श्री पंडित लेखराम जी और शहीदों के मुकुटमणि श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज और शुद्धि के दस ग्यारह अन्य कार्य-कर्त्ताओं का मुसलमानों के हाथों से केवल इस हेतु क़त्ल किया जाना कि वह मुसलमानों को वैदिक-धर्मी बनाते थे और शहीद महाशय राजपाल जी का क़त्ल और श्री स्वामी सत्यानन्द जी महाराज इत्यादि पर मतान्ध मुसलमानों का घातक-आक्रमण करना, आदि-आदि इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि मुसलमान वर्त्तमान दासता और विवशता की अवस्था में भी अपने मतवादियों का अन्य मजहब में जाना अथवा इस्लाम मत के प्रवर्त्तक के सम्बन्ध में सच्ची घटनाओं का सुनना भी सह नहीं सकते और यथाशक्ति मुसलमानों को अपने धर्म में मिलानेवाले का वध करने से भी नहीं हिचकते।

(२) लाला देवकीनन्दन मखड जिला कम्बलपुर पंजाब को मुसलमानों ने नवम्बर सन् १९२३ ई० में इस हेतु संगसार[2] कर दिया (पत्थर बरसाकर मार डाला) क्योंकि उसने एक जन्म की मुसलमान लड़की की शुद्धि करके उसके साथ विवाह किया था। शुद्धि के बाद उस लड़की का नाम प्रेमदेवी था। उसको आर्य-समाज वच्छोवाली लाहौर ने शुद्ध किया था और उसका विवाह पं० सन्तराम जी और पंडित भगतराम जी ने कराया था।

---

१ शहीद = जो धर्म के प्रचारार्थ मार डाला जाय धर्म के प्रचार में बलिदान होनेवाला व्यक्ति।

२ संगसार करना = पत्थर बरसा कर मार डालना।

(३) (क) ३१ अगस्त सन् १९२४ ई० को अमीर काबुल की अदालत (शरा-सम्बन्धी न्यायालय) की आज्ञा से मौलवी नियामतुल्ला नामी अहमदी मुसलमान को केवल मजहबी विश्वास के आशिक़ विरोध के अपराध से मुर्तिद समझकर ही कमर तक जमीन में गाड़कर संगसार किया गया और सबसे पहले उसको काबुल के सब से बड़े मौलवी ने पहला पत्थर मारा। (देखो, काबुल का सरकारी अखबार हक़ीक़त, ता० ६ महीना सफ़र नं० १)

पाठक-वृन्द! मजहब के नाम पर किया हुआ यह अत्याचार काबुलियों तक ही सीमित नहीं रहा; किन्तु काबुल-शासन के इस मजहबी हत्या-काण्ड पर देवबन्द के मुस्लिम विद्वान् जमैयत उलमाय हिन्द, लाहौर के उलमा (मुस्लिम विद्वान्) और आल इण्डिया सुन्नी कान्फ़रेन्स मुरादाबाद ने भी अपनी प्रसन्नता प्रकट की और शासन के इस कार्य का शरीअत के अनुसार उचित ठहराकर प्रस्तावों को तार द्वारा अमीर साहब की सेवा में प्रेषित किया। तार में भेजे हुए प्रस्तावों का नमूना निम्न लेखानुसार है :—

तारीख़ २८ सफ़र सन् १३४३ ई० हिजरी को लाहौर के मुसलमान विद्वद्वर्ग, स्वर्गीय वज़ीरखां के मसजिद में सवेरे ८ बजे .क़ुरान मजीद पढ़ने के बाद एकत्र हुए और निम्न-लिखित विषय का तार अफ़ग़ानिस्तान के अधिपति श्रीमान् अमीर अमानुल्ला खाँ साहब गाज़ी की सेवा में भेजना निश्चित हुआ और आज ता० २९ माह सफ़र सन् १३४३ ई० हिजरी को यह तार भेजा—

"हम हनफ़ी विद्वान् अफ़ग़ानिस्तान के सम्राट् महोदय के इस प्रशस्त निश्चय को अत्यन्त प्रसन्नता और कृतज्ञता की दृष्टि से देखते हैं कि आपने शरा के अनुकरण और इस्लामी धर्म की रक्षा के लिए धर्मच्युत सम्प्रदाय मिरज़ा क़ादियानी के एक अनुयायी नियामतुल्ला नामी को अहमदिया क़ादियानी धर्म का प्रचार करने के अपराध में पत्थरों से मरवा डाला। हम सच्चे हृदय से काबुल नरेश के लिए ईश्वर से प्रार्थी हैं कि उन्होंने शरा की आज्ञा का पालन करके साधारणतया संसार भर के मुसलमानों को और विशेषतया हनफ़ियों को अनुगृहीत किया।"

हस्ताक्षर करनेवाले—

(१) मौलाना मौलवी सैयद अबू मुहम्मद, मुहम्मद दीदार अलीशाह साहब ख़तीब मसजिद वज़ीर ख़ाँ मरहूम।

(२) मौलाना मौलवी असग़र अली साहब रूमी प्रोफ़ेसर, इस्लामिया कालेज, लाहौर इत्यादि बारह मौलवियों के हस्ताक्षर हैं।

दस्तख़त अबुलबरकात, सैयद अहमद ख़लफ़ुलरशीद मौलाना, मौलवी सैयद अबू मुहम्मद, मुहम्मद दीदारअली शाह साहब नाज़िम ज़रबुलमनाफ़ मसजिद वज़ीर ख़ाँ मरहूम लाहौर। (तेज, देहली, ४ अक्तूबर, सन् १९२४ ई०; ज़मीन्दार अख़बार, लाहौर से उद्धृत)।

इन तारों के पहुँचने पर अमीर साहब की तरफ़ से जो धन्यवाद देने के लिए जवाबी तार दिये गये, उनका विषय उलमाय-देवबन्द को दिये हुए निम्नलिखित जवाब से स्पष्ट है :—

"आपका तार २६ सितम्बर सन् १९२४ ई० का, जिसमें आपने एक फ़ैसला शरई (शरा के अनुसार निर्णय) का समर्थन किया है और उससे अपनी अनुकूलता प्रकट की है, अफ़ग़ानिस्तान की हुकूमत (गवर्नमेंट या शासक-मण्डल) आपको धन्यवाद देती है।"

(क) अज़ दफ्तर ख़ार्जिय: (कार्यालय पर-राष्ट्र) काबुल।

(४ अक्टूबर, सन् १९२४ ई०; ६ बजे सायंकाल—उत्तर डाक द्वारा)

(ख) नियामतुल्ला: ख़ाँ मरहूम (स्वर्गीय) के बाद काबुल में अन्य दो अहमदी पठान दुकानदारों को भी अहमदी मज़हब के प्रचार करने के अपराध में मृत्यु-दण्ड की आज्ञा दी गई और बुरी तरह से संगसार किया गया।

(ग) इसी प्रकार काबुल में एक हुक्मचन्द नामक हिन्दू इस कारण संगसार किया गया कि उसका सम्बन्ध किसी मुसलमान स्त्री से हो गया था। उससे कहा गया कि तुम इस्लाम स्वीकार करने पर दण्ड से बच सकते हो; परन्तु उसने अस्वीकार किया। इस हेतु उसको ज़मीन में गाड़कर भालों से छेदकर मार डाला गया। इत्यादि।

जब कि आजकल की स्वतन्त्र और अर्द्ध-स्वतन्त्र इस्लामी रियासतों और शासित तथा बेबस हिन्दुस्तानी मौलवियों के पक्षपात की यह दशा है, जो नमूने के तौर पर ऊपर दिखलाई गई है, तब शताब्दियों पूर्व के स्वतन्त्र इस्लामी राज्यों के शासन-काल में अपनी धार्मिक मर्यादाओं (विशेष कर शुद्धि की, जिसका प्रभाव उस समय मुसलमानों ही पर पड़ता था) के पालन करने में जो

असमर्थता अथवा विवशता हिन्दुओं को होगी, उसका अनुमान सुगमता से किया जा सकता है, क्योंकि इस समय के हिन्दुस्तानी मुसलमान तो विवश हैं। इस हेतु इस्लाम को छोड़ने और मुसलमानों को शुद्ध करनेवालों को वे क़त्ल नहीं कर सकते। उन्हें यह भय है कि मुर्तिद् को वध करनेवाला मुसलमान हत्या के अपराध में फाँसी पा जायगा, जिसको मौलाना अब्दुलबारी साहब ने पीछे लिखे हुए अपने इन शब्दों में स्पष्ट-रीति से प्रकट कर दिया है :—

"ऐसे ही मैंने मुर्तिद् को क़त्ल की आज्ञा नहीं दी, न हम लोगों में ऐसी आज्ञा कोई दे सकता है, विशेष कर उस दशा में जब कि, मुर्तिद् के क़त्ल से प्राणदण्ड का भागी समझा जाय।"

परन्तु आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व इस्लामी राज्य में इस प्रकार का कोई भय इनको नहीं था, इसलिए उन्हें इस्लाम छोड़ने और छुड़ानेवाले को मार डालने में कोई रुकावट नहीं थी। उनके बचने का सिवाय इसके और कोई उपाय नहीं था कि वे मुसलमान हो जायँ। यह दशा तो इस्लामी शासनकाल की थी। हाँ, हाल के ईसाई सम्राटों और ईसाई पादरियों की सहिष्णुता के वर्त्ताव को देखकर यह अनुमान हो सकता है कि पहले-पहल हिन्दुस्तान में आनेवाले ईसाइयों का भी यही हाल होगा; परन्तु नहीं, सचाई बिलकुल इसके विरुद्ध है। इतिहासवेत्ता तो जानते ही हैं। पुराने समय के ईसाई-पादरियों के मजहवी पक्षपात और हिंसा की घटनाओं से यूरोप के इतिहास परिपूर्ण हैं। ईसाई पादरियों ने ब्रूनो और देवी पेशिया जैसे बड़े-बड़े विद्वान् और अन्वेषक दार्श-

निकों की खालें केवल इसलिए खिंचवाईं कि उनके ज्ञान और विचार इञ्जील के प्रतिकूल थे। रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेएट सम्प्रदायों का पारस्परिक रक्तपात चिरकाल तक इस हेतु जारी रहा कि उनके कई विश्वास एक दूसरे से नहीं मिलते थे। मुझे यहाँ पर उनका विवरण लिखने की जरूरत नहीं है; क्योंकि मुझे तो यहाँ पर केवल पहले-पहल हिन्दुस्तान में आनेवाले ईसाइयों के, विशेष कर शुद्धि के सम्बन्ध में हिन्दुओं पर किये हुए अत्याचारों का नमूना आक्षेपकर्त्ता के सामने रखना है। उनका हाल नीचे की घटनाओं से स्पष्ट हो जायगा।

शुद्धि करनेवालों पर ईसाइयों के अत्याचार

(१) इतिहास-शोधक महोदय सर देसाई अपनी ब्रिटिश रियासत नामक पुस्तक में लिखते हैं कि वसई के पास जो तीर्थ-स्थान है, उसके आस-पास के ब्राह्मण पुर्त्तगाली-ईसाइयों के द्वारा ईसाई बनाये हुए लोगों को शुद्ध कर लेने का काम खुले तौर पर किया करते थे। जो हिन्दू भ्रष्ट होकर ईसाई बन गये थे, ब्राह्मण उन्हें अपने धर्म में आने का केवल उपदेश ही नहीं देते थे, किन्तु जन्माष्टमी जैसे बड़े-बड़े त्योहारों के अवसर पर उनसे स्नान या गंगा-स्नान कराकर उन्हें शुद्ध कर लिया करते थे। ब्राह्मणों की इन चालों को देखकर पादरी लोग खूब द्वेष करते और

उनके प्रयत्न को रोकने के लिए वह थाना बसई और बम्बई आदि स्थानों में खाड़ियों और समुद्रों के किनारे खम्भों पर क्रास (फाँसी) लगा रखते थे। ऐसी दशा में जहाँ क्रास न लगे हों, वहाँ जाकर ब्राह्मण अपनी शुद्धि का काम किया करते थे। अन्त में ईसाइयों से तंग आकर ब्राह्मणों ने बसई के समीप के जंगल में एक तालाब ढूँढ़कर वहाँ छिप-छिपाकर अपना शुद्धि का काम आरम्भ कर दिया। कुछ दिनों में उस स्थान का भी पता ईसाइयों को लग गया और पुर्त्तगाली सिपाहियों ने उन ब्राह्मणों पर आक्रमण करके उन्हें वहाँ से भगा दिया। उस समय एक वैरागी, जो ईसाई से हिन्दू बना लिया गया था, उनकी सेना के सामने अकेला निडर होकर खड़ा रहा। इससे पादरी इतने चिढ़ गये कि उन्होंने उस स्थान को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला और गौएँ मारकर उसके मांस और रक्त से उस तालाब के समीप के स्थान को सींच दिया। इस भाँति उन्होंने वह स्थान अपवित्र बना डाला। (देखो; अगस्त, सन् १५६४ ई०, पृष्ठ १८३ व १८४)

(२) स्वर्गवासी श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज अपनी लिखी "अन्ध-विश्वास और ख़ुफ़िया जहाद" नामक उर्दू पुस्तक के पृष्ठ ११५—११६ पर लिखते हैं कि "दी जीसूइट्स" नामक पुस्तक में लिखा है—

"जब पादरी एक ग्राम से दूसरे ग्राम की ओर चला जाता तो पहले ग्राम के ईसाई बने हुए हिन्दू पुनः अपने ब्राह्मणों की छत्रच्छाया में हिन्दू बन जाते, तब ज्यूअर के पादरी उन पर बड़े-बड़े अत्याचार

करने लगे, जिससे तंग आकर हिन्दुओं ने उन हिन्दुओं से सहायता माँगी, जिन पर पुर्तगालियों का कोई दबाव या प्रभाव नहीं पड़ सकता था। उन्होंने सब ईसाइयों को तलवार के घाट उतारा। तब ज्यूअर ने गोआ में एक ख़ूनी अदालत (प्राण-दण्ड विधायक-न्यायालय) बनाई, जिसकी आज्ञा से ग़ैर ईसाई मार डाले जाते और उनकी सम्पत्ति जीसूइट पादरियों की भेंट होती। कोई-कोई जीवित ही जला दिये जाते। इन भयङ्कर अत्याचारों ने कायर हिन्दुओं को ईसाई बनने के लिए विवश कर दिया।"

इन ऐतिहासिक घटनाओं के जानने के बाद इस आक्षेप का स्थान ही नहीं रहता कि हिन्दुओं ने शुद्धि का काम क्यों बन्द कर दिया; क्योंकि इनसे प्रकट है कि हिन्दुओं से शुद्धि का काम जबरदस्ती बन्द करा दिया गया अथवा हिन्दुओं ने शुद्धि का कार्य विवश होकर बन्द कर दिया।

पाठकवृन्द ! प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्य इस बात की सचाई का अनुमान कर सकता है कि जिस समय एक ओर ईसाइयों और मुसलमानों को हिन्दू बनाने और बननेवालों के लिए ईसाई और मुसलमान अधिकारियों के मजहबी पक्षपात की रक्तरंजित तलवार लटक रही हो, उनका धार्मिक साहित्य भी जला दिया गया हो और दूसरी ओर हिन्दुओं के राज्य आदि साधनों के न रहने से वैदिक-धर्म का प्रचार बन्द हो जाने पर अविद्या और साम्प्रदायिक विरोध भी बढ़ रहे हों, उस समय हिन्दुओं का अहिन्दुओं को हिन्दू बनाना कैसे जारी रह सकता था, परन्तु शुद्धि के इस प्रकार बन्द हो

जाने से जब सैकड़ों वर्ष तक यही अवस्था रही और जन्म-बड़प्पन (जाति की उच्चता) का घमंड भी बढ़ता गया। गोमांस खाने-वालों को बहुत तुच्छ समझने से उनसे घृणा भी बढ़ गई। तब उन्हें हिन्दुओं में न मिलाने की रीति को भी भूल से सनातन समझा जाने लगा; परन्तु क्या ऐसी विपत्ति के समय में भी सब हिन्दुओं में से शुद्धि का काम बन्द हो गया? कदापि नहीं; क्योंकि वीर मराठों, शूर राजपूतों और बहादुर सिक्खों में शुद्धि की रीति बराबर बनी रही। उसका कारण यह था कि वे किसी से भयभीत नहीं थे। इसका प्रमाण नीचे की घटनाओं से बराबर मिलता है।

महाराष्ट्र इतिहास और शुद्धि

(१) कलकत्ते से निकलनेवाले अंगरेजी मासिक पत्र "माडर्न रिव्यू" मई के अङ्क पृष्ठ ५६६ में प्रकाशित हुआ है कि प्रोफ़ेसर यदुनाथ सरकार ने "शिवा जी महाराज के जीवन-चरित्र की सामग्री शीर्षक" से एक लेख लिखा है "जेढे का इतिहास" मराठी भाषा में छत्रपति शिवाजी महाराज के समय का एक इतिहास है। इस पुस्तक में अंगरेज व्यापारियों की कोठियों का हाल है। प्रोफ़ेसर यदुनाथ ने इस पुस्तक के इन्हीं दोनों घटनाओं के प्रमाणों से शुद्धि की एक ऐतिहासिक घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है—

(क) १९ जून सन् १६७६ ई० को "नेताजी पालकर पानी प्रायश्चित्त घेतले शुद्ध जाने" अर्थात् नेता जी पालकर ने प्रायश्चित्त किया और वह शुद्ध हुआ।

(ख) २४ जुलाई सन् १६७६ ई० को अंगरेजी व्यापारियों ने राजपुर से सूरत की कोठी के प्रबन्ध कर्त्ताओं को लिखा था कि—

"शिवाजी के पास हाल ही में एक चालाक तथा बुद्धिमान् मनुष्य नेताजी पालकर वापस आया है, जो कि दस वर्ष तक मुग़ल दरबार में रहा है और जो मुसलमान कर लिया गया था, परन्तु अब वह फिर हिन्दू बना लिया गया है।" (सूरत की कोठी-सम्बन्धी लेख, जिल्द २८६ ।)

पाठकवृन्द, यह नेताजी पालकर शिवाजी महाराज के अश्व-शाला का अध्यक्ष था। उसे औरंगजेब ने सन् १६६७ ई० में क़ैद कर लिया था और ज़बरदस्ती मुसलमान बना लिया था। उसके बाद औरंगजेब ने नेताजी पालकर को पञ्जाब और अफ़ग़ानिस्तान में नियुक्त किया। दस वर्ष के बाद फिर उसे अपने स्वामी शिवाजी महाराज की सेवा में उपस्थित होने का अवसर मिल गया। महाराज ने उसे शाका सम्वत् १५९८ अषाढ़ बदी ४ को शुद्ध करके फिर हिन्दू बना लिया। "जेढे का इतिहास" के मराठी भाषा के जो शब्द ऊपर लिखे गये हैं, उनमें "शुद्ध किया गया" यह स्पष्ट लिखा है, जिससे सिद्ध है कि उस समय भी प्रायश्चित्त के बाद हिन्दुओं में सम्मिलित होने के लिए शुद्धि का शब्द प्रयुक्त किया जाता था।

इस कारण हिन्दुओं का न तो शुद्धि-आन्दोलन ही नवीन है और न शुद्धि का शब्द प्रयुक्त करना ही नया है।

(२) मराठी "भक्ति लीलामृत" के अध्याय ४४ में लिखा है कि विद्यारण्य स्वामी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "पञ्चदशी" में स्पष्ट लिखा है :—

गृहीतो ब्राह्मणो म्लेच्छैः प्रायश्चित्त चरन्पुनः।
म्लेच्छैः संकीर्यतेनैव तथा भास शरीरकैः॥

(अर्थ) जिन ब्राह्मणों को म्लेच्छों ने मुसलमान बना लिया हो उसके प्रायश्चित्त करने के बाद उसके शरीर से म्लेच्छपन दूर होकर वह शुद्ध हो जाता है।"

इस श्लोक के अनुसार बहिरङ्ग भट्ट को पीठन के ब्राह्मणों ने शुद्ध कर लिया था।

(३) बीजापुर के शासक आदिलशाह ने पलटन के ताल्लुक़ेदार बापाजी राव निम्बालकर को अपनी लड़की देकर मुसलमान बना लिया था। जब बापाजी राव पलटन में वापस पहुँचा तो छत्रपति शिवाजी की माता जीजाबाई ने उसे अपने पास बुलाया और सम्पूर्ण मराठा-मंडल की एक सभा की और बापाजी राव को शुद्ध करके बिरादरी में मिला लिया और लोगों का सन्देह दूर करने के लिए अपनी नातिन सुक्खोबाई का विवाह उनके पुत्र महाबाजी के साथ कर दिया।

(४) सर रानाडे रचित "राइज़ आव् दि मराठा" (मराठों का उत्कर्ष) में लिखा है कि कोकन (कोकन) के एक ब्राह्मण

को हैदरअली ने अपनी छावनी में पोलिटिकल कैदी के तौर पर नज़रबन्द कर रक्खा था। लोगों को सन्देह हुआ कि वह जान बचाने के निमित्त मुसलमान हो गया है, इस पर ब्राह्मणों की सम्मति और राज्य की व्यवस्था से वह फिर ब्राह्मण बना लिया गया। इसी प्रकार की और भी तीन-चार घटनाएँ इस पुस्तक में दी गई हैं।

(५) गंगाधर रंगनाथ कुलकर्णी को मुसलमान बना लिया गया था। वह पाँच वर्ष तक मुसलमान रहा, परन्तु जब उसे अवसर मिला, वह वापस आ गया और राजा श्री छान्दोगामात्या ने उसको शाका संवत् १६०८ में चैत्र शुक्ल सोमवार को शुद्ध कर लिया और श्री छान्दोगामात्या ने एक घोषणा की कि गंगाधर रंगनाथ कुलकर्णी के ब्राह्मण होने में जो कोई सन्देह करेगा, वह देवद्रोही और महापातकी समझा जायगा।

(६) पेठान गाँव का नरहरि राज लेकर एक ब्राह्मण मुसलमान हो गया था; परन्तु पेशवा सवाई माधवराव की आज्ञा से पेठान के ब्राह्मणों ने उसको शुद्ध करके अपनी बिरादरी में मिला लिया।

राजपूत इतिहास और शुद्धि

(७) ग्लासरी आव् दि ट्राइब्स (पंजाब) के पृष्ठ ८२ पर इस प्रकार लिखा है कि—

मसऊद ग़ाज़ी ने बहुत से मेव लोगों को मुसलमान बना लिया था। राय पिथौरा महाराज ने उनको फिर हिन्दू होने को कहा

और वे हिन्दू-धर्म में आ गये, परन्तु क़ुतुबुद्दीन ऐबक के समय में उनमें से कुछ को फिर मुसलमान बना लिया गया।

(८) मारवाड़ के इतिहास में लिखा है कि राव रायपाल मारवाड़ ने छः सौ मुसलमानियों को अपने सरदारों और नौकरों को विवाह दिया।

(९) सोलहवीं शताब्दी में जब सिन्ध के मुसलमानों आक्रमण से भट्टी राजपूत मुसलमान बना लिये गये तब जेलर के भट्टी राजपूत महाराज जीतसिंह जी ने काशी के पंडितों को बुलाकर एक बड़ा यज्ञ किया और उस यज्ञ में जो कोई मुसलमान आया, उसको जीतबन्ध में स्नान कराकर हिन्दू बना लिया गया इत्यादि।

साधारण शुद्धि

(१०) पंजाब वजीराबाद के प्रसिद्ध सनातनधर्मी दीवान कृष्णगोपाल साहब शैदा ने अपनी रचना "निमाई चाँद" की किरण के पृष्ठ २९ से ५९ तक में हरिदास ठाकुर के सम्बन्ध में लिखा है कि वह जन्म से मुसलमान था, जो संवत् १३४२ शाका में बढ़न नामक गाँव में पैदा हुआ था। यह स्थान इस समय जैसोर के सब डिवीजन बनग्राम में स्थित है। वह अल्पावस्था में ही अपने घर से निकलकर शान्तिपुर में आ गया और अद्वैताचार्य से प्रार्थना की कि प्रभु मैं नीच जाति का मुसलमान हूँ, मेरा उद्धार कैसे होगा? आचार्य ने उसे सान्त्वना दी और उपदेश करके उसके बाल मुड़वा दिये और तुलसी की माला और तिलक धारण करा दिया।

गंगा जी में खड़े होकर उसका नाम हरि रक्खा और शक्ति संचार की। हरिदास ने नियम किया कि प्रति दिन भगवान् के तीन लाख नाम जपेंगे। इसके बाद वह एक रात चुपके से जंगल को चल दिया और एकान्त में हरिभजन करने लगा। उस अवस्था में एक ज़मींदार रामचन्द्र ख़ाँ ने उसकी परीक्षा लेने के लिए एक मुसलमान रंडी को नियुक्त किया; परन्तु वह भी उसके सत्संग से शुद्ध हो गई।

(११) फ़ारसी भाषा में "दविस्तान मजाहिव" एक पुस्तक है, उसका लेखक भी मुसलमान है। उसका जो उर्दू अनुवाद सन् १८८६ ई० में हुआ है, उसके पृष्ठ ४१७ पर कामरान नामक हकीम का जीवन-चरित्र लिखा है। उसमें लिखा है कि महाशय कामरान जो बड़े विद्वान् थे और शीराज़ के मशाईयों के अनुयायी थे, हिन्दुस्तान में आये और हिन्दू-धर्म को ग्रहण किया और हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों को ब्राह्मणों से पढ़ा। सन् १०५० हिजरी में अकबराबाद के निकट फर्रुख़सराय में उनका देहावसान हुआ। जो कुछ उनके पास था, उसमें से नक़द माल वैष्णव ब्राह्मणों को दिया गया इत्यादि।

सिक्ख-इतिहास और शुद्धि

(१२) वीररत्न श्री गुरु गोविन्द सिंह जी महाराज भी बराबर शुद्धि करते रहे हैं। "इतिहास गुरुख़ालसा" भाग २, पृष्ठ २२ में लिखा है कि रामसिंह नव मुस्लिम को, जिसकी सुन्नत भी कर दी

गई थी, गुरु गोविन्द सिंह जी महाराज ने फिर सिक्ख बना लिया और आज्ञा दी कि भविष्य में जो कोई हिन्दू अथवा सिक्ख मुसलमान हो जाय, उसको लौटाकर अपने में मिला लिया जाय।

(१३) "इतिहास गुरु ख़ालसा" भाग २ पृष्ठ १४९ में लिखा है कि सिक्खों की बहादुरी देखकर बादशाह (अहमदशाह दुर्रानी) ने चकित होकर कहा कि ऐसे शूर-वीरों को क़त्ल कर देना भारी अन्याय है। यह तो मुसलमान बनाने के योग्य हैं। तब क़ाज़ी ने निवेदन किया कि इन काफ़िरों का कोई दीन व ईमान नहीं। सैकड़ों मुसलमान बनाए हुए फिर सिक्ख बन गए हैं।

(१४) फिर उसी "इतिहास गुरु ख़ालसा" भाग २, पृष्ठ १३३ में लिखा है—बहुत से सिक्ख मुग़लानियाँ और पठानियाँ अपने साथ ले आए। सांठी साहब ने उनसे उनके विवाह करा दिए। अनूपसिंह ब्राह्मण चुनाल थल पटियाला-निवासी, तख़्तसिंह पेच गढ़िया, लालसिंह ऊसा, खरासिंह रतूका, नन्दसिंह बेरार, देवासिंह बहुनटेहराँ, खेरसिंह अन्धवा-हातासिंह चंग, इत्यादिक सिक्खों के साथ स्त्रियों ने प्रसन्नता से विवाह कर लिए। उनकी सन्तान अब तक ग्रामों में हैं। यही रीति ख़ालसा पन्थ में जारी रही। अब भी बहुत से जाट सिक्खों के घरों में मुसलमानियाँ हैं। उनके पुत्र दूसरे जाटों के घरों में विवाहे हुए हमने स्वयं देखे हैं, जैसे—सरदार हरीसिंह, सुलतान पिण्डवाले के पुत्र गोपालसिंह और पुत्रियों के विवाह अच्छे ख़ानदानवाले जाटों के घर हुए। गोपालसिंह की मुसल-

मान से सिक्ख बनी हुई माता अभी तक जीवित है। मालवा देश के डाले ग्राम के रहनेवाले हरीसिंह जाट के घर पठानी सिक्खनी की सन्तान है। बड़े पिण्ड परगना मुक्तसर के रहनेवाले कोट सिंह जाट की लाँघड़ी स्त्री में से उत्पन्न हुए पाँच पुत्र और दो पुत्रियाँ दूसरे जाटों के घर विवाहे हुए विद्यमान हैं।

(१५) यह सत्य घटना है कि श्री गुरु गोविन्दसिंह जी महाराज ने हज़ारों चमारों और चूहड़ों को, चाहे व हिन्दू थे या मुसलमान, सिक्ख बनाया, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता, क्योंकि इस समय भी हज़ारों वंश उन सिक्खों के मौजूद हैं, जो कि ख़ुदासिये, मज़हबी और रहतिये कहलाते हैं।

(१६) प्रसिद्ध वीर सिक्ख सरदार हरीसिंह नलवा के सम्बन्ध में एक ऐतिहासिक घटना है कि इलाक़ा नौशहरा पंजाब से याग़िस्तान के पठान बहुत सी हिन्दू-स्त्रियाँ ज़बरदस्ती पकड़कर ले गये थे। इससे बहुत दुखी होकर हिन्दुओं ने सरदार साहब से दुहाई मचाई। सरदार साहब ने याग़िस्तान पर चढ़ाई कर दी। पठानों के भाग जाने पर वह बहुत सी पठानी मुसलमान-स्त्रियों को पकड़कर साथ ले आये और सिक्खों के साथ उनके विवाह कर दिये। जब यह हाल पठानों को विदित हुआ तब वे बहुत सिटपिटाये और विवश होकर सरदार साहब के पास इस हेतु जिरग़ा लेकर आये कि हमारी स्त्रियाँ लौटा दी जायँ। तब सरदार साहब ने कहा कि तुम जितनी हिन्दू-स्त्रियाँ ले गये हो, उन्हें वापस कर दो तब अपनी स्त्रियाँ ले जाओ; अतः पठानों ने ऐसा ही किया

और जो हिन्दू-स्त्रियाँ मुसलमान बना ली गई थीं, वापस आकर अपने हिन्दू घरों में बस गईं, इत्यादि।

आर्यसमाज और शुद्धि

(१७) वेदों और वैदिक-साहित्य के पूर्ण विद्वान् आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने जब से वर्त्तमान आर्यसमाज की स्थापना की, तभी से वेदाज्ञानुसार अनार्यों को आर्य बनाने का कार्य भी आरम्भ कर दिया था। सबसे पहले जन्म के मुसलमान महाशय मुहम्मद उमर को स्वामीजी ने स्वयं शुद्ध किया और उनका नाम अलखधारी रक्खा। इसके बाद आर्यसमाज भी अपनी शक्ति भर शुद्धि का काम सदा करता आया है और स्वर्गीय शहीद पंडित लेखराम जी आर्य-पथिक जीवन-पर्यन्त शुद्धि का काम करते रहे और शुद्धि के निमित्त ही एक विश्वासघाती मुसलमान के हाथ से शहीद (बलिदान) हो गये; इसलिए महात्मा जी का यह कहना सरासर एक झूठा कलंक है कि आर्यसमाज ने ईसाइयों अथवा मुसलमानों के अनुकरण में शुद्धि का काम जारी किया है। हाँ, यह कहना ठीक होगा कि आर्यसमाज ने शुद्धि करना अपने आचार्य से सीखा है और आचार्य ने वेद और स्मृति आदि वैदिक साहित्य से। अब आर्यसमाज वेद की आज्ञा समझकर ही शुद्धि का काम कर रहा है। जिस प्रकार स्मृति-काल के आर्यों ने अनेक शक और यवन (तातारी और यूनानी) आदि जाति के लोगों को अपना ही अङ्ग समझकर

अपने में मिला लिया था, उसी प्रकार आर्यसमाज भी मनुस्मृति और महाभारत आदि के कथनानुसार वर्तमान ईसाई और मुसलमान आदि को भी आर्यों में से ही निकले हुए अपने भाई समझकर अपनी रीति के अनुसार उन्हें अपने में मिला लेता है। यदि स्मृतियों के क्रियात्मक पतित-परिवर्त्तन (अहिन्दू होनेवालों की वापसी) को दूर की बात समझकर छोड़ भी दिया जाय और कल्पना के लिए यदि महात्मा जी के इस प्रमाण-रहित दावे को मान लिया जाय कि हिन्दुओं में बहुत सी जातियों के लोगों का जो प्रवेश हुआ है, वह विकासात्मक है तो भी आर्यसमाज की चलाई शुद्धि-प्रथा का रहना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि इस समय भारत में जितने देशी ईसाई हैं वे सब और मुसलमान लगभग ९० प्रतिशत हिन्दुओं ही से ईसाई और मुसलमान बनाये गये हैं; इसलिए वे धार्मिक विकास की सीढ़ियाँ पार कर चुके हैं। उन्हें या उनके पूर्वजों को तो ईसाइयों और मुसलमानों ने ज़बरदस्ती या लोभ देकर पतित किया था; इसलिए उन पतितों या मलकाना राजपूतों—जिनके आचार-व्यवहार भी अब तक हिन्दुआना हैं या जो लोग वर्षों और महीनों से ईसाई मुसलमान बनाये गये हैं और बनाये जा रहे हैं, उन सबको वापस लेना जहाँ महात्माजी के विकासात्मक समावेश के विरुद्ध नहीं है, वहाँ जो पतित हुए थे, उनके उत्थान का पवित्र कार्य भी करना है और यदि आर्य-समाज तथा स्मृतियों के प्रायश्चित्त की विधि में अन्तर कहकर आर्यसमाज की शुद्धि का निषेध किया जाय तो मैं निवेदन करूँगा

कि प्रथम तो आर्यसमाज की शुद्धि की विधि स्मृतियों की शुद्धि की विधि के प्रतिकूल नहीं है, दूसरे शुद्धि, उद्देश्य और विधि अर्थात् रीति उसका साधन सदैव बदलते रहते हैं। भिन्न-भिन्न काल की स्मृतियों में भी समय और अवस्थाओं के बदलने से प्रायश्चित्त की विधियाँ भी बदलती रही हैं। आर्यसमाज भी देश, काल और अवस्था के विचार से उचित रीति का प्रयोग कर रहा है; अतः आर्यसमाज और स्मृतियों की शुद्धि के सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं है।

अतः उपर्युक्त घटनाओं के आधार पर निश्चय-पूर्वक यह कहा जा सकता है कि महात्माजी का यह कहना कि हिन्दू-धर्म मिश्नरी (प्रचारक) धर्म नहीं है, कदापि सत्य नहीं। इसके अन्त में इतना और निवेदन करूँगा कि धर्म एक नैसर्गिक पदार्थ है, वह मजहब (मत या सम्प्रदाय) की भाँति मनुष्य-कृत नहीं है, इस हेतु वह प्रत्येक मनुष्य के लिए समान है। वह किसी विशेष देश और जाति की सम्पत्ति नहीं है और वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन्नति करते हुए मिलनेवाली वस्तु भी नहीं है; किन्तु वह प्रचार द्वारा फैला और फैलता है। हिन्दुओं में यूनानी आदि सम्मिलित होनेवाली जातियों के लोगों को भी वैदिक-धर्म की प्राप्ति विकास के नियम से नहीं; किन्तु हिन्दुओं के संसर्ग और उपदेश ही से हुई थी। धर्म प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है; क्योंकि वह मानव-जीवन की व्यावहारिक विधान (दस्तूरुल अमल) है, इस हेतु उसका प्रत्येक मनुष्य तक पहुँचाना भी जरूरी है। जो इस धर्म को जानते हैं,

उनका कर्त्तव्य है कि वे इसको सबकी भलाई के लिए संसार में फैलावें और जन-साधारण को मत-मतान्तरों के अन्ध-विश्वासों से छुड़ावें और भ्रमजाल से बचावें। यही हेतु है कि आर्यसमाज भी सर्वसाधारण जनता तक वैदिक-धर्म को पहुँचाना अपना कर्त्तव्य समझता है, जो इसको ग्रहण करना चाहें, उनको वैदिक धर्मी न बनाना अंगिरस मुनि और स्कन्धपुराण के कथनानुसार पाप समझता है और इस पर उसका दृढ़ विश्वास है।

पाठक-वृन्द! शुद्धि के सम्बन्ध में दो आक्षेप और भी किये जा सकते हैं। *इनका उत्तर देना भी आवश्यक विदित होता है,* अतः नीचे दिया जाता है।

क्या शुद्धि-आन्दोलन केवल संख्या बढ़ाने के लिए है?

(१) पहला आक्षेप जो विशेष कर शुद्धि के विरोधियों और कई राजनीतिक भाइयों की ओर से भी किया जाता है, यह है, कि यह तो माना जा सकता है कि प्राचीन आर्यों में अहिन्दुओं को अपने भीतर मिलाने की प्रथा थी और शास्त्र भी शुद्धि का विधान करते हैं, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आर्यों का इतिहास और शास्त्र केवल अपनी संख्या बढ़ानेवाली उस शुद्धि का समर्थन करते हैं, जिसका आन्दोलन आर्यसमाज करता है। वर्त्तमान शुद्धि-आन्दोलन तो

केवल ईसाइयों और मुसलमानों के अनुकरण में आर्यसमाज का चलाया हुआ एक नवीन आन्दोलन है, जैसा कि महात्माजी के इन शब्दों से स्पष्ट है—

"मेरी सम्मति के अनुसार तो ईसाइयों की तरह और उससे कम इस्लाम की तरह अन्य मज़हबवालों को भ्रष्ट कर अपने में मिला लेने की विधि हिन्दू-धर्म में है ही नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस बात में आर्यसमाजियों ने ईसाइयों का अनुकरण किया होगा"।
(नवजीवन, पहली जून सन् १६२४ ई०)

(आर्य) हिन्दुओं के धर्म (वैदिक धर्म) में अहिन्दुओं को अपने भीतर मिलाने का नियम नहीं है, इस अशुद्ध प्रतिज्ञा (दावे) का खंडन तो हम घटनाओं के आधार पर भली भाँति कर आये हैं।

हाँ, महात्माजी का यह कहना बिलकुल ठीक है और इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि वैदिक-धर्म की बतलाई हुई शुद्धि का यह उद्देश्य कदापि नहीं है, जो ईसाइयों और मुसलमानों का दूसरों को अपने में मिलाने का है; क्योंकि आर्यों के धर्म-शास्त्रों में लिखे पतितों की शुद्धि के शब्द और उन पतितों से कराये जानेवाले प्रायश्चित्त शब्द ही से यह सिद्ध होता है कि जहाँ आर्यों का उद्देश्य दूसरों को अपने भीतर मिलाने का शुद्ध धार्मिक है, राजनीतिक नहीं है, वहाँ ईसाइयत और इस्लाम का मन्तव्य तथा कार्य-शैली बतलाती है कि ईसाई और मुसलमान बनने के लिए सदाचारी या धर्मात्मा बनने की ज़रूरत ही नहीं, किन्तु केवल ख़ुदा, हज़रत ईसा तथा इञ्जील पर अथवा ख़ुदा, हज़रत मुहम्मद तथा क़ुरान पर ईमान लाने की आवश्यकता

है, मानो केवल ईमान (विश्वास) ही उनकी मुक्ति का असली कारण है, न कि धर्मात्मा होना। या यों समझिये कि ईसाइयों और मुसलमानों का विश्वास है कि चाहे कोई कैसा ही ईश्वरोपासक और उच्च श्रेणी का सदाचारी ही क्यों न हो, वह जब तक हज़रत ईसा तथा इञ्जील पर अथवा हज़रत मुहम्मद तथा क़ुरान पर ईमान (विश्वास) नहीं लाता, तब तक ईसाई और मुसलमान नहीं बन सकता है और जब तक ईसाई या मुसलमान नहीं बनता, वह स्वर्ग और मुक्ति भी नहीं पा सकता, जैसा कि अख़बार मुवल्लिग़ देहली के इस लेख से प्रकट है :—

"ईसाइयत ने ईसा के बाद यह सिद्धान्त बना लिया कि जो लोग ईसा और उनकी मुक्ति को स्वीकार न करेंगे वे सदा के लिए दंड भुगतेंगे। इसी तरह हज़रत मुहम्मद ने अपने शिष्यों को आज्ञा दी वे बाहर निकलें और उनके मुक्ति के सन्देश को सम्पूर्ण संसार में पहुँचा दें। इस्लामी-शास्त्रों (फ़िक़ा) की विधियों ने भी मुक्ति उन्हीं के लिए निश्चित कर दी, जिन्होंने ख़ुदावन्द करीम के उस अन्तिम सन्देश (क़ुरान) को स्वीकार किया, जो उसके अन्तिम नबी मुहम्मद साहब के द्वारा यहाँ तक पहुँचा। काफ़िरों को ईसाई बनाना ईसाइयत की दृष्टि में उन्हें नरक की अग्नि से बचाना है, उसी तरह मुसलमानों की दृष्टि में किसी काफ़िर को मुसलमान बनाने का यह अर्थ

है कि अनन्त काल के दंड और अभिशाप से बचाया जाय।" (प्रकाश, लाहौर, २६ जून, सन् १६२७ ई०)

फलतः मौलाना मुहम्मद अली साहब का, महात्मा गाँधी जी को उच्च-कोटि का सदाचारी मानने पर भी, उनको एक दुराचारी मुसलमान से छोटा, काफ़िर और नरक-गामी समझकर उन्हें नरक-सम्बन्धी पापों से बचाने के लिए, मक्के में उनके मुसलमान होने के लिए दुआ माँगना भी इसी विश्वास का परिणाम है। मुसलमानों का यह विश्वास उनकी निम्न-लिखित सब प्रकार की हदीसों और मज़हबी कथाओं (रवायतों) ही पर अवलम्बित मालूम होता है।

(क) "मनकालः ला इलाः इल्लिल्लाः फ़दख़लअलजनःत व अनज़नाह व इन सरक़ा।"

(अनुवाद) ला इलाः इल्लिल्लाः कहनेवाले मुसलमान स्वर्ग में जायँगे, चाहे वे व्यभिचारी और चोर हों। (हदीस सहीह बुख़ारी)

(ख) याकूब ने इमाम मुहम्मद बाक़र अलेः अस्सलाम से कथा कही है कि हज़रत अमीरुल मोमिनीन ने मेरे पिता से कहा कि जो हज़रत मुहम्मद के मित्र हों, उन्हीं को अपना मित्र समझो वे चाहे, दुराचारी और व्यभिचारी हों। जो हज़रत मुहम्मद के शत्रु हों, उन्हें अपना शत्रु समझो, चाहे वे बहुत रोज़ा रखते और बहुत नमाज़ पढ़ते हों। (हयातुलक़लूब, तीसरी जिल्द, पृष्ठ १६१)

(ग) कथा है कि इमाम जाफ़र सादिक़ अलैअस्सलाम ने कहा कि जो मनुष्य हमको मित्र समझे, यद्यपि वह व्यभिचार और चोरी करे तो उसका फल परलोक में हमारे साथ मिलेगा। (हकुलयक़ीन शीयः, पृष्ठ ७०२)

(घ) हदीस .कुदसी में लिखा है कि "अल्लाः ताला ने कहा कि मैं उस मनुष्य को अवश्य स्वर्ग में प्रविष्ट करूँगा, जिसने अली की आज्ञा मानी हो, यद्यपि वह मेरी आज्ञा न मानता हो और उस मनुष्य को नरक में भेजूँगा, जिसने अली की आज्ञा का उल्लंघन किया हो, यद्यपि वह मेरी आज्ञा न मानता हो।" (तज़किरतुल मासूमैन शीयः, पृष्ठ ६३; व उम्दतुल बयान, जिल्द ३, पृष्ठ १६६, —अहलहदीस, २६ नवम्बर; सन् १६२६ ई० से उद्धृत)

(ङ) हदीस शरीफ़ में उल्लेख है कि एक दिन जनाब रसूले .खुदा मुहम्मद साहब अमीरुल मोमिनीन इब्न अबी तालिब के घर में पधारे; उन्होंने आँहज़रत (मुहम्मद साहब) से निवेदन किया कि आज आप जिस भाँति प्रसन्नता-पूर्वक पधारे हैं, उस भाँति मैंने आपको कभी आते नहीं देखा। आँहज़रत—ने कहा—ऐ अली! इस समय मैं तुमको हर्ष-संवाद देने आया हूँ। विदित हो कि अभी जिबरईल मेरे समीप आये और मुझसे कहा कि हक़ सुभानहूताला (ईश्वर परमात्मा) बाद तोहफ़ा सलाम के (अभिवादन के पश्चात्) कहता है कि ऐ मेरे मित्र, अली और उनके शियों को हर्ष-संवाद दो कि उन शियों में प्रत्येक भला तथा बुरा-जन निश्चय-पूर्वक स्वर्ग का अधिकारी है। (नयासबुलमसाएब शीया

प्रथम भाग, मसलिस १२, पृष्ठ ७३, पंक्ति ३ से उद्धृत व .खुलासतुल मसाएब, पृष्ठ २८२, नवलकिशोर प्रेस, की छपी)।

ऊपर के उद्धरणों से प्रकट है कि ईसाइयों और मुसलमानों की तबलीग़ (मत-प्रचार) दूसरों को केवल हज़रत ईसा और हज़रत मुहम्मद के अनुयायी बनाकर अपनी संख्या बढ़ाने के अभिप्राय से है, न कि सदाचारी बनाने के धार्मिक अभिप्राय से। उन्होंने जो हज़रत ईसा और हज़रत मुहम्मद साहब के अनुरोध (सिफ़ारिश) से मुक्ति मिलने का मज़हबी सिद्धान्त लोगों के सामने रक्खा है, वह केवल भोले-भाले और अन्ध-विश्वासी लोगों को झूठी आशा देकर अपने मत में फँसाने का एक ढंग है, नहीं तो बुद्धिमान् लोग इस बात को भली भाँति जानते हैं कि यह मुक्ति दिलानेवाली एजेन्सियाँ बिलकुल बनावटी और धोखे की हैं, जो कि अख़बार मुबलिग़ के उपर्युक्त लेख के अनुसार हज़रत ईसा और हज़रत मुहम्मद के बाद उनके चतुर अनुयायियों ने बिना .खुदा की स्वीकृति के स्थापित की हैं; क्योंकि यह एक स्पष्ट सचाई है कि मुक्ति किसी की सिफ़ारिश से नहीं; किन्तु मनुष्य के अपने ही शुभ कर्म या पवित्र आचार तथा विचार से मिलेगी। यहाँ पर यदि एक बात न कहूँ तो अन्याय होगा। वह यह कि जहाँ हम हज़रत मुहम्मद साहब की तबलीग़ (मत-प्रचार) को राजनीति से पृथक् नहीं कर सकते, वहाँ महात्मा ईसा का दूसरों को अपने भीतर समाविष्ट करने का उद्देश्य राजनीतिक नहीं था। यह तो बाद में मुसलमानों के जहादी (मज़हबी युद्ध-सम्बन्धी) आक्रमणों का सामना करने के लिए ईसाइयों को

भी वही उद्देश्य बनाना पड़ा जो कि मुसलमानों का था। यही नहीं कि मुसलमानों ने यूरोप ही में प्रेम के प्रचारक हज़रत ईसा के प्रचलित किये हुए ईसाई मजहब को अपने तुल्य पोलिटिकल मज़हब बना दिया, वरन् भारत में भी उन्होंने अपने अत्याचारों से शान्ति-स्वरूप गुरु नानक देव के भक्ति-प्रधान मत के अनुयायियों को भी तलवार पकड़ने पर वाध्य करके वीर-शिरोमणि गुरु गोविन्द सिंह जी के नेतृत्व में बहादुर सिक्ख-पन्थ के रूप में परिवर्त्तित कर दिया। ईसाइयों और मुसलमानों के उपर्युक्त पोलिटिकल उद्देश्य का मूल हेतु भी है और वह यह कि ईसाई मज़हब तो पोप से और इस्लाम अपने तलवार-धारी जन्मदाता हज़रत मुहम्मद साहब ही से शुद्ध पोलिटिकल मज़हब के रूप में प्रकट हुआ है; क्योंकि उनके सामने उस समय की स्थिति ऐसी ही थी। फलतः इसका प्रकाश महात्मा जी ने भी कांग्रेस के अवसर पर श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के बलिदान पर किये हुए गोहाटी (आसाम) के भाषण में इस प्रकार किया है :—

"मुसलमानों को एक दुर्गम पथ पार करना है। इसमें सन्देह नहीं कि वे तलवार और पिस्तौल को खुले दिल प्रयुक्त करते हैं, परन्तु तलवार इस्लाम का चिन्ह नहीं। इस्लाम ऐसे स्थान पर और ऐसी स्थिति में उत्पन्न हुआ था, जहाँ तलवार ही सबसे बड़ा क़ानून समझा जाता था। ईसा के प्रेम का सन्देश उन लोगों पर कोई प्रभाव न डाल सका; क्योंकि स्थिति उसको ग्रहण करने के प्रतिकूल थी;

इसलिए हज़रत मुहम्मद साहब के सन्देशों से मुसलमानों में अब भी तलवार चमकती है। अब यह तलवार मियान में प्रविष्ट होनी चाहिए; यदि इस्लाम को इस अवस्था पर पहुँचना और शान्ति स्थिर रखना है। (तेज, देहली, २६ दिसम्बर, सन् १६२६ ई०)

ईसाई और इस्लाम मज़हब के पोलिटिकल मज़हब होने का भी एक कारण था। उनके मज़हबी नेता और राज्य का शासक दोनों पदों को धारण करनेवाला एक ही व्यक्ति—ईसाइयों में पोप के रूप में और मुसलमानों के ख़लीफ़ा के रूप में हुए हैं। रोम के पोप के पोलिटिकल प्रयासों और अरब के पैग़म्बर तथा उनके ख़लीफ़ों के, ग़ैरमुस्लिमों को वध करनेवाली तलवार के रक्त-पूर्ण कार्य, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं (देखो, जहाद रसूल व शामी जहाद, दिल्ली के ख़्वाजा हसन निज़ामी रचित)। इनके मज़हब की और शासन की बागडोर एक ही व्यक्ति के हाथ में होने के कारण उसने मज़हब को देश के लिए और देश को मज़हब के प्रचार के लिए बिना संकोच के प्रयुक्त किया।

अर्थात् उन्होंने जहाँ बाहुबल और तलवार तथा अपनी राजनीतिक चालों से दूसरों को ईसाई और मसलमान बनाकर अपने मज़हब को फैलाया, वहाँ अपने पैग़म्बरों के सिफ़ारिश शफ़ायत और स्वर्ग के लोभ की आड़ में अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाकर अपनी राजनीतिक शक्ति को भी बढ़ाया। ईसाइयों का

क्रूसेड* (धर्म-युद्ध) और मुसलमानों का जहाद (मजहब के प्रचारार्थ युद्ध) मेरे इस कथन का अक्षरशः समर्थन करते हैं। यद्यपि पोप के इस दुर्धारे शासन का अन्त, महानुभाव लूथर और मेज़िनी आदि सज्जनों के प्रयत्न से चिरकाल से हो चुका है और ख़िलाफ़त की समाप्ति भी अब दूरदर्शी कमालपाशा की चेष्टा से हो चुकी है, तथापि मजहब को लोक के लिए और लोक को मजहब के लिए प्रयोग करने का अभ्यास ईसाइयों और मुसलमानों में अब भी बराबर जारी है। ईसाई और मुसलमान प्रकट तथा गुप्त और उचित तथा अनुचित रीति से समयानुसार उससे बराबर काम लेते रहते हैं; परन्तु आर्यों (हिन्दुओं) की दशा इससे बिलकुल भिन्न है; क्योंकि उनके धर्म की बागडोर ब्राह्मणों के हाथ में और शासन सदा ही क्षत्रियों के हाथ में रहा है। ब्राह्मण प्रायः सदा ही राज्य से उदासीन रहे हैं और क्षत्रियों का कोई हक़ नहीं था कि वह धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप करते; इसलिए आर्यों में धर्म को देश के लिए और देश को धर्म के प्रचारार्थ कभी प्रयुक्त नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त वैदिक धर्मियों में पतितोद्धार (शुद्धि) की प्रथा उस पुराने ज़माने से चली आती है, जिस समय मनुष्य-जाति को असंख्य भागों में विभक्त करनेवाले, विरोध और द्वेष को

---

* क्रूसेड = ईसाइयों का पवित्र स्थान जेरूसलम, जहाँ महात्मा ईसा की क़ब्र है। उसको तुर्कों के अधिकार से छीनने के लिए यूरोप के ईसाइयों ने, जो कई सौ वर्ष तक धर्म-युद्ध किया, वह क्रूसेड के नाम से प्रसिद्ध है।

बढ़ानेवाले एकता के शत्रु मत-मतान्तरों या मजहबों का अस्तित्व ही न था। इस हेतु उस समय अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने का विचार ही उत्पन्न नहीं हो सकता था; अतः मैं निवेदन करूँगा कि आर्य-समाज की शुद्धि का असली आशय तथा अभिप्राय वह कदापि नहीं है, जो ईसाइयों और मुसलमानों का है; किन्तु आर्य-समाज की शुद्धि का वही धार्मिक उद्देश्य है, जो कि प्राचीन आर्यों का अनार्यों को आर्य बनाने का था; इसलिए आर्यों की शुद्धि से उनकी संख्या बढ़ने का विचार करके उसको ईसाइयों और मुसलमानों का अनुकरण बतलाना कदापि ठीक नहीं। मेरे इस कथन की सत्यता को जाँचने के लिए निम्न-लिखित कारण भी ध्यान देने योग्य हैं :—

(१) इसमें कोई सन्देह नहीं कि शुद्धि करने से आर्यों की संख्या में भी वृद्धि होती है। परन्तु इससे यह अनुमान कर लेना ठीक नहीं है कि शुद्धि का उद्देश्य ही संख्या को बढ़ाना है; क्योंकि किसी कार्य को करने से उसका परिणाम अनेक रूपों में प्रकट होता है; तब भी उसका विशेष उद्देश्य एक ही होता है। जिस तरह भोजन बनाने के लिए चूल्हे में आग जलाई जाती है, न कि चूल्हे के जलाने के लिए और शरीर की स्वच्छता के निमित्त जल में स्नान किया जाता है, न कि जल को गन्दा करने के लिए। तथापि आग जलाने से चूल्हा भी जलता है और हवा में गरमी भी बढ़ती है और स्नान करने से पानी भी जरूर गन्दा होता है। इसी प्रकार विचारों तथा आचारों की शुद्धि के निमित्त ही जो शुद्धि

संस्कार करके किसी को अपने में मिलाया जाता है, उसका आवश्यक परिणाम यह भी होता है कि शुद्धि करनेवाले आर्यों की संख्या बढ़े; परन्तु इस पर भी यह सिद्ध नहीं होता कि शुद्धि का उद्देश्य अपनी संख्या का बढ़ाना है; बल्कि जिस तरह चूल्हे में आग जलाने का उद्देश्य सिर्फ भोजन पकाना और जल में स्नान करने का उद्देश्य केवल शरीर को स्वच्छ करना है, उसी तरह शुद्धि का उद्देश्य भी मनुष्य को उसके विचार और आचार बदलकर वैदिक धर्मी बनाने का है; इसलिए जैसे आग जलाने को केवल चूल्हा जलाने के निमित्त और स्नान करने को जल के गन्दा करने के निमित्त समझना भूल है, उसी तरह आर्यसमाज की शुद्धि को संख्या बढ़ाने का उद्देश्य बतलाना भ्रम है; क्योंकि संख्या का बढ़ाना उद्देश्य के रूप में नहीं है किन्तु शुद्धि के आवश्यक परिणाम के रूप में है, जो किसी प्रकार भी रोका नहीं जा सकता।

(२) बौद्धों की संख्या आज भी संसार में सबसे अधिक है, परन्तु महात्मा बुद्ध और बौद्ध भिक्षुकों का दूसरों को अपने में मिलाने का उद्देश्य केवल अहिंसा आदि धर्म का प्रचार अथवा अपने अनुकूल विचार और आचार का बनाना ही था, न कि कोई पोलिटिकल उद्देश्य; क्योंकि महात्मा बुद्ध अपने राज्य को छोड़कर आनेवाले महात्यागी महात्मा थे न कि राजा, जो कि पोलिटिकल अभिप्राय से अपने समूह को बढ़ाते, वरन् अनेक बौद्ध-धर्मानुयायी राजपुत्रों और राजपुत्रियों को भी बौद्ध-मत के प्रचारार्थ राज्य को त्यागकर भिक्षु बनना पड़ा था; परन्तु उनके इस धर्म-प्रचार से

बौद्धों की संख्या बढ़ी। क्या इससे कोई यह कह सकता है कि महात्मा बुद्ध ने अपनी पोलिटिकल-शक्ति को बढ़ाने ही के लिए दूसरों को अपने मत में मिलाया था अथवा यह कि चूँकि धर्म-प्रचार करने से संख्या बढ़ती है, इसलिए उन्हें अपने धर्म का प्रचार ही नहीं करना चाहिए था। यही दशा कुमारिल भट्ट और श्री स्वामी शङ्कराचार्य की थी, जिन्होंने त्यागी होने पर भी असंख्य बौद्धों को केवल वैदिक-धर्मी बनाने के निमित्त ही बौद्धों के संघ से निकालकर वैदिक धर्मियों में मिलाया था। जिस तरह कोई यह नहीं कह सकता कि राज्य को छोड़कर आनेवाले महात्यागी महात्मा बुद्ध और लंगोटीबन्द यति शंकर ने किसी पोलिटिकल अभिप्राय के निमित्त अपने विचार के लोगों की संख्या बढ़ाई; उसी तरह यह भी कोई नहीं कह सकता कि आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द ने, जो जन्म के मुसलमान महाशय मुहम्मद उमर को अलखधारी बनाकर आर्यसमाज के शुद्धि-आन्दोलन को आरम्भ किया था और बाद में उसके स्थापित किये हुए आर्यसमाज ने, जिसको जारी रक्खा, वह शुद्धि-आन्दोलन अपनी संख्या बढ़ाने के निमित्त ही है; क्योंकि ऋषि दयानन्द भी परम-त्यागी संन्यासी थे, न कि राजा जो बाहुबल बढ़ाने का यत्न करते।

वास्तव में ऋषि दयानन्द का यथार्थ अभिप्राय तो उस वैदिक धर्म की शिक्षा देकर उन्हें वैदिक धर्मी बनाना था, जिसको वह ईश्वरीय होने से मनुष्य-मात्र की सम्पत्ति समझते थे और जिसका

द्वार कुछ समय से हिन्दुओं की भूल और अनुचित पक्षपात के कारण अहिन्दुओं के लिए बन्द हो चुका था। "अनुचित पक्षपात" इसलिए कि हिन्दुओं का कोई हक़ नहीं था कि वे प्रत्येक मनुष्य के निमित्त दिये हुए ईश्वरीय धर्म पर अपना ही अधिकार जमाकर दूसरों को उससे वंचित कर देते।

(३) किसी धर्म का जीवित रहना उसके माननेवालों के जीवन ही पर निर्भर है; क्योंकि जिस धर्म के माननेवाले नहीं रहते, वह धर्म भी संसार में नहीं रहता; या यों समझिये कि किसी धर्म के माननेवालों का न रहना दूसरे शब्दों में उस धर्म का ही संसार से मिट जाना है; इसलिए वैदिक धर्म को जीवित रखने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि मनुष्यों को वैदिक धर्मियों की हैसियत से संसार में जीवित रक्खा जाय; परन्तु ईसाइयों और मुसलमानों की तरफ़ से हिन्दुओं को ईसाई और मुसलमान बना-कर अपनी संख्या को बढ़ाने और वैदिक धर्मियों को मिटाने का काम सैकड़ों वर्ष से बराबर जारी है, जिससे वैदिक धर्मी आज तक लगभग छः करोड़ मुसलमान और पचास लाख के लगभग ईसाई बन चुके हैं। यदि यही अवस्था रहे तो निश्चित है कि एक दिन आर्य (हिन्दू) लोग संसार से मिट जायँ और उनके साथ वैदिक धर्म भी नष्ट हो जाय; इसलिए ईसाइयों और मुसलमानों की ओर से प्रति दिन वैदिक धर्मियों की संख्या कम किये जानेवाले आपत्काल में, वैदिक धर्मियों के अस्तित्व को बनाये रखना, वरन् संख्या का बढ़ाना भी इस बात को सिद्ध नहीं करता कि आर्य लोग किसी

पोलिटिकल अभिप्राय से शुद्धि द्वारा अपनी संख्या बढ़ा रहे हैं; क्योंकि वैदिक धर्म को जीवित रखने और उसकी कल्याणकारी शिक्षा को फैलाने के लिए भी वैदिक धर्मियों के अस्तित्व को बनाए रखना और संख्या का बढ़ाना जरूरी है; अतः शुद्धि करना न तो किसी पर आक्रमण करना है और न ईसाइयों और मुसलमानों ही का अनुकरण करना है, वरन् यह तो समय की आवश्यकता के अनुसार अपनी रक्षा और संसार के कल्याण करने का वह साधन है, जिसका प्रयोग प्राचीन काल से ही हमारे ऋषि-मुनि और महापुरुष धर्म समझकर बराबर करते चले आए हैं और अब उनकी सन्तान आर्यों (हिन्दुओं) के लिए भी वैदिक-धर्म, वैदिक-सभ्यता और आर्य-जाति को जीवित रखने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्यों को वैदिक धर्मियों की हैसियत से संसार में जीवित रखने के लिए शुद्धि-आन्दोलन को बराबर जारी रक्खें। यदि वे ऐसा नहीं करेंगे तो वे वैदिक-धर्म, वैदिक-सभ्यता और आर्य-जाति को दिन-दिन निर्बल करके एक दिन नष्ट कर देने के पाप के भागी होंगे।

आर्य समाज में प्रविष्ट होने से ही अनेक विचारों और आचारों की शुद्धि हो जाती है।

(१) (आक्षेप) अब यदि यहाँ पर कोई यह आक्षेप करे कि यदि आर्यसमाज शुद्धि का उद्देश्य दूसरों के विचारों और आचारों को

को सुधारना है तो इसके लिए इस बात की कोई जरूरत नहीं है कि अन्य मजहबवालों को उधर से हटाकर अपने में सम्मिलित किया जाय; क्योंकि अन्य मजहबों से निकालकर केवल आर्यों में मिला लेने से किसी प्रकार की शुद्धि नहीं हो सकती; इसलिए यह काम उसकी अपेक्षा इस प्रकार अधिक उत्तमता से किया जा सकता है कि जहाँ पर कोई है, वहीं पर धर्म-प्रचार के द्वारा उसका सुधार किया जाय। इससे बड़ा भारी लाभ यह होगा कि जो झगड़े-वखेड़े अन्य मजहबवालों को अपने में मिलाने के कारण होते हैं, वह नहीं होंगे।

(उत्तर) इसका उत्तर यह है कि सुधार के सम्बन्ध में आक्षेप-कर्त्ता की बतलाई हुई कार्य-शैली यद्यपि कहने में सुन्दर प्रतीत होती है, परन्तु एक तो महात्मा बुद्ध आदि पूर्व के सब धार्मिक सुधारकों की कार्यशैली के विरुद्ध है, दूसरे अनुभव और निरीक्षण के भी प्रतिकूल विदित होती है; क्योंकि अशुद्ध विचार और आचारवाले को उसी प्रकार के लोगों में रखकर उसके विचार और आचार को सुधारना निन्नानवें प्रतिशत असम्भव है। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि यदि धार्मिक स्वतन्त्रता, शान्ति और सदाचार की रक्षा के लिए मुसलमानों के निम्न-लिखित विश्वासों या सिद्धान्तों को बदलना हो—

इस्लाम को छोड़नेवाले (मुर्तिद) तथा इस्लाम को छुड़ानेवाले (शुद्धि करनेवाले) दोनों का वध करना आवश्यक है। दुष्ट अथवा दुराचारी मुसलमान भी स्वर्ग में जायगा, पशुओं के

बलिदान से पापों का प्रायश्चित्त हो सकता है, गौ का मांस भक्ष्य है, इत्यादि।

तो आवश्यक है कि इनको उचित अथवा विहित बतलानेवाले क़ुरान और सोसायटी के प्रभाव से उनको अलग कर लिया जाय और ऐसे धर्म व समाज में उनको सम्मिलित कर लिया जाय, जो इन बातों को नितान्त अनुचित तथा गर्हित मानता है। सुधार के इस अत्यन्त प्रभावजनक और सफल साधन को प्रयोग में लाने का उपदेश दूरदर्शी और अनुभवी शास्त्रकारों ने भी किया है, जैसा कि अत्रि स्मृति के पूर्व लिखित श्लोक ३५ में निन्दित लोगों का संग छुड़ाना भी शुद्धि का एक अंग या अंश बतलाया गया है, और यह है भी यथार्थ क्योंकि अभक्ष्य के छुड़ाने आदि के लिये यह आवश्यक है कि उनको अभक्ष्य के खानेवालों के संग अथवा समाज से पृथक् कर लिया जाय।

इसके अतिरिक्त यह कहना भी सत्य घटना के विरुद्ध है कि आर्यों में प्रविष्ट होने मात्र से किसी प्रकार शुद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि वास्तव में आर्यसमाज में सम्मिलित होते ही ईसाइयों और मुसलमानों के अनेक अशुद्ध विचारों और आचारों की शुद्धि हो जाती है। इसका कारण आर्यसमाज का अलौकिक चमत्कार नहीं है, किन्तु उसमें प्रविष्ट होनेवालों के विचारों और आचारों का परिवर्त्तन होना है, जो कि आर्यसमाज में सम्मिलित होने के कारण अनिवार्य रूप से होता है। फलतः निम्न-लिखित उदाहरणों से इसका प्रमाण अच्छी तरह मिल जाता है—

(१) जो लोग गो-मांस को भक्ष्य और उसका खाना विहित या पुण्य समझते थे, वे मांसाहार को भी पाप या अनुचित समझने लग जाते हैं।

(२) जो लोग अपने पापों के प्रायश्चित के लिए गाय आदि निरपराध पशुओं की हत्या के समान निर्दयता और रक्तपात को क़ुर्बानी मानने की भूल करते थे, वे हर एक प्राणी के हित और रक्षा के लिए अपने समय व सम्पत्ति और अपने जीवन तक को अर्पण करना ही क़ुर्बानी (बलिदान) का असली तात्पर्य समझने लगते हैं; इसलिए पापों से बचने के लिए प्राणियों के गले पर छुरी चलाना ही छोड़ देते हैं।

(३) जो लोग केवल ईसा और हज़रत मुहम्मद साहब की सिफ़ारिश से अथवा ईसाई और मुसलमान होने मात्र ही से अपने लिए मुक्ति की प्राप्ति समझकर सदाचार व सद्व्यवहार की आवश्यकता को ही निरर्थक बना देते और उससे निश्चिन्त हो जाते हैं; बल्कि अपने अपने पैग़म्बर की सिफ़ारिश के बिना स्वर्ग व मुक्ति की प्राप्ति ही असम्भव मानकर, उनको प्राप्त करनेवाली अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रता को ही खो बैठते हैं, वे अपने ही भले-बुरे कर्मों और ज्ञान को ही हित-अहित व मुक्ति का हेतु मानकर उन्हीं से इहलोक-परलोक का हित समझते हुए सदाचार के असली महत्त्व को मानने लगते हैं।

(४) जो अन्ध-विश्वासी भाई मानवी तथा धार्मिक स्वतंत्रता के अत्यन्त विरोधी 'इस्लाम' को छोड़नेवाले (मुर्तिद) को मार

डालने का भयानक सिद्धान्त रखते थे, वे विचार-स्वातंत्र्य के विश्वासी बनकर स्वतंत्रता, शान्ति और सदाचार के पक्षपाती बन जाते हैं, इत्यादि।

उपर्युक्त पंक्तियों के अवलोकन से पाठकों को विदित हो गया होगा कि विचारों और आचारों के बदलने से मानव-जीवन में शुद्धि अशुद्धि रूपी बड़ा भारी परिवर्त्तन हो जाता है; इसलिए यदि इस सचाई को इन शब्दों में कह दिया जाय तो इसमें कुछ भी अनौचित्य या अत्युक्ति न होगी कि—

"विचारों और आचारों के भ्रष्ट होने से जहाँ देवता राक्षस बन जाते हैं, वहाँ विचारों और आचारों के श्रेष्ठ हो जाने से राक्षस भी देवता बन सकते हैं।"

अब केवल यह बात शेष रहती है कि अन्य मजहबवालों को अपने में सम्मिलित करने से झगड़े होते हैं, इसका विस्तृत उत्तर "क्या ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज हिन्दू व अहिन्दू-एकता के विरोधी हैं" इस प्रकरण में दिया गया है। पाठकों को वहाँ देखना चाहिए।

क्या शुद्धि के लिए बाहरी सहायता की आवश्यकता नहीं है?

(२) दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि "शुद्धि भीतर से होती है और किसी को शुद्ध वही कर सकता है, जो कि स्वयं शुद्ध हो।"

(आर्य) आक्षेप के पहले अंश का उत्तर तो पहले दिया जा चुका है; परन्तु इतना और निवेदन करना है कि यद्यपि मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र होने के कारण अपने विचारों और आचारों की शुद्धि स्वय ही करता है अथवा शुद्धि का अभिलाषी अपने ही यथार्थ ज्ञान और शुभ-कर्म से शुद्ध हो सकता है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उसको अपनी शुद्धि के लिए किसी बाहरी सहायता अर्थात् गुरु, उपदेशक, सत्संग और स्वाध्याय आदि की आवश्यकता ही नहीं है; क्योंकि अनुभव बतलाता है कि भले-बुरे संग, उपदेश और मजहबी (साम्प्रदायिक) विश्वासों आदि का प्रभाव भी मनुष्य के आचार-व्यवहार पर अवश्य होता है अर्थात् मनुष्य जिस सभा-सोसायटी या संग में रहेगा, जिस प्रकार के उसके साम्प्रदायिक (मजहबी) विश्वास होंगे, जिस प्रकार का उपदेश सुनेगा और स्वाध्याय करेगा, उसी प्रकार के उसके विचार बनेंगे और जिस प्रकार के जिसके विचार होंगे, प्राय: उसी प्रकार के वह कर्म करेगा। आर्यसमाज में सम्मिलित होकर ईसाइयों और मुसलमानों के विचारों और आचारों में जिस जिस परिवर्त्तन का होना ऊपर लिखा गया है, वह भी इस बात का प्रमाण है कि सभा सोसायटी और मजहबी विश्वासों के बदलने से मनुष्य के व्यावहारिक जीवन और शुद्धि अशुद्धि में अवश्यमेव परिवर्त्तन होता है। इसके अतिरिक्त इतिहास से भी इस बात का प्रमाण मिलता है कि अच्छे गुरु या उपदेशक और अच्छे संग या सोसायटी के मिलने और विचारों के बदलने से बड़े बड़े भयंकर पापियों की

भी कायापलट हो गई और वे धर्मात्मा बन गये। इस हेतु यह मानना पड़ेगा कि "शुद्धि भीतर से होनी चाहिए" ऐसा मानने पर भी सभा, समाज या विश्वासों आदि के बदलने का निषेध नहीं होता।

आक्षेप का दूसरा अंश यह है कि दूसरों की शुद्धि वे ही कर सकते हैं जो स्वयं शुद्ध हों, यद्यपि आदर्शवाद (Idealism) के विचार से यह विचार अति उच्च और प्रभावोत्पादक है, परन्तु यह उसी सीमा तक ग्राह्य है कि कर्म्मपरायण विद्वान् का उपदेश सुननेवालों पर अधिक प्रभाव डालता है, उनके उच्च जीवन का प्रभाव भी लोगों पर अवश्य पड़ता है; परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि शुद्धात्मा लोग ही दूसरों को शुद्ध कर सकते हैं या जो प्रत्येक अंश में शुद्ध नहीं हैं उनका दिया हुआ सत्योपदेश भी कुछ प्रभाव नहीं डालता। यदि सचमुच ऐसा ही होता तो महात्मा गान्धी जी के संसर्ग में आनेवाले सभी जन शुद्ध हो गये होते या महात्मा बन गये होते, और दूसरों के उपदेशों का कोई प्रभाव ही न पड़ता; परन्तु घटनाएँ इसके विपरीत हैं और यह बात भी पूर्णतया सत्य नहीं है कि किसी तपस्वी की तपस्या ही दूसरों को शुद्ध कर देती है, किन्तु सच तो यह है कि जो तप करता है, वही तपस्वी बनता और शुद्ध होता है। यह भी ठीक नहीं है कि जो स्वयं सर्वांग या सर्वांश में शुद्ध नहीं, उसका किया हुआ सच्चा उपदेश भी कुछ प्रभाव नहीं डालता; क्योंकि सचाई स्वयं स्वतः सुननेवालों पर प्रभाव डालती है। यदि ऐसा न होता तो उपदेश

करना ही व्यर्थ हो जाता; क्योंकि सर्वांश में शुद्ध व पवित्र केवल भगवान् ही है। उच्च से उच्च मनुष्य में भी कोई न कोई निर्बलता और दोष अवश्य पाया जाता है और उक्त कथन ऐसा ही अत्युक्ति-पूर्ण है, जैसे कोई यह कहे कि जिस डाक्टर को कोई रोग न हो, वही रोगियों को नीरोग कर सकता है। जिस भाँति डाक्टर अपने शरीर से रोगी को चंगा नहीं करता, किन्तु अपनी विद्या से उचित औषधि देकर स्वस्थ्य करता है, ठीक इसी तरह शुद्ध करने-वाला अपने शरीर से नहीं, किन्तु पवित्र धर्म के विधान से पतित को शुद्ध करता है। या यों समझिये कि जिस तरह स्वास्थ्य का मूल हेतु डाक्टर का शरीर नहीं; किन्तु दवा है, उसी तरह शुद्धि का कारण भी शुद्ध करनेवाले का व्यक्तित्व नहीं किन्तु वैदिक धर्म के विचारों और आचारों की पवित्रता है जिनको, ग्रहण करके पतित शुद्ध हो जाता है।

वैदिक धर्म की उदारता

(३) महात्मा जी की प्रतिज्ञा का तीसरा अंश है " हिन्दू-धर्म तो हर एक मनुष्य से कहता है कि तुम अपने विश्वास या धर्म के अनुसार ईश्वर का भजन-पूजन करो और इस प्रकार यह दूसरे समस्त धर्मों के साथ मेल से रहता है।"

(आर्य) यहाँ पर महात्मा जी ने विश्वास और धर्म को पर्यायवाची लिखा है; जो कि जैमिनि मुनि और मनु महाराज-कृत

धर्म के लक्षणों के विरुद्ध है और धर्म के यौगिक अर्थ के अनुसार भी लोक और परलोक के सुख को प्राप्त करने के निमित्त जिन पवित्र गुणों और कर्मों का धारण और सेवन किया जाता है, उनका नाम धर्म है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि मानवी जीवन-सम्बन्धी तात्त्विक और शुद्ध क्रियात्मक मर्यादा को धर्म कहते हैं, इस हेतु जहाँ धर्म विश्वास का पर्यायवाची नहीं हो सकता, वहाँ धर्म (दस्तूरुल अमल) अनेक भी नहीं हो सकते। मनुष्य जाति का सामान्य धर्म एक ही है, अतएव उसको मानवी धर्म कहते हैं। हाँ, विशेष धर्म भी हैं और वह वर्णाश्रम धर्म हैं, जो कि श्रम और जीवन के विभाग पर निर्भर है और योग्यता व आयु के विचार से जिनका पालन करना मानव कर्त्तव्य के अन्तर्गत है; अतः जब कि धर्म ही अनेक नहीं, किन्तु एक है तो फिर उसके लिए "अपने धर्म या सब धर्मों" के शब्दों का प्रयोग करना भी निरर्थक है। ज्ञात होता है कि यहाँ पर महात्मा जी ने मजहब के सम्बन्ध में भी धर्म शब्द का प्रयोग किया है, जो कदापि ठीक नहीं हो सकता; क्योंकि इन दोनों के अर्थ और अभिप्राय में बड़ा भारी अन्तर है। धर्म का अर्थ ऊपर बतलाया जा चुका है और मजहब का अर्थ है मार्ग अर्थात् वह रास्ता, जो कि मजहब के प्रवर्त्तक ने बतलाया है।

इसलिए इनसे स्पष्ट होता है कि धर्म का आधार ईश्वरीय या प्राकृतिक नियम और मानव प्रकृति है और मजहबों का आधार मजहब का प्रवर्त्तक तथा उनका पठन-पाठन है। मनुष्य धार्मिक तब बनता है,

जब कि वह धर्म अर्थात् धार्मिक गुणों को धारण और धार्मिक कर्मों का सेवन करता है, परन्तु मजहबी (ईसाई और मुसलमान आदि) तब बनता है, जब मजहब के प्रवर्त्तक और उनके पठन-पाठन पर केवल ईमान लावे। धर्म ईश्वर से मनुष्य का सीधा सम्बन्ध जोड़ता है, उसमें किसी मध्यस्थ या प्रतिनिधि या एजेण्ट की जरा भी जरूरत नहीं रहती; परन्तु मज़हब मनुष्य को उसकी मुक्ति के निमित्त पैग़म्बर की सिफ़ारिश के लिए बाध्य और अनिवार्य बताता है। अब रही यह बात कि हिन्दू धर्म (वैदिक धर्म) सबको अपने विश्वास या धर्म के अनुसार ईश्वर के भजन और पूजन की आज्ञा देता हुआ सबके साथ मेल जोल से रहता है। प्रथम तो यह कहा ही नहीं जा सकता। क्योंकि धर्म एक है, अनेक नहीं। दूसरे, वैदिक धर्म स्वयं ईश्वर के भजन और पूजन करने के लिए मार्ग दिखलाता है, इस हेतु वह हर एक मनुष्य से यह नहीं कहता कि तू अपने विश्वास (चाहे ठीक हो या बे ठीक) के अनुसार ईश्वर की उपासना कर; क्योंकि मनुष्य का विश्वास भ्रमपूर्ण भी होता है और अन्ध-विश्वास के अनुसार ईश्वर की उपासना करने से उपासक का कुछ भला नहीं हो सकता; अतएव वैदिक धर्म तो अपनी ठीक विधि के अनुसार ही ईश्वर का भजन-पूजन करने का आदेश करता है। हाँ, यह अवश्य है और संभवत: महात्मा जी का आशय भी यही होगा कि वैदिक धर्म इतना उदार है कि वह अपने विरुद्ध विचारों और आचारों के रखनेवालों और वैदिक सिद्धान्त के प्रतिकूल भजन-पूजन करनेवालों पर भी उसके सम्बन्ध

में किसी को जबरदस्ती या हिंसा करने की अथवा उनकी उस स्वतंत्रता में बाधा डालने की आज्ञा नहीं देता।

अतः इस प्रकार वह सब मजहबवालों से समानता का वर्त्ताव करते हुए सबके साथ मेल जोल से रहता है।

महात्मा जी के धार्मिक विचारों पर अन्तिम दृष्टि

पाठकवृन्द ! मैंने धार्मिक विद्या के अद्वितीय आचार्य ऋषि दयानन्द के धार्मिक सिद्धान्तों पर दोष लगानेवाले महात्मा जी के धार्मिक विचार आपके सामने रख दिये हैं। अब आप स्वयं अनुमान कर लें कि ऋषि दयानन्द ने वैदिक धर्म को संकुचित बनाया है या महात्मा जी के ऊपर लिखे हुए विचारों ने। मैं तो दृढ़ता-पूर्वक कह सकता हूँ कि किसी भी अन्वेषक या समीक्षक को तर्क और उपयोगिता की अपेक्षा से ऋषि दयानन्द से विरोध रखने-वाले धार्मिक विचारों में कोई भी ऐसी उत्तमता न दिखाई देगी, जिससे वह ऋषि दयानन्द के विचारों से उच्च और विशाल तो कहाँ, उनके बराबर भी सिद्ध हो सकें। मेरी सम्मति में यदि महात्मा जी के उपर्युक्त धार्मिक विचारों का अत्यन्त संक्षिप्त और उपयुक्त शब्दों में लक्षण करना हो तो यह कहना ही उचित होगा कि यह प्रायः परस्पर-विरुद्ध, अनिश्चित और अव्यवस्थित विचारों का संग्रह है कि जिनको एकता उत्पन्न करने की उत्कण्ठा से प्रभा-वित होकर वैदिक और पौराणिक विचारों और आचारों में कुछ

ईसाइयत, इस्लाम और अपनी कल्पनाओं को मिला जुलाकर विभिन्न समयों में आवश्यकतानुसार प्रकट किया गया है। इनमें गौ-रक्षा और छूतछात आदि कई सिद्धान्तों के सिवाय अन्य किसी भी मन्तव्य को निश्चित और स्पष्ट रीति से नहीं वतलाया गया। चूँकि इसमें हर एक विचार और आचार के सम्बन्ध में आपका स्वीकार व इन्कार या खंडन और मंडन साथ साथ चलता है, इसलिए शुद्ध और सात्त्विक मस्तिष्कों की निर्णायक-शक्ति भी निश्चित रूप से इस बात का निर्णय नहीं कर सकती कि महात्मा जी क्या मानते हैं और क्या नहीं मानते।

महात्मा जी के उपर्युक्त विचारों के परस्पर-विरुद्ध और अनिश्चित होने के कारण कौन-कौन से हैं ?

अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि ऐसे सर्वोत्तम दिमाग़ के मालिक, उच्च-श्रेणी के लीडर महात्मा जी के धार्मिक विचारों में इतना परस्पर विरोध और गड़बड़ क्यों है ? मेरी सम्मति में इसके निम्न-लिखित हेतु हो सकते हैं :—

(१) आप अभी तक अपने धार्मिक विचारों को निश्चित रूप नहीं दे सके। इस कारण समय की आवश्यकता को पूरा

करने के लिए जहाँ जैसा अवसर देखा, वहाँ अपनी बुद्धि और अनुभव के अनुसार वैसे ही विचारों को प्रकट कर दिया।

(२) आपके धार्मिक विचार सत्य के आधार पर नहीं लिखे गये; किन्तु इनका निर्माण आपके अत्यन्त प्रिय गुणों अहिंसा, हृदय की विशालता, सहनशीलता, समानता और सर्व-प्रियता के भावों के आधार पर हुआ है। इस कारण जहाँ भी सत्यता से और हृदय की विशालता आदि से संघर्ष (टक्कर) हुआ है, वहाँ पर महात्मा जी का हृदय व मस्तिष्क अपने प्रिय हृदय की उदारता आदि के सामने झुक गया है और बेचारी सत्यता को भ्रमोत्पादक शब्दों के हेर-फेर में गोते खिलाए हैं।

(३) स्वराज्य-प्राप्ति के साधन हिन्दू-मुस्लिम-एकता आदि की आपको अत्यन्त आवश्यकता थी और वर्त्तमान मतमतान्तरों के कोई-कोई सिद्धान्त एकता के मार्ग में रुकावट के कारण थे, इसलिए आपको वैदिक, पौराणिक, ईसाई और इस्लाम आदि के विश्वासों या सिद्धान्तों के जोड़ मेल से बने हुए एक ऐसे समझौता करानेवाले मत या मजहब की जरूरत थी, जो सब मतवादियों को एक या संगठित बना सके इत्यादि।

पाठकवृन्द! मैं समझता हूँ कि मैंने इन कारणों को लेखबद्ध करने में महात्मा जी के साथ कोई अन्याय नहीं किया; क्योंकि मैं तो महात्मा जी के विचारों पर गम्भीरता-पूर्वक मनन करके यथार्थ में इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ। मुझे आपके भ्रमोत्पादक, सन्दिग्ध और परस्पर विरुद्ध शब्दों से परिपूर्ण लेखों और भाषणों ने बाध्य किया

है कि मैं उनके सम्बन्ध में ऐसी सम्मति बनाऊँ। मेरी यह प्रकट की हुई सम्मति आपके लेखों व भाषणों पर निर्भर होने के अतिरिक्त उनसे उत्पन्न हुए ऐसे परिणाम भी सामने हैं, जिनसे मैं ऐसी सम्मति रखने में न्याययुक्त ठहरता हूँ। इसका एक नमूना महात्मा जी ही के श्री-मुख से निकले हुए उन शब्दों को नीचे लिखता हूँ, जो कि आपने कलकत्ते में श्री महात्मा बुद्ध के जन्म-दिन के उत्सव में सभापति के भाषण में प्रकट किये थे।

"विचित्र संयोग है कि संसार के लगभग सब बड़े-बड़े मज़हबों के अनुगामी मुझे अपने-अपने मज़हब का समझते हैं। जैनी भूल से मुझे जैनी समझते हैं। सैकड़ों ईसाई मित्रों का अब तक विचार है कि मैं ईसाई हूँ। बहुधा या कोई-कोई मुसलमान मित्र कहते हैं कि मैं मुसलमान कहलाता नहीं; परन्तु मैं हर तरह से मुसलमान हूँ।..............यह सब मेरी ख़ुशामद है।" (तेज़ देहली १४ मई, सन् १९२५ ई०)

मैं आपके इस कथन से तो बिलकुल सहमत हूँ कि ये लोग भूल से आपको अपने मत या मज़हब का समझते हैं; परन्तु मैं आपके इस कथन से सहमत नहीं हूँ कि मतवादियों का अपने अपने मत या मज़हब का आपको समझना केवल संयोगवश या आपकी ख़ुशामद है; किन्तु यथार्थ यह है कि आपके बहुरंगे लेखों और भाषणों से उन्हें यह भ्रान्ति होती है कि आप मत (मज़हब) की दृष्टि से उन्हीं के विचारवाले हैं। या यों कहिये कि जान-बूझकर या अनजान में या स्वभावतः आपके धार्मिक या

मजहबी लेख और भाषण प्राय: ऐसे रंग-ढंग के होते हैं, जिनसे यह विदित होता है कि आप हिन्दू भी हैं और ईसाई भी, मुसलमान भी हैं और बौद्ध व जैनी भी। हां, यह भी है कि आप सब कुछ भी हैं और कुछ भी नहीं हैं।

हिन्दू (पौराणिक) धर्म की उदारता

ऊपर लिखे हुए सम्पूर्ण-वाद को सुनकर भी पाठक-वृन्द यह प्रश्न उचित रीति से कर सकते हैं कि इस सम्पूर्ण-वाद के सुनने पर भी निश्चित रूप से पहेली न सुलझ सकी कि महात्मा जी ने ऋषि दयानन्द पर जो यह दोष लगाया था कि उन्होंने उदार हिन्दू-धर्म को संकुचित बना दिया, उसको सिद्ध करनेवाली हिन्दू-धर्म में वह कौन सी ऐसी उदारता थी कि जिसको स्वामी जी ने संकीर्ण बना दिया। इसका उत्तर मैं अपनी ओर से न देकर महात्मा जी के निजी शब्दों में ही पाठकों के सामने रख देता हूँ। आशा है कि उनसे उक्त प्रश्न का सन्तोष-जनक उत्तर मिल जायगा और वे यह जान जायँगे कि महात्मा जी, जो उदारता पौराणिक धर्म में समझते हैं, वह किस तरह की है। महात्मा जी के वे शब्द यह हैं—

"देहधारी मनुष्य परमेश्वर को अन्य रीति से झट नहीं पहचान सकता। उसकी कल्पना अधिक दूर नहीं दौड़ सकती; इसलिए वह मानता है कि परमेश्वर ने मनुष्य के रूप में अवतार

लिया था। हिन्दू-धर्म में उदारता की हद नहीं, इसलिए मछली, वराह और नृसिंह को परमेश्वर का अवतार माना गया है। कहते हैं कि धर्म की हानि हो और अधर्म फैल जाये तो ईश्वर धर्म की रक्षा करने के निमित्त अवतार लेता है। यह वात अमान्य और अग्राह्य है कि कोई ऐतिहासिक पुरुष ईश्वर के रूप में या ईश्वर किसी ऐतिहासिक पुरुष के रूप में अवतार था।" (प्रताप लाहौर, १० अप्रैल, सन् १६२८ ई०)

पाठक-वृन्द ! यह है महात्मा जी का वतलाया हुआ पौराणिक धर्म की उदारता का नमूना। इससे पता लगता है कि हिन्दू ईश्वर को निराकार और अजन्मा मानते हुए भी जो उसके मच्छ, कच्छ और वराह इत्यादि अवतारों पर श्रद्धा और विश्वास रखते हैं, महात्मा जी के विचार में यह उनके धर्म की उदारता है, यद्यपि महात्मा जी स्वयं उसको असत्य मानते हैं। इस हेतु इससे स्पष्ट हो जाता है कि असंभव और परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तों को श्रद्धा-पूर्वक मान लेना और युक्ति व सत्यता के विरुद्ध वातों के मानने से भी इन्कार न करना महात्मा जी की परिभाषा में पौराणिक धर्म की उदारता है। चूँकि ऋषि दयानन्द ने पौराणिक मतों की इस प्रकार की कल्पनाओं को मिथ्या वतलाकर उनका खंडन किया, इसलिए प्रतीत होता है कि महात्मा जी ने ऋषि दयानन्द के इस कार्य को "हिन्दूधर्म को संकुचित बना देने" के भाव में ग्रहण किया है। अव पाठक-वृन्द स्वयं विचार लें कि यह संकोच है या विकास।

दूसरा लांछन

(महात्मा जी) " उन्होंने (स्वामी दयानन्द ने) सत्य का और पूर्ण सत्य का पक्ष करने का दावा किया है, पर वैसा करते हुए उनसे अनजान में जैन-धर्म, इस्लाम, ईसाई मजहब और स्वयं हिन्दू-धर्म के अर्थ का अनर्थ हो गया है।"

(आर्य) इस दोषारोपण की भूल दिखलाने के पूर्व यह बतलाना समुचित होगा कि जिस ऋषि पर जैन आदि मतों पर दोषारोपण करने का झूठा दोष लगाया गया है, उसके विचार और भाव ऐसे कार्य के सम्बन्ध में किस प्रकार के हैं। इसका पता ऋषि के निम्नांकित लेख से अच्छी तरह लग सकता है—

"और यही सज्जनों की रीति है कि अपने व पराये दोषों को दोष और गुणों को गुण जानकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग करें और हठियों का हठ, दुराग्रह दूर करें, करावें; क्योंकि पक्षपात से क्या क्या अनर्थ जगत् में न हुए न होते हैं। सच तो यह है कि इस अनिश्चित क्षणभंगुर जीवन में पराई हानि करके लाभ से स्वयं रिक्त रहना और अन्यों को रखना मनुष्य पद से बाहर है। इसमें जो कुछ विरुद्ध लिखा गया हो, उसको सज्जन लोग विदित कर देंगे, तत्पश्चात् जो उचित होगा तो माना जायगा; क्योंकि यह लेख हठ, दुराग्रह, ईर्ष्या, द्वेष, वाद-विवाद

और विरोध घटाने के लिए है, न कि उनको बढ़ाने के अर्थ।"
(सत्यार्थप्रकाश १४ वां समुल्लास अनुभूमिका।)

इसके अनन्तर यह भी जानना जरूरी है कि जिस महात्मा ने धार्मिक-साहित्य के पूर्ण विद्वान् और मत-मतान्तरों के आजन्म खोजी, अन्वेषक दयानन्द पर उपर्युक्त दोष लगाये हैं, स्वयं उन्हें ऋषि दयानन्द की अपेक्षा जैन आदि मत मतान्तरों का कहाँ तक ज्ञान है और एक अन्वेषक के रूप में आपने उनका कहाँ तक अध्ययन किया है। यह संभव है कि आपने बाइबिल का अच्छी तरह और क़ुरान के अनुवादों का भी अध्ययन किया हो; परन्तु जिस धर्म में आपका जन्म हुआ है और अब तक जिससे सम्बन्ध है और जिस धर्म को आप सबसे उत्तम समझते हैं और जिसके सम्बन्ध में आप ऋषि दयानन्द पर यह दोष लगाते हैं कि उनसे स्वयं हिन्दू-धर्म के अर्थ का अनर्थ हो गया है। उसकी जानकारी के सम्बन्ध में आप स्वयं लिखते हैं।

"और न मैं इस बात का दावा ही रखता हूँ कि इन अद्भुत ग्रन्थों (वेदों, उपनिषदों आदि) का विशुद्ध ज्ञान मुझे है"। (नवजीवन, ७ अक्तूबर, सन् १९२१ ई०)

"मैं हिन्दू-धर्म-पुस्तकों से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं हूँ। मैं संस्कृत् का विद्वान नहीं हूँ। मैंने वेदों और उपनिषदों का अनुवाद पढ़ा है; इसलिए मैं यह नहीं कह सकता कि मैंने उनका अन्वेषण कर पूर्ण अध्ययन किया है; पर तो भी

मैंने उनका अध्ययन कर उनका सारा विषय समझ लिया है।"
(यंग इण्डिया, दूसरा भाग हिन्दी पृष्ठ ७३८)

२९ जनवरी सन् १९२५ ई० के नवजीवन में महात्मा जी का वह भाषण छपा है, जो उन्होंने बेलगाँव के गौ-परिषद् में सभापति के पद से दिया था। उसमें लिखा है—

"छठी कक्षा में पढ़ते हुए संस्कृत पाठशाला में मैंने यह वाक्य पढ़ा था—

पूर्वे ब्राह्मणाः गवां मांसं भक्षयामासुः

अर्थात् प्राचीन ब्राह्मण गोमांस खाते थे।

परन्तु इस वाक्य के पढ़ते हुए भी मैं यह मानता हूँ कि यदि वेद में ऐसी बात लिखी हो तो उसका अर्थ कदाचित् वह न हो, जो हम करते हैं।..........मैंने वेद का अध्ययन नहीं किया। बहुतेरे संस्कृत ग्रन्थों को अनुवाद के द्वारा ही मैं जानता हूँ इसलिए मुझ जैसा प्राकृत (संस्कृत न जाननेवाला) मनुष्य इस विषय में क्या कह सकता है ?"

"मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझे वेदों का साक्षात् ज्ञान नहीं है; परन्तु मैं अपने निमित्त निर्णय करने के लिए काफ़ी जानता हूँ"।
(प्रताप लाहौर, २३ जून सन् १९२४ ई० "प्रिन्सिपल रामदेव जी की चिट्ठी के उत्तर में से")

महात्मा जी के ऊपर के लेखों से स्पष्ट प्रकट है कि आपको वेदादि शास्त्रों का कोई साक्षात् ज्ञान नहीं है। आप इस बात को स्वयं भी जानते हैं कि आप संस्कृत के विद्वान् नहीं हैं और वेदों

व उपनिषदों आदि का शुद्ध ज्ञान भी आपको नहीं है। आप इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि आपने अन्वेषण के विचार से कभी पूर्णतया इन ग्रन्थों को नहीं पढ़ा; परन्तु आश्चर्य की बात है कि अपनी इन सब त्रुटियों को मानते हुए भी इस बात का दावा रखते हैं कि आपने इन ग्रन्थों का सार (तत्त्व) अवश्य समझ लिया है और आप अपने निमित्त निर्णय करने के लिए काफ़ी जानते हैं। यदि आपके उपर्युक्त लेख ठीक हैं, जिनके ठीक होने में कोई सन्देह भी नहीं है तब आपका यह दावा तो बिलकुल अशुद्ध है कि आप इन ग्रन्थों का असली अभिप्राय समझते हैं। यह तो हो सकता है कि आप इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में जो कुछ थोड़ा बहुत जानते हैं, वह आपके सन्तोष के लिए काफ़ी हो; परन्तु इस अल्पज्ञता की अवस्था में आप वेदादि शास्त्रों के पूर्ण ज्ञाता ऋषि दयानन्द के धार्मिक या शास्त्रीय ज्ञान के सत्य या असत्य होने के सम्बन्ध में सम्मति कदापि नहीं दे सकते। इसके अतिरिक्त आपने यह भी माना है कि रामायण और गीता के सिवाय आपने सम्पूर्ण ग्रन्थ भली भाँति पढ़े भी नहीं हैं और यह है भी बिलकुल सच; क्योंकि महात्माजी के सदृश राजनीतिक और दूसरे पब्लिक-कार्यों में संलग्न और संस्कृत का पंडित न होनेवाले सज्जन के लिए वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मणों, दर्शनों, स्मृतियों और पुराणों, उप-पुराणों इत्यादि का और इसी प्रकार जैनियों के अगणित ग्रन्थों का पढ़ना भी असंभव ही है; किन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि आर्यों (हिन्दुओं) और जैनियों के दर्शन ग्रन्थों का समझना भी आपके

लिए सुगम कार्य नहीं है; अतः जब कि यह बात पक्की है कि धार्मिक या शास्त्रीय ज्ञान की दृष्टि से ऋषि दयानन्द के सामने महात्माजी पाठशाला के विद्यार्थी से बढ़कर नहीं हैं, तब श्रीमान् एन्० सी० केलकर के कथनानुसार "ऐसी दशा में आपका यह अनुचित साहस था, जो आपने ऋषि दयानन्द पर यह दोष लगाया कि उन्होंने जैन और हिन्दूधर्म के अर्थ का अनर्थ कर दिया है।" अस्तु अब देखना यह है कि ऋषि दयानन्द ने जो कुछ उन मत मतान्तरों या मजहबों के सम्बन्ध में लिखा है, वह पूर्ण अन्वेषण के पश्चात् लिखा है अथवा महात्मा जी के कथनानुसार अनजान में लिख डाला है। यहाँ इस बात का प्रमाण देने की तो जरूरत नहीं है कि ऋषि दयानन्द हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थों से अपरिचित नहीं थे; क्योंकि इस बात से महात्मा जी को या किसी दूसरे सज्जन को भी इन्कार नहीं हो सकता कि ऋषि दयानन्द ने वेदादि शास्त्रों और पुराणादि ग्रन्थों का अति उत्तम प्रकार से अध्ययन किया था। हाँ, जैनियों, ईसाइयों और मुसलमानों के ग्रन्थों के सम्बन्ध में यह सन्देह हो सकता है कि कदाचित् उन्होंने उनको न पढ़ा हो। क्योंकि जैनी महाशय तो अपने ग्रन्थ अन्य मतवादियों को दिखलाते ही नहीं थे। ईसाइयों और मुसलमानों के ग्रन्थ जिन भाषाओं और शब्दों में थे, उनको ऋषि दयानन्द जानते नहीं थे। इस सन्देह को दूर करने के लिए निम्नांकित लेखों पर दृष्टि डालिये—

(१) "इसलिये जैसा मैं पुराण, जैनियों के ग्रन्थ, बाइबिल और क़ुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देखकर उनमें से गुणों

का ग्रहण और दोषों का त्याग तथा मनुष्य जाति की उन्नति के लिए यत्न करता हूँ, वैसे सबको करना योग्य है"। (सत्यार्थप्रकाश की भूमिका।)

(२) "इन सब मतवादियों, इनके चेलों और अन्य सबको परस्पर सत्यासत्य के विचार करने में अधिक परिश्रम न हो, इसलिए यह ग्रन्थ बनाया है। जो जो इसमें मत का मण्डन और असत्य का खंडन लिखा है, वह सबको जानना ही प्रयोजन समझा गया है। इसमें जैसी मेरी बुद्धि, जितनी विद्या और जितना इन चारों मतों (जैनी, पुरानी, किरानी, कुरानी) के मूलग्रन्थ देखने से बोध हुआ है उसको सबके आगे निवेदन कर देना मैंने उत्तम समझा है।" (सत्यार्थ-प्रकाश ११ वें समुल्लास की अनुभूमिका)

(३) "बारहवें समुल्लास में जो जो जैनियों के मत के विषय में लिखा गया है, सो सो उनके ग्रन्थों के पते-पूर्वक लिखा गया है और यह बौद्ध जैन का विषय बिना इनके अन्य मतवालों को अपूर्व लाभ करनेवाला होगा, क्योंकि यह लोग अपनी पुस्तकों को किसी अन्य मतवाले को देखने, पढ़ने व लिखने को भी नहीं देते। बड़े परिश्रम से मेरे और विशेषकर आर्यसमाज बम्बई के मंत्री सेठ सेवकलाल कृष्णदास के पुरुषार्थ से ये ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, तथा काशीस्थ जैन-प्रभाकर यन्त्रालय में छपने और बम्बई में प्रकरण-रत्नाकर ग्रन्थ के छपने से सभी लोगों को जैनियों का मत देखना सहज हुआ है। "(सत्यार्थ-प्रकाश १२ वें समुल्लास की अनुभूमिका)".

ऊपर के लेख में श्री स्वामी जी ने जिस सज्जन सेठ सेवकलाल कृष्णदास जी का नाम दिया है, उन्होंने जो चिट्ठियाँ श्री स्वामी जी को लिखी थीं, उनमें से लिये हुए निम्न-लिखित उद्धरणों से भी उनके प्रयत्न से जैन-ग्रन्थों के प्राप्त करने का पता चलता है।

(४) सेठ जी अपनी १५ जनवरी सन् १८८१ ई० की चिट्ठी में लिखते हैं—

"जैन-मत की पुस्तकों की शोध करते हुए आपने प्रथम लिखा था सो बड़े परिश्रम से हमने उनकी कितनी ही पुस्तकें प्राप्त कर ली हैं, जो आपको कुँवर श्यामसिंह जी से विदित हुआ होगा; परन्तु उन्होंने ग्रन्थ अग्रन्थ का विचार किया। जब वे पुस्तकें शास्त्रार्थ के विषय में पुराणों की नाईं प्रसिद्ध हुईं, जिससे हमने और प्रयत्न करके बहुत सी उन्हीं के सिद्धान्त के ३०००० शिक्षा-दायक श्लोक की पुस्तकें प्राप्त कीं। जिनमें बहुत सी पुस्तकें ३०० से ४०० वर्ष पूर्व की लिखी हुई हैं और बहुत सी पुस्तकों के प्रारम्भ और कितनों के अन्त के पन्ने नष्ट हो गये हैं, तो भी रख लिये हैं। क्योंकि यह पुस्तक उनमें मूल-सिद्धान्त की हैं। इत्यादि" इस चिट्ठी के साथ ७६ पुस्तकों की सूची भी लिखी गई है।

(५) फिर सेठ जी अपनी १६ सितम्बर, सन् १८८१ ई० की चिट्ठी में लिखते हैं—"जैनियों की और पुस्तकें प्राप्त करने का प्रयत्न चल रहा है। मिलते ही आपको विदित किया जायगा और २३० पुस्तकें आपके बिना देखी मेरे पास हैं, आप कहें तो भेज दूँ।"

(६) "जो यहाँ तेरहवें समुल्लास में ईसाई-मत के विषय में लिखा है, उसका यही अभिप्राय है कि आजकल वाइविल के मत में ईसाई मुख्य हो रहे हैं और यहूदी आदि गौण हैं। मुख्य के ग्रहण से गौण का ग्रहण हो जाता है, इसलिए यहूदियों का भी ग्रहण समझ लीजिये। इनका जो विषय यहाँ लिखा है सो केवल वाइविल में से कि जिसको ईसाई और यहूदी आदि सव मानते हैं और इसी पुस्तक को अपने धर्म का मूल कारण समझते हैं। इस पुस्तक के भाषान्तर वहुत से हुए हैं, जो कि उनके मत के वड़े वड़े पादरियों ने किये हैं। उनमें से देव-नागरी व संस्कृत भाषान्तर देखकर मुझको वाइविल में वहुत सी शङ्कायें हुई हैं। उनमें से कुछ थोड़ी सी इस तेरहवें समुल्लास में सबके विचारार्थ लिखी हैं।" (सत्यार्थप्रकाश १३ वें समुल्लास की अनुभूमिका) ।

(७) "जो यह चौदहवाँ समुल्लास मुसलमानों के मत के विषय में लिखा है सो केवल क़ुरान के अभिप्राय से, अन्य ग्रन्थ के मत से नहीं; क्योंकि मुसलमान क़ुरान ही पर पूरा पूरा विश्वास रखते हैं। यद्यपि फ़िरके (सम्प्रदाय) होने के कारण किसी शब्द, अर्थ आदि विषय में विरुद्ध वात है तथापि क़ुरान पर सव एक मत हैं। जो क़ुरान अरवी भाषा में है, उस पर मौलवियों ने उर्दू में अर्थ लिखा है। उस अर्थ का देवनागरी अक्षर और आर्य भाषान्तर कराके पश्चात् अरवी के वड़े वड़े विद्वानों से शुद्ध करवा के लिखा गया है। यदि कोई कहे कि यह

अर्थ ठीक नहीं तो उसको उचित है कि मौलवी साहबों के तर्जुमों का पहले खंडन करें। पश्चात् इस विषय पर लिखें"। (सत्यार्थप्रकाश चौदहवें समुल्लास की अनुभूमिका)।

ऊपर के उद्धरणों से प्रकट है कि ऋषि दयानन्द ने जैनादि मतों के ग्रन्थों का बड़े परिश्रम से अध्ययन करने के बाद ही उनकी समालोचना की है; परन्तु इस पर भी यदि यह कहा जाय कि ऋषि ने अनजान में उनके धर्म के अर्थ का अनर्थ कर दिया है, तो कितना अनर्थ है। अब यहाँ पर यदि यह आक्षेप किया जाय कि यद्यपि स्वामी दयानन्द ने जैनादि मतों के ग्रन्थों को पढ़ने के बाद ही उनकी समालोचना की है, तथापि उन्होंने उनका अर्थ समझने में भूल की है तो इसका उत्तर यह है कि जब कि स्वामी जी ने जैनादि मतों के ग्रन्थों के प्रमाण देकर उन पर अपनी सम्मति प्रकट की है, इसलिए दोष लगानेवाले महात्मा जी के लिये आवश्यक था कि उनकी समझ में जहाँ स्वामी जी ने अर्थ समझने में भूल की थी, उसको दिखलाकर उनकी भूल प्रकट करते और अगर बाइबिल व क़ुरान के आधार पर ऋषि दयानन्द ने बाइबिल और क़ुरान की शिक्षा पर आक्षेप किया था तो सत्यार्थप्रकाश में किये हुए ऋषि दयानन्द की इच्छित वस्तु को सामने रखते हुए पहले उन अनुवादों को अशुद्ध सिद्ध करते, जिनके आधार पर ऋषि ने आक्षेप किया है, परन्तु आपने समालोचना करते समय न तो समालोचक के कर्त्तव्य-पालन की ओर ध्यान दिया है और न समालोचना ही करने के बाद, उसके सम्बन्ध में प्रमाण

माँगने पर और आपके यह प्रतिज्ञा (वादा) करने पर भी आपने आज तक कोई प्रमाण नहीं दिया ? हाँ, यह लिखा कि "दो चिट्ठियों में मुझे चुनौती दी गई है कि अपने निर्णय के प्रमाण सामने रक्खूँ। इस पर किसी को आक्षेप नहीं हो सकता और कुछ ही दिनों में अपने निर्णयों की पुष्टि में सत्यार्थ-प्रकाश के वचन सामने रखने की आशा रखता हूँ। (नवजीवन १५ जून सन् १९२४ ई०)

इतना ही नहीं, किन्तु जिस समय मैं और मेरे कई अन्य प्रसिद्ध आर्य भाई श्री पं० आर्यमुनि, देहली के श्री पं० रामचन्द्र तथा श्री पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति आदि ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज पर महात्मा जी के लगाये हुए दोषों का प्रमाण पूछने के लिए देहली में महात्मा जी की सेवा में उपस्थित हुए थे, उस समय भी आप अपने लगाये हुए दोषों को सत्य सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण न दे सके।

उस समय जो परस्पर बातचीत हुई, उसको अत्यन्त संक्षेप से नीचे लिखा जाता है। जिससे पाठकों को विदित हो जाय कि आपके लगाए हुए दोषों का क्या तथ्य है, हमारे यह पूछने पर कि कृपया बतलाइये, कहाँ पर ऋषि दयानन्द ने जैनादि मतों के अर्थ का अनर्थ किया है, आपने हमसे सत्यार्थ-प्रकाश माँगा, जो कि दे दिया गया। बहुत देर तक उसके पन्ने उलटने के बाद पहला प्रमाण आपने यह दिया कि स्वामी जी ने तुलसीकृत रामायण के पढ़ने का भी निषेध किया है, जिसके उत्तर में श्री पं० इन्द्रजी ने कहा कि महाराज यहाँ पर तो यह प्रकरण है कि कौन कौन सी पुस्तकें विद्यार्थियों की पढ़ाई में रक्खी जायँ और कौन-कौन सी

नहीं। चूंकि तुलसीकृत रामायण में बहुत सी असत्य बातें भी मिली हुई हैं, इसलिए श्री स्वामी जी ने बच्चों की पाठ-विधि में उसको नहीं रक्खा, क्योंकि बालक सच झूठ में भेद नहीं कर सकते। स्वामी जी ने समझदार मनुष्यों के लिए तुलसीकृत रामायण के पढ़ने का कहीं भी निषेध नहीं किया। इस पर आप चुप हो गए। आपके मौन का एक कारण था और वह यह कि आप भी तुलसीकृत रामायण में सत्य के साथ असत्य मिला हुआ मानते हैं, जैसा कि आपके इन शब्दों से प्रकट है—

"रामायण से बढ़कर दूसरी प्रिय पुस्तक मेरे लिए और कोई नहीं। फिर भी तुलसीदास ने कितनी ही धर्म-शास्त्र की बातें लिखी हैं। क्या वह सब सत्य हैं ?"

दूसरा प्रमाण महात्मा जी ने यह दिया कि स्वामी जी ने बिस्मिल्लाः का अर्थ जो यह किया है "आरंभ साथ नाम अल्लाः के" यह बिलकुल ही शब्दार्थ है। इसका उत्तर श्री पं० रामचन्द्र जी ने यह दिया कि बिस्मिल्लाः का जो अर्थ स्वामी जी ने किया है, वह बिलकुल ठीक है और क़ुरान के सब बड़े-बड़े विद्वान् मुसलमान अनुवादकों ने सामान्यतः इसका यही अर्थ किया है। इस पर आपने कहा कि कई मुसलमान यहाँ पर इसका ऐसा अर्थ नहीं करते। तब पंडित जी ने कहा कि यदि कुछ मुसलमान अब इसका भावार्थ कुछ और लेते हैं तो वह भी श्रीस्वामी जी और आर्य-समाजियों के आक्षेप से बचने के लिए ऐसा करते हैं और यदि कल्पना के लिये यह मान भी लिया

जाय कि कुछ मुसलमान भाई विस्मिल्ला: का भावार्थ कुछ और लेते हैं तो भी श्री स्वामी जी का यह अर्थ अशुद्ध और आक्षेप व्यर्थ नहीं हो सकता। अर्थ अशुद्ध इस हेतु नहीं है कि अरबी के व्याकरण से इसका यह अर्थ बिलकुल ठीक है और अब भी अधिकांश मुसलमान विद्वान् इसका यही अर्थ करते हैं। आक्षेप व्यर्थ इस हेतु नहीं है कि श्रीस्वामी जी का आक्षेप उन मुसलमानों के लिए अब भी उचित है, जो कि "विस्मिल्ला:" का अर्थ "शुरू साथ नाम अल्ला: के" करते हैं या मानते हैं। साथ ही जब कि साधारण मुसलमान भी अपनी रचनाओं के आरंभ में "विस्मिल्ला:" ही लिखते हैं तो इसका अर्थ "शुरू साथ नाम अल्ला: के" ठीक समझ करके ही लिखते हैं; अत: यदि मनुष्य भी अपनी पुस्तकों के आरंभ में विस्मिल्ला: ही लिखें और ख़ुदा भी अपनी पुस्तक को इसी से आरंभ करें तो फिर मनुष्यकृत और ईश्वर-कृत पुस्तक की पहचान कैसे हो सकेगी? इसका उत्तर महात्मा जी कुछ न दे सके। इसके बाद महात्मा जी बहुत देर तक सत्यार्थ-प्रकाश के पन्ने उलटने-पलटने पर भी अन्य कोई प्रमाण न दे सके और कहने लगे कि फिर जब दिल्ली आयेंगे तब बतलायेंगे। इस पर श्री पं० रामचन्द्र जी ने निवेदन किया कि यदि आज्ञा हो तो मैं आपके साथ ही अहमदाबाद चलूँ, वहीं पर मुझे दिखला दीजियेगा; परन्तु इसको आपने स्वीकार नहीं किया और न फिर आज तक पाँच वर्ष बीत जाने पर भी कोई प्रमाण ही दिया।

(८) मेरी समझ में यह नहीं आता कि ऋषि दयानन्द ने महात्मा जी के कथनानुसार मत-मतान्तरों के धर्म के कौन से ऐसे अनर्थ किये हैं, जो कि महात्मा जी ने नहीं किये, क्योंकि—

(क) यदि ऋषि दयानन्द ने मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में पीछे से की हुई मिलावट मानी है तो महात्मा जी ने भी धर्म-शास्त्रों में पीछे से मिलावट का किया जाना स्वीकार किया है। (देखिये 'पहला प्रकारण' इसी पुस्तक में)।

(ख) यदि ऋषि दयानन्द ने पुराण, क़ुरान और बाइबिल में झूठी बातों का होना बतलाया है तो महात्मा जी ने भी यह लिख-कर इस सचाई का अनुमोदन किया है कि चूँकि परमात्मा का सन्देश (इलहाम) अपूर्ण मनुष्य के द्वारा प्राप्त होता है, इस हेतु वह उसी सीमा तक पवित्र और अपवित्र, पूर्ण और अपूर्ण होता है कि जिस सीमा तक वह साधन पवित्र और अपवित्र व पूर्ण और अपूर्ण हो। इसी प्रकार पुराणों, स्मृतियों, रामायण और महाभारत इत्यादि में झूठी बातों का होना माना है। वरन् पुराणों को किन्हीं कहानियों को भयानक बतलाते हुए, उनके अनुसार चलन बताने को मृत्यु से उपमा दी है। (देखिये पहला कारण)

(ग) यदि ऋषि दयानन्द ने वेदादि शास्त्रों के अशुद्ध अर्थों के मानने से इन्कार करके, उनके युक्तियुक्त शुद्ध अर्थ किये हैं तो महात्मा जी ने भी स्पष्ट लिखा है कि मैं तर्क और नीति के विरुद्ध अर्थों को मानने के लिए तैयार नहीं, चाहे वह शङ्कराचार्य आदि विद्वानों के किये हुए ही क्यों न हों। (देखिये पहला कारण)

(घ) यदि ऋषि दयानन्द ने अवतार अर्थात् ईश्वर के जन्म का निषेध किया है और बतलाया है कि अवतारवाद वेद के विरुद्ध है तो महात्मा जी ने भी यह माना है कि ईश्वर का कोई माता, पिता और पुत्र नहीं है और वेदों में केवल एक ईश्वर की महिमा गाई है। (देखिये अवतारवाद इसी पुस्तक में)

(ङ) यदि ऋषि दयानन्द ने वर्ण गुण-कर्म से माना है और "जन्म से वर्ण" का खंडन किया है तो महात्मा जी ने भी ब्राह्मण के गुणों और कर्मों से रहित ब्राह्मण को झूठा और नाम-मात्र का ब्राह्मण ठहराया है। (देखिये दूसरा कारण)

(च) यदि ऋषि दयानन्द ने ईश्वर की मूर्त्ति नहीं मानी अतएव मूर्त्ति-पूजा का भी निषेध किया तो महात्मा जी ने भी यह लिखकर क्रियात्मक मूर्त्ति-पूजा करने से इन्कार किया है कि मूर्त्ति को देखकर मेरे हृदय में तो उसके लिए आदर का भाव पैदा नहीं होता। (देखिये चौथा कारण)

(छ) यदि ऋषि दयानन्द ने मृतक-श्राद्ध का खंडन किया है तो महात्मा जी ने भी उसको जंगलियों का काम बतलाया है। (देखिये मृतक-श्राद्ध, इसी पुस्तक में)

(ज) यदि ऋषि दयानन्द ने तीर्थ-स्नान से पाप-निवृत्ति या मुक्ति के विश्वास को अन्ध-विश्वास बतलाया है तो महात्मा जी भी लिखते हैं कि मैंने स्वयं तो पवित्रता की खोज के लिए तीर्थ स्थानों पर जाने का कभी विचार नहीं किया। (देखिये तीर्थ-स्थान)

(झ) यदि ऋषि दयानन्द ने पशु-बलि को पाप बतलाया है तो महात्मा जी ने भी उसको अधर्म माना है। (देखिये पशु-बलि पुस्तक में)

(ञ) यदि ऋषि दयानन्द ने बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह और बहु-विवाह को दोष-युक्त कहा है और बाल-विधवाओं के विवाह को विहित बतलाया है तो महात्मा जी ने भी ठीक ऐसा ही माना है। (देखिये विधवा-विवाह)

(ट) यदि ऋषि दयानन्द ने छूत छात और जाति-पाँति को वेद के विरुद्ध और अत्यन्त हानिकारक बतलाया है तो महात्माजी ने भी उसको अधर्म और पाप ठहराया है। (देखिये छुआ-छूत)

(ठ) यदि ऋषि दयानन्द ने मत-मतान्तरों या मज़हबों के असत्य का खंडन किया है तो महात्मा जी ने भी यह लिखकर उनकी असत्यता को स्पष्ट स्वीकार किया है कि मेरा हिन्दू-धर्म तो मुझे शिक्षा देता है कि सब मज़हब थोड़े-बहुत अंश में सच्चे हैं। (नवजीवन, पहली जून, सन् १६२१ ई० इत्यादि)

मेरे ऊपर के वर्णन से स्पष्ट प्रकट है कि जिन धार्मिक और सामाजिक विचारों का प्रकाश ऋषि दयानन्द ने किया है, महात्मा जी ने भी लगभग वैसे ही विचार प्रकट किये हैं। फिर ज्ञात नहीं होता कि यह कौन-सा ऐसा अनर्थ है, जो ऋषि दयानन्द ने तो किया है और महात्मा जी ने नहीं किया।

अन्त में मैं पाठकों के ध्यान को पूर्व-लिखित उस प्रमाण की ओर दिलाकर इस दोष के उत्तर को समाप्त करता हूँ, जिससे यह

स्पष्ट सिद्ध होता है कि ऋषि दयानन्द ने जो जो आक्षेप मतों या मजहबों के सम्बन्ध में किये हैं, वह उनकी मजहबी पुस्तकों को ध्यान-पूर्वक पढ़ने के बाद ही उनके प्रमाण देकर किये हैं; न कि इस तरह, जिस प्रकार महात्मा जी ने केवल श्रद्धावश ही लिख डाला कि " मैं वेदों, उपनिषदों, पुराणों और उन सब वस्तुओं को मानता हूँ, जो हिन्दू शास्त्रों के नाम से विख्यात हैं; " क्योंकि यह बिलकुल निश्चित है कि महात्मा जी ने जिन सब हिन्दू-शास्त्रों को माना है, उनको उन्होंने नहीं पढ़ा; किन्तु यह कहना भी अत्युक्ति न होगी कि महात्मा जी ने उनमें से किसी-किसी पुस्तक के दर्शन भी न किये होंगे। मैं तो यह भी कहूँगा कि यह एक सचाई है कि महात्मा जी ने ऋषि दयानन्द की की हुई मत-मतान्तरों की समालोचना के प्रत्येक आक्षेप के सत्य व असत्य होने की कभी पड़ताल ही नहीं की और यों ही लिख दिया है कि स्वामी दयानन्द ने जैनादि मतों की समालोचना अयुक्त की है। यदि इस बात के मानने से आपको इन्कार हो तो कृपा करके आप ही बतलायें कि क्या आपने कभी पुराणों, जैन-ग्रन्थों, बाइबिल और क़ुरान को सामने रखकर उनके सम्बन्ध में किये हुए ऋषि दयानन्द के प्रत्येक आक्षेप की सत्यता और असत्यता की पड़ताल की है। यदि नहीं की तो फिर आपको कैसे विदित हुआ कि ऋषि दयानन्द ने जैनादि मतों के धर्म के अर्थ का अनर्थ कर दिया है।

अतः मेरी ऊपर वर्णन की हुई यथार्थ बातों के आधार पर पूर्ण दृढ़ता के साथ यह कहा जा सकता है कि महात्मा जी का

यह कहना कदापि ठीक नहीं है कि स्वामी दयानन्द ने अनजान में जैनादि-मतों के अर्थ का अनर्थ कर दिया है; किन्तु इसके विपरीत यह कहना बिलकुल ठीक होगा कि महात्मा जी ने अनजान ही में ऋषि दयानन्द पर यह अशुद्ध लांछन लगाया है।

तीसरा लांछन

(महात्मा जी) आर्यसमाज की बाइविल सत्यार्थ-प्रकाश को मैंने दो बार पढ़ा है। ऐसे महान् सुधारक का लिखा हुआ इतना निराशा-जनक ग्रन्थ मैंने नहीं पढ़ा।.........आर्यसमाज की उन्नति सत्यार्थ-प्रकाश की शिक्षा से नहीं; किन्तु इसके प्रवर्त्तक के उदात्तशील (कैरेक्टर) के कारण है।

(आर्य) (क) यह तो माना जा सकता है कि महात्मा जी को सत्यार्थ-प्रकाश के पढ़ने से निराशा हुई हो; परन्तु यह नहीं माना जा सकता कि आपकी निराशा सत्य पर निर्भर है; क्योंकि मेरी समझ में आपकी यह निराशा, आपके उद्देश्य (स्वराज्य-प्राप्ति) के साधन हिन्दू-मुस्लिम आदि साम्प्रदायिक एकता के विचार से बने हुए भावों पर निर्भर है, न कि सत्य की जाँच के आधार पर। अथवा यों समझिये कि आपकी निराशा का कारण यह नहीं है कि वास्तव में सत्यार्थ-प्रकाश उस असली सचाई का प्रकाशक नहीं है, जिसके लिए ऋषि दयानन्द ने उसको निर्माण किया था, किन्तु महात्मा जी की निराशा का कारण यही हो सकता है कि उसमें की हुई मत-मतान्तरों की समालोचना को आपने एकता-जन्य भावों के अनुकूल नहीं पाया या यह कि जो कुछ आपको प्रिय था, वह उसमें से आपको

नहीं मिला; परन्तु ऋषि दयानन्द से यह आशा करना कि वह राजनीतिक भावों पर ध्यान रखते हुए धार्मिक सत्यता और मत-मतान्तरों की असत्यता को प्रकट करने से पृथक् रहते, वृथा है; क्योंकि ऋषि दयानन्द उस समय के एक अनुपम सुधारक थे। वह मनुष्यों के हित व उपकार के लिए मत-मतान्तरों या मजहबों के उन सब मिथ्या-विश्वासों, भ्रम-जालों और कुप्रथाओं व हानिकारक रीतियों के विपरीत क्रान्ति पैदा करके उन्हें नष्ट करना चाहते थे, जो कि धर्म की सार्वभौम सचाइयों के विरुद्ध हैं और एक मानव-समुदाय में अगणित सम्प्रदाय और उनमें परस्पर दुराग्रह और घृणा उत्पन्न करके उपद्रवों का कारण बने हुए हैं। इस हेतु उनके सुधार का एक ही साधन 'अविद्या का नाश और विद्या या सत्य का प्रकाश करना' था। एतदर्थ आपने जो विशेप पुस्तक लिखी, उसका नाम भी आपने सत्यार्थप्रकाश (सच्ची बातों का प्रकट करनेवाला रक्खा।) इसके पूर्वार्द्ध में जहाँ आपने वेद के सच्चे विचारों और आचारों का वर्णन किया, वहाँ उसके उत्तरार्द्ध में मत-मतान्तरों और समाज के दोषों को भी दिखलाया है, जिससे मत-मतान्तरों के अनुयायी असत्य को छोड़कर सत्य का ग्रहण कर सकें और सामाजिक सुधार भी हो सके; इसलिए यह मानना पड़ेगा कि ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश को जिस विशेप उद्देश्य से लिखा है, उससे उसी उद्देश्य की पूर्त्ति की आशा हो सकती है और यह आवश्यक नहीं है कि वह हर तरह के विचारवाले के लिए आशाजनक हो और न उसके रचयिता ही ने ऐसा दावा ही किया है

कि इसमें से हर तरह के विचारवाले को अपने अनुकूल विचार मिल सकेंगे।

(ख) बड़े आश्चर्य की बात है कि महात्मा जी स्वयं तो राज-नीतिक सुधार के निमित्त गवर्नमेंट की शिक्षा और कार्य-शैली को हिन्दुस्तानी राज्य का विरोधी और हानिप्रद समझकर उसका प्रकट रूप से खंडन करें; खंडन ही नहीं, किन्तु उसे सन्मार्ग पर लाने के लिए पूर्ण प्रयत्न करते हुए वकीलों, छात्रों और जनता को उससे असहयोग करने का उपदेश भी दें और इस पर विचित्रता यह कि अपनी इस तोड़-फोड़ की प्रेरणा से पूर्व असहयोगियों के लिए रचनात्मक-शिक्षा और कार्य का कोई पूरा प्रबन्ध भी न करें; परन्तु ऋषि दयानन्द के धार्मिक-सुधार के लिए मत-मतान्तरों की दूषित व हानिकारक शिक्षा को खंडन करनेवाली पुस्तक (सत्यार्थ-प्रकाश) को निराशाजनक बतलावें, और उसके आरंभिक दस समुल्लासों में दी हुई पूर्ण रचनात्मक धार्मिक और सामाजिक शिक्षा की ओर कुछ भी ध्यान न दें।

मैं यह मानता हूँ कि ऋषि दयानन्द से भी भूल का होना संभव है और ऋषि स्वयं भी ऐसा ही मानते हैं, परन्तु उनकी किसी भूल को विशेष प्रकार से प्रकट किये बिना ही उनकी सम्पूर्ण आयु के सतत प्रयत्न से प्राप्त किये हुए ज्ञान के आधार पर मजहबों या मत-मतान्तरों की की हुई समालोचना पर केवल इतना ही लिखकर धूल डालने का यत्न करना कि 'स्वामी जी ने अनजान में मत मतान्तरों के धर्म के अर्थ का अनर्थ कर दिया है और सत्यार्थ-

प्रकाश एक निराशा-जनक ग्रन्थ है और उसमें प्रकाशित प्रत्येक मनुष्य का कल्याण व हित करनेवाली सचाइयों पर कुछ भी ध्यान देना अनर्थ नहीं तो क्या है ?

(ग) कितने शोक की वात है कि जिस सत्यार्थप्रकाश ने वास्तव में एक सच्चे मार्ग-प्रदर्शक का काम किया है, जिनके लेखों ने धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में उन्नति-जनक क्रान्तियाँ उत्पन्न करके मत-मतान्तरों को अपना सुधार करने के लिए बाध्य कर दिया है, जिसके कारण वास्तव में प्रत्येक समाज ने अपना न्यूनाधिक सुधार भी किया है, जिसने लाखों अन्ध-विश्वासियों को भ्रमजालों से मुक्त किया और विषयी लोगों के अपवित्र जीवन को पवित्र बनाया है, जिसने धर्म और मजहब के नाम पर किये जानेवाले अत्याचारों और पापों अथवा मनुष्य और स्वतंत्रता के विरोध विचार और आचारों के विनाशार्थ एक महान् सुधारक का काम किया है, उसके सम्बन्ध में यह लिखना कि "वह निराशाजनक है अथवा आर्यसमाज की उन्नति में उसका कोई भाग नहीं" क्या यह भ्रममूलक बात नहीं है । मैं बड़ी शिष्टता से पूछूंगा कि क्या महात्मा जी की समझ में सम्पूर्ण सत्यार्थप्रकाश में कोई भी उत्तमता नहीं है । यदि है, तो सम्पूर्ण पुस्तक से निराशा बतलाकर अपरिचितों के लिए उसकी सम्पूर्ण शिक्षा ही को सन्दिग्ध बनाने का काम करना कहाँ का न्याय है । क्या एक निष्पक्ष समालोचक का यही कर्त्तव्य है कि वह पुस्तक के उत्तम अंशों की तो चर्चा तक न करे और उसकी जिस बात को उसने असत्य समझा हो, उसके खंडन में भी कोई प्रमाण पेश न

करे; किन्तु । भूल को दिखला भी न सके और लिख दे कि सम्पूर्ण पुस्तक ही निराशाजनक है।

(घ) क्या यह एक प्रत्यक्ष और अनुचित पक्षपात नहीं है कि एक ओर तो महात्मा जी क़ुरान और इस्लाम में भूलों को मानते हुए भी अपनी प्रसिद्ध घोषणा में यह लिख दें कि "इस्लाम कोई झूठा मजहब नहीं है।" और दूसरी ओर सत्यार्थप्रकाश में वर्णित कई सचाइयों से सहमत होते हुए भो उसके सम्बन्ध में यह लिखकर भ्रम फैलायें कि सत्यार्थप्रकाश निराशाजनक पुस्तक है।

चौथा लांछन

(महात्मा जी) "जहाँ जहाँ आर्यसमाज को देखेंगे, वहाँ, वहाँ, जीवन और तत्परता दिखाई देगी। ऐसा होते हुए भी संकुचित दृष्टि और विवादप्रिय होने के कारण अन्य सम्प्रदाय-वालों के साथ और जब वह न मिलें तो आपस में झगड़ा करते हैं।"

(आर्य) (१) आर्यसमाज संकुचित दृष्टिवाला है या विशाल दृष्टिवाला, इसके जाँचने के लिए आर्यसमाज के मूल उद्देश्यों का जानना आवश्यक है। इस हेतु यदि अत्यन्त संक्षेप से यह जानना चाहें कि ऋषि दयानन्द ने वर्त्तमान आर्यसमाज को क्यों बनाया तो इसका उत्तर आर्यसमाज का छठवाँ नियम यह देता है कि संसार के उपकार के लिए। नियम के शब्द यह हैं:—

"संसार का उपकार करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है;" परन्तु यदि इसका उत्तर कुछ विस्तार से जानना हो तो ऋषि के बनाये ग्रन्थों के आधार पर यह कहना होगा कि आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ने आर्यसमाज नाम से एक ऐसे समाज का निर्माण किया है कि—

(क) जो केवल उत्तम और निकृष्ट गुण कर्मों के विचार से ही मानव-समाज के आर्य (भले) और दस्यु (बुरे) केवल द

ही भेद माननेवाला और अन्य अप्राकृतिक और कृत्रिम भेदों को नष्ट करनेवाला हो।

(ख) जिसमें बिना देश और वंश के विचार के प्रत्येक मनुष्य सम्मिलित होकर संकीर्ण विचार के मतों या मजहबों से और कल्पित जातियों से उत्पन्न ईर्ष्या-द्वेष और वैर-विरोध को मिटा दें और शारीरिक अंगों की भाँति सम्मिलित व संगठित शक्ति से जीवन-यात्रा को सुगम व सुखप्रद बनाते हुए जीवनोद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करे।

(ग) जिसके अन्तर्गत प्रत्येक मनुष्य के जन्म-सिद्ध अधिकार समान व सुरक्षित हों।

(घ) जिसमें सिवाय गुणों और कर्मों के अथवा सदाचार और योग्यता की विशेषता के वर्णों की अथवा उच्चता और नीचता की और कोई कसौटी न हो।

(ङ) जिसके मन्तव्य (विश्वास) और कर्त्तव्य (कार्य) में देश-सम्बन्धी, मजहबी, जातीय और वंश-सम्बन्धी घृणा का स्थान ही न हो और जिसका स्वार्थ परार्थ ही के अन्तर्गत हो।

(च) जिसके मन्दिर में केवल एक ईश्वर की पूजा की जाती हो तथा योग्यता, पवित्रता और सदाचार का सत्कार और दुराचार व अत्याचार या पाप और अन्याय का तिरस्कार किया जाता हो।

(छ) जिसके कार्यक्षेत्र में ज्ञान और कर्म का पूर्ण सहयोग और विकास व तर्क और श्रद्धा का उचित उपयोग हो सके।

(ज) जिसके क्षेत्र में प्राकृतिक शक्तियों के विकास के लिये धार्मिक और सामाजिक किसी प्रकार की भी अनुचित बाधाएँ न हों और अपने पुरुषार्थ से हर एक को आगे बढ़ने और ऊपर उठने का अवसर प्राप्त हो।

(झ) जिसकी वेदी (प्लैटफार्म) पर आत्मचिन्तन, आत्म-निर्णय, आत्मावलम्बन, आत्मसम्मान, आत्मरक्षा, आत्मत्याग और आत्मसमर्पण का पाठ पढ़ाया जा सके तथा प्रत्येक मनुष्य के लिए एक ही सत्य-धर्म की घोषणा की जा सके।

संक्षेप में यह है कि जिसका वायु-मंडल ही नैसर्गिक समानताओं, स्वाभाविक स्वतंत्रता और धार्मिक जीवन के भावों का संचार करनेवाला हो; अतः जिस समाज का निर्माण उपर्युक्त अभिप्रायों अथवा संसार के उपकार के लिए ही किया गया हो, मानना पड़ेगा कि वह समाज सिद्धान्त की दृष्टि से संकुचित दृष्टि-वाला तो है ही नहीं, किन्तु उससे विशाल दृष्टिवाला और कोई हो ही नहीं सकता। शेष रहा उसका कार्य, जिसके सम्बन्ध में बिना अत्युक्ति किये, यह कहा जा सकता है कि आर्य-समाज का स्वयं संकुचित-दृष्टि होना तो दूर रहा, उसने तो अपने विशाल धार्मिक विचारों और आचारों के प्रचार से दूसरों के संकीर्ण विचार को भी एक सीमा तक दूर कर दिया है। इस बात के प्रशंसक बहुत से ऐसे विद्वान् हैं, जो आर्य-समाजी नहीं हैं।

(२) यह सम्भव हो सकता है कि महात्मा जी ने आर्य-समाज के सब कार्यों को जानते हुए भी उसको संकुचित दृष्टिवाला

केवल इस हेतु कहा हो कि वह मजहबों की व्यर्थ बातों को जानता हुआ भी उनकी कुछ उत्तमताओं के कारण उनके ईश्वरीय होने के स्वीकार करने में वैसी उदारता नहीं दिखलाता जैसी कि आपने अपने इन शब्दों में दिखलाई है—

"मेरा हिन्दू-धर्म भाव तो मुझे यह शिक्षा देता है कि सब धर्म थोड़े बहुत अंश में सच्चे हैं। सबकी उत्पत्ति एक ही ईश्वर से है।"

अथवा वह मत-मतान्तरों या मजहबों की प्रत्येक अयुक्त बात के सामने सिर झुकाने में आपकी तरह यह समझकर विशाल-हृदयता से काम नहीं लेता। यह उनका मजहबी विश्वास है, केवल इसी कारण हमें उसका आदर करना चाहिए, जैसा कि इस आक्षेप के अन्तिम भाग में दिये हुए आपके लेखों से प्रकट है। यदि आपके आर्य-समाज को संकुचित दृष्टिवाला कहने का यही कारण है तब तो मैं कहूँगा कि वास्तव में आर्य-समाज संकुचित दृष्टिवाला या संकीर्ण-हृदय है और वह इस प्रकार का विशाल-हृदय बनना नहीं चाहता; क्योंकि जो विशाल-दृष्टि और हृदय की विशालता असत्य को सत्य मानने और अयुक्त बातों के सामने झुकना सिखलाती है, आर्य-समाज उसको अविद्या का मूल समझता है, इसलिए अपने अन्तःकरण के विरुद्ध, बनावटी बात दिखलाने को दंभ जानकर उसका करना उचित नहीं समझता।

यदि महात्मा जी ने आर्य-स माज को संकुचित दृष्टिवाला इस हेतु कहा हो कि आपके विचार में वह दूसरे मजहबों की

अच्छाइयों और उचित बातों को भी मानने से इन्कार करता है अथवा उनके प्रवर्त्तकों और प्रचारकों की प्रतिष्ठा नहीं करता, तब तो मैं निवेदन करूँगा कि यह लांछन मिथ्या है; क्योंकि ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में साफ़ लिखा है कि "जो जो सब मतों में सच्ची-सच्ची बातें हैं, उनको स्वीकार करके जो-जो उनकी झूठी बातें हैं, उनका खण्डन किया है। जिस तरह मैं पुराणों, जैन-ग्रन्थों, बाइबिल और क़ुरान को पहले ही कुदृष्टि से न देखकर उनमें से गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग करता हूँ, ही वैसे सबको करना चाहिए" जिससे स्पष्ट प्रकट है कि आर्य-समाज के प्रवर्त्तक ने मज़हबों की सच्ची बातों और गुणों को स्वयं स्वीकार किया है और दूसरों को ऐसा करने की शिक्षा भी दी है, इसलिए आर्य-समाज भी इस पर कटिबद्ध है, और मज़हबों के प्रवर्त्तकों और प्रचारकों की वरन् प्रत्येक मनुष्य का यथायोग्य सम्मान करना हर एक मनुष्य का नैतिक कर्त्तव्य है और आर्य-समाज भी इस बात में किसी से पीछे नहीं है। जो जिस सम्मान का पात्र है, आर्य-समाजी उसका वैसा ही सम्मान करते हैं। आर्य-समाज मज़हबों के प्रवर्त्तकों का सम्मान, केवल इस विचार ही से नहीं करता कि वह मज़हबों के प्रवर्त्तक हैं, क्योंकि यह तो केवल सांसारिक व्यवहार या भाई-चारा का सम्मान है, किन्तु आर्यसमाज तो संसार के सम्पूर्ण प्रतिष्ठित व्यक्तियों का, उनके उच्च गुणों और कर्मों के विचार से उचित व यथार्थ सम्मान करता है। यदि यह विचार किया जाय कि चूँकि

आर्यसमाज उनके कई विचारों का खंडन करता है इसलिए वह उनका सम्मान नहीं करता तो यह विचार ठीक नहीं है; क्योंकि सम्मान करने का यह तात्पर्य नहीं है कि सम्मान करनेवाला मनुष्य जिसका सम्मान करे उसके हाथ में अपनी आत्मा ही बेच डाले। सम्मान करना और बात है और विचारों से विरोध करना या मतभेद रखना दूसरी बात है। इस समय जो मैं महात्मा जी के कई विचारों से विरोध प्रकट कर रहा हूँ तो क्या इसका यही तात्पर्य है कि मैं महात्मा जी का सम्मान नहीं करता। यदि आक्षेप-कर्त्ता का ऐसा ही विचार हो तो मैं इससे इन्कार करता हूँ; क्योंकि मैं महात्मा जी का हृदय से सम्मान करता हूँ। अथवा महात्मा जी ने जो ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध में समालोचना की है तो क्या महात्मा जी के मन में ऋषि का सम्मान नहीं है, मैं इसको नहीं मानता; क्योंकि महात्मा जी सदा ही अपने लेखों और भाषणों में ऋषि दयानन्द के सम्मान का ध्यान रखते हैं और ऋषि के महत्त्व को मानते हैं। हाँ, यदि आर्यसमाज से यह आशा की जाय कि वह किसी के गुणों को मान लेने पर उसके दोषों पर तनिक भी दृष्टि न करे तो ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि आर्यसमाज सुधारक होने के कारण इस कार्य-शैली को इस हेतु भयानक समझता है कि इससे अन्ध-परम्परा का आरम्भ होता है और संसार में मनुष्य-पूजा या अवैदिक गुरुडम* फैलता है और

*गुरुडम = गुरु को ईश्वर तुल्य मानकर उसके बड़े बड़े दोषों पर भी दृष्टि न करना तथा उसकी अनुचित आज्ञाओं को भी शिरोधार्य करना।

सुधार भी नहीं हो सकता। इसको महात्मा जी ने भी अन्धी हीरो-वर्शिप (महापुरुषों की अन्धाधुन्ध पूजा) बतलाया है। आर्य-समाज की यह कार्य-शैली केवल आर्यसमाज से भिन्न महापुरुषों ही के सम्बन्ध से नहीं है; किन्तु आर्य ऋषियों और मुनियों के सम्बन्ध में भी उसका यही व्यवहार है कि वह अपने ऋषियों-मुनियों की भी हर एक हाँ में हाँ नहीं मिलाता। जिस प्रकार आर्य-समाज की इस कार्य-शैली से यह कहना भूल है कि वह ऋषियों और मुनियों का सम्मान नहीं करता, उसी प्रकार यह कहना भी भूल है कि चूँकि आर्यसमाज आर्यों से भिन्न महापुरुषों के दोषों को प्रकट करता है; इसीलिए वह उनका सम्मान नहीं करता। अस्तु, संसार को अन्ध-अनुकरण और भ्रम से बचाने की यह एक बहुत ही उचित और धर्मानुकूल रीति है कि सर्वसाधारण जिन महापुरुषों का अनुगमन करते हैं, पूरी ईमानदारी से उनके विचारों और आचारों के गुण-दोष को प्रकट कर दिया जाय, जिससे वह उनके दोषों का अनुकरण करने से बचें।

(२) यह बात, बड़ी दृढ़ता से कही जा सकती है और आर्य-समाज का इतिहास इसका साक्षी है कि उसने अपने पचास वर्ष के जीवन में आर्यसमाज से भिन्न लोगों पर कभी भी आक्रमण नहीं किया, वरन् आर्यसमाज से भिन्न महाशयों के आक्रमणों से बचने के लिए गवर्नमेण्ट या अदालत की शरण लेने से भी सदा परहेज किया है। इसलिए इन अर्थों में तो उसको कोई भी झगड़ालू नहीं कह सकता और यदि सत्यासत्य के निर्णयार्थ होने-

वाले उसके वाद-प्रतिवाद के कारण ही उसको झगड़ालू कहा जाय; जैसा कि महात्मा जी के लगाये हुए दोषों के शब्दों से प्रकट है तो मैं बड़ी नम्रता से निवेदन करूँगा कि इसमें आर्यसमाज की दूसरों की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है और इस दोष से न महात्मा जी ही बच सकते हैं और न संसार ही के दूसरे सुधारक महानुभाव; क्योंकि स्वयं महात्मा जी अपने वकालत के समय में अदालतों में वाद-विवाद करते रहे हैं। इसके बाद अफ्रीका और भारत की गवर्नमेण्टों से हिन्दुस्तानियों और देश-सम्बन्धी अधिकारों के लिए आपका झगड़ा होता रहा और हो रहा है। स्वराज्य-पार्टी के जन्म के समय उससे भी आपकी ले-दे रही है। इसी प्रकार सनातनी हिन्दुओं आदि से भी कभी कभी आपका विवाद होता रहता है। इसके अतिरिक्त अदालतों में वकीलों, कांग्रेस में कांग्रेसियों, कौन्सिलों में कौन्सिलरों, कमेटियों में म्यूनिसिपल कमिश्नरों और सभा-सोसाइटियों में उनके मेम्बरों आदि-आदि से वाद-प्रतिवाद भी नित्य होते रहते हैं। जब कि ये सब वाद-प्रतिवाद करते हुए भी झगड़ालू नहीं हैं तो फिर ज्ञात नहीं कि विचारों की सत्यता व असत्यता तथा आचारों की पवित्रता तथा अपवित्रता जाँचने के लिए वाद-प्रतिवाद करनेवाला आर्यसमाज क्यों झगड़ालू समझा जाता है? क्या संसार में अन्य सब बातों की जाँच के लिए वाद-प्रतिवाद की आवश्यकता तथा आज्ञा है; परन्तु केवल धार्मिक विचारों और आचारों के लिए ही नहीं? क्या इनमें अन्ध-विश्वास ही काफ़ी व लाभप्रद हो सकता

है ? कदापि नहीं; क्योंकि मजहबों के झूठे मन्तव्यों और अन्ध-विश्वासों से जो जो अनर्थ, अन्याय, अत्याचार और रक्तपात संसार में हुए और हो रहे हैं, वह राजनीतिक कारणों से होनेवाले अनर्थों से कुछ कम नहीं हैं। जब तक मजहबी या मतमतान्तरों का सुधार नहीं होता तब तक राजनीतिक क्षेत्र में भी सुख व शान्ति नहीं हो सकती। इस हेतु संसार के सुख व शान्ति के लिए आवश्यक है कि मजहबों के असत्य सिद्धान्तों और अन्ध-विश्वासों का भी सुधार किया जाय। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ने इस सचाई को अच्छी तरह समझकर ही इसके निमित्त जीवन-पर्यन्त कार्य किया। वर्त्तमान समय के सब विचारशील विद्वान् इस बात को मानते हैं कि ऋषि दयानन्द वर्त्तमान काल के सबसे बड़े सुधारक थे। आर्यसमाज भी उनका अनुगामी है। उनका काम केवल सर्व-प्रियता या लीपा-पोती से नहीं चल सकता था। उनको तो मतमतान्तरों और समाज के दोष प्रकट करके उन्हें दूर करने के निमित्त प्रयत्न करना था। यही उन्होंने किया और आर्यसमाज भी कर रहा है। इस हेतु यह स्वाभाविक था कि अन्ध-विश्वास-युक्त मजहबों में उनके सम्बन्ध में असन्तोष फैलता। यह बात भी कोई आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक तक ही सीमित नहीं है, किन्तु जो भी सुधारक होगा और क्रियात्मक सुधार करेगा, उसको ऐसा ही करना पड़ेगा और अन्ध-विश्वासी लोग उससे असन्तुष्ट या अप्रसन्न भी होंगे। फलतः अपने अपने काल के सुधारक महात्मा बुद्ध, महानुभाव सुकरात, हजरत मुहम्मद और लूथर आदि से भी

अन्ध-विश्वासी लोग अप्रसन्न हुए; किन्तु उनमें से किसी किसी महापुरुषों की मृत्यु भी उन अल्पज्ञों के हाथ से ही हुई और अब भी हो रही है कि जिनका वह सुधार करना चाहते थे।

ऋषि दयानन्द के घातक भी वही बने कि जिनके सुधार के लिए वह जीवित थे।

मेरे ऊपर के लेख का समर्थन महात्मा जी की उस निजी सम्मति से भी होता है, जो कि अफ्रीका के प्रवासी-भारतवासियों के मकानों आदि की स्वच्छता को सुधारने में आपने व्यक्तिगत रूप से अनुभव किया था और जिसको आपने स्वरचित आत्म-कथा में इस प्रकार लिखा है—

"परन्तु मुझे तो कुछ कटु अनुभव भी हुआ। मैंने देखा कि जब मैंने अपने समूह (भारतीयों) को उसके कर्त्तव्यों से सचेत करने का प्रयत्न किया तो समूह ने मुझसे इतना सहयोग न किया, जितना कि अपने स्वत्वों की माँग में किया। किसी किसी समय मुझे अपमान भी सहना पड़ा। किसी किसी वार उदासीनता का सामना हुआ। उनके निकट यह कठिन कार्य था कि हाथ-पाँव को गति देकर अपने चारों ओर स्वच्छता रक्खें। इस काम के लिए उनसे रुपये की आशा कैसे हो सकती थी। इन अनुभवों से मुझे यह शिक्षा मिली कि धैर्य व सन्तोष के विना लोगों से कोई काम कराना कठिन है। सुधार के निमित्त सुधारक असन्तुष्ट होता है न कि सोसायटी। सोसायटी से विरोध, घृणा और हस्ताक्षेप के सिवाय और क्या आशा की जा

सकती है। सुधारक जिस बात को प्राण-समान प्रिय समझता है उसे सोसायटी अन्याय व अत्याचार के समान समझती है।" (तेज, देहली, २० फर्वरी १६२७ ई०; यंग इण्डिया से उद्धृत)

महात्मा जी का यह लेख बतलाता है कि जनता की ओर से आपके साथ भी वही व्यवहार हुआ, जो कि हर एक सुधारक के साथ होता आया है। यद्यपि आपका सुधार उनके भावों के प्रतिकूल भी न था। यदि आपका सुधार उनके मजहबी भावों के प्रतिकूल होता तो आशा थी कि आपको उससे भी अधिक पुरस्कार मिलता; क्योंकि मजहबी भाव अधिक तीव्र होते हैं, चाहे उनका आधार मिथ्या विचारों और भ्रान्तियों पर ही क्यों न हो। आपका यह कहना भी बिलकुल उचित और ठीक है कि सर्व-साधारण जनता स्वत्वों के दिलानेवाले लीडर के साथ तो खुले दिल से सहयोग करती है, और मैं तो इसमें इतना और भी बढ़ाऊँगा कि लीडर पर फूल बरसाकर और पशुओं की भाँति उसकी गाड़ी खींचकर उसकी पूजा भी करती है, परन्तु सुधारक को आपके कथनानुसार अनजान लोगों से सिवाय घृणा, हस्ताक्षेप और विरोध के सहयोग की आशा नहीं हो सकती। यही कारण है कि स्वत्व दिलानेवाले लीडर की प्रतिष्ठा व सम्मान उसके कार्यारंभ ही में प्रारम्भ हो जाता है; परन्तु सुधारक की प्रतिष्ठा व सम्मान उस समय होता है, जब कि लोग सुधर जाते हैं। इस हेतु मैं बिना झिझक के कहूँगा कि महात्मा जी भी आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक पर संकुचित दृष्टि और विवाद-प्रिय होने का दोष उस समय

तक ही लगा सकते हैं, जब तक कि आप मजहबी और सामाजिक सुधार के कार्य-क्षेत्र में विशेष रूप से नहीं उतरते। यदि ऋषि दयानन्द की भाँति आप भी मजहबों और समाज का सुधार करेंगे तो फिर आपके केवल इतना कहने ही से काम नहीं चलेगा कि सब मजहबों में भूल और दोष मौजूद हैं तथा संसार के सभी मजहब युक्ति की कसौटी पर परखे जा सकते हैं। ऋषि दयानन्द और आर्य-समाज की भाँति आपको भी मजहबों के विचारों और आचारों को युक्ति की कसौटी पर परखना पड़ेगा और उनकी भूलों और दोषों को स्पष्टतया बतलाकर उन्हें दूर करने के लिए भी वैसा प्रयत्न करना पड़ेगा, जैसा कि आप इस समय पोलिटिकल लाइन (राजनीतिक क्षेत्र) के कार्यों में गवर्नमेंट की भूलों और दोषों की जाँच करते हुए उनके दूर करने की चेष्टा करते हैं। जिस समय आप ऐसा करेंगे, उस समय मजहबों के माननेवालों की दृष्टि में आपकी वर्त्तमान विशाल-हृदयता और सहिष्णुता, ऐक्य-प्रियता भी वैसी ही संकुचित दृष्टि और युद्ध-प्रियता या कलह-प्रियता बन जायगी, जैसी कि आज आपकी दृष्टि में आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक की बन रही है। वास्तव में यह बात केवल आर्यसमाज ही पर निर्भर नहीं है; किन्तु जो भी सुधारक व्यक्ति या समाज कार्य-क्षेत्र में होता है, उसके मार्ग में जितनी बाधाएँ होती हैं, उन्हें दूर करने के लिए वह प्रयत्न करता है, चाहे वह रुकावटें अपने पक्षवालों की ओर से हों या विपक्षियों की ओर से, क्योंकि उसके बिना न केवल वह अपने उद्देश्य में ही सफल नहीं

हो सकता, किन्तु अपना काम भी जारी नहीं रख सकता। इन्हीं रुकावटों को दूर करने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, उसका नाम झगड़ा रख लीजिये या और कुछ; परन्तु यह झगड़ा उसके लिए त्यक्तव्य नहीं है।

आपने यह दावा अवश्य किया है कि मैं आदि से अन्त तक सुधारक हूँ; परन्तु तथ्य यह है कि आप सुधारक नहीं; किन्तु राजनीतिक लीडर हैं; क्योंकि आपने आज तक मजहबों के सुधार का काम तो किया ही नहीं। हाँ, दलितोद्धार और छूतछात के दूर करने के लिए एक अछूत लड़की को अपने आश्रम में रखकर और अपने लेखों वा भाषणों के द्वारा सामाजिक सुधार का जरूर कुछ काम किया है और वह भी उस समय कि जिस समय आर्य-समाज ने उसके सम्बन्ध में कार्य करके क्षेत्र तैयार कर दिया था। तथापि कट्टर सनातनी हिन्दू आपके इस काम से सदैव अप्रसन्न रहे। उनके असन्तोष को दूर करने और अपने को सनातनी हिन्दू सिद्ध करने के लिए आपको डिफेंस (सफाई) भी पेश करनी पड़ी है, जिसका विस्तृत वर्णन पहले हो चुका है। केवल इतना ही नहीं कि आप मजहबी सुधार में लगे ही नहीं; किन्तु आपके निम्नांकित लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि आप वर्त्तमान स्थिति में मत-मतान्तरों के सुधार का कार्य कर ही नहीं सकते।

"मैं आदि से अन्त तक सुधारक हूँ; परन्तु मेरी यह उत्सुकता मुझे यह नहीं कहती कि हिन्दू धर्म की किसी भी आवश्यक बात को रद्द कर दो।" (नवजीवन)।

"मैं कट्टर सनातनधर्मी हूँ; परन्तु एक मुसलमान को अधिकार दूँगा कि यदि उसका विश्वास है तो निस्सन्देह गाय का मांस खाय।"

"कुरान के प्रति यदि मैं अशिष्टता न करना चाहूँ तो मुझे यह देखना चाहिए कि मुसलमान उसके साथ कैसा वर्त्ताव करते हैं। जिस तरह वह करते हैं, मुझे वैसा ही करना चाहिए। परन्तु जब मैं अपने मन्दिर में जाऊँ तो क्या मुझे किसी हिन्दू की ओर देखकर कुछ कहना पड़ता है; परन्तु मैं जब दरबार साहब में गया तो मैं बराबर सरदार मंगलसिंह की ओर देखता रहा कि किस प्रकार सिर झुकाना चाहिए। किस तरह शिष्टाचार करना चाहिए। इसी प्रकार मैं सब धर्मों को सामान की दृष्टि से देखता हूँ और उनकी प्रतिष्ठा करता हूँ।" (नवजीवन, १४ दिसम्बर, सन् १९२४ ई०, प्रताप-लाहौर, १९ दिसम्बर सन् १९२४ ई०)

पाठकवृन्द! मैं यह तो मानता हूँ कि एक राजनीतिक नेता की कार्य-शैली ऐसी ही होनी चाहिए कि जिससे उसके सम्मिलित होनेवाले भिन्न भिन्न मत के लोगों के मजहबी भावों का सम्मान हो, परन्तु मैं यह नहीं मानता कि उक्त कार्य-शैली का लीडर (नेता) मजहबी सुधार भी कर सकता है; क्योंकि जो महात्मा, रद्दी से रद्दी बात को भी आवश्यक माननेवाले हिन्दुओं की अनावश्यक बात का खंडन करने को तैयार नहीं है, जो मांस-भक्षण को पाप मानते हुए भी मुसलमानों को केवल इतना भी कहना नहीं

चाहते कि गाय आदि पशुओं का मांस खाना अनुचित है और केवल उनके अयुक्त विश्वास के कारण ही उनके गोमांस भक्षण के हक़ को मान लेते हैं, जो ऋषि दयानन्द पर वेद-पूजा का दोष लगाते हुए भी पुस्तक-पूजकों की भाँति पुस्तक के सामने केवल दूसरों की प्रसन्नता के विचार ही से सिर झुकाते हैं, अथवा यों कहिए कि जो महात्मा गंगा जाकर गंगादास और यमुनादास बन जाते हैं, क्या वह कभी सुधारक बन सकते हैं। कदापि नहीं; क्योंकि इस कार्य-शैली से निस्सन्देह आप सर्व-प्रिय रह सकते हैं और सबके साथ मैत्री भी रख सकते हैं परन्तु सुधार कदापि नहीं कर सकते। मेरे इस कथन का समर्थन आपके निजी अनुभव के आधार पर, स्वरचित आत्मकथा में लिखे हुए इन शब्दों से भी होती है।

"किन्तु यथार्थ तो यह है कि जिसका सुधार करना अभीष्ट हो, उसके साथ मैत्री हो ही नहीं सकती। मित्रता में तो ममत्व का ध्यान होता है और ऐसी मित्रता संसार-दुर्लभ ही दिखाई देती है। एक समान गुणवाले मनुष्यों में मैत्री शोभा देती है और ऐसी मैत्री स्थिर रहती है।" (प्रताप, लाहौर, २१ जनवरी सन् १९२६ ई०)"

पाँचवाँ लांछन

(महात्मा जी) यद्यपि वह (स्वामी दयानन्द) स्वयं मूर्ति-भंजक थे तो भी उनके प्रयत्न का फल सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप में मूर्त्ति-पूजा की स्थापना हुआ है; क्योंकि उन्होंने वेद के एक एक अक्षर को ईश्वर-स्वरूप बना दिया है और इस काल के प्रत्येक तथ्य को वेद से सिद्ध करने की चेष्टा की है।

(आर्य) (१) (क) यह मानना भूल है कि ऋषि दयानन्द मूर्त्तिभंजक थे। कोई मनुष्य यह सिद्ध नहीं कर सकता कि ऋषि दयानन्द ने कभी किसी मूर्त्तिमान् पदार्थ की मूर्त्ति को इस हेतु तोड़ा या तोड़ने की प्रेरणा की कि मूर्त्तिवाली वस्तु की मूर्त्ति बनाना या रखना अधर्म है। मूर्त्तिमान् पदार्थ की मूर्त्ति का तोड़ना तो दूर रहा, उलटा उन्होंने तो माता-पिता, आचार्य या गुरु आदि मूर्त्तिमान् महापुरुषों की पूजा या सत्कार करने का भी आदेश किया है, किन्तु उनके शरीरों की जड़मूर्त्तियों को भी उनकी स्मृति के लिए घर में रखने की आज्ञा दी है। यदि यह कहा जाय कि भौतिक मूर्त्तियों को नहीं किन्तु ईश्वर की मूर्त्ति को तोड़नेवाले थे तो यह भी ठीक न होगा क्योंकि ईश्वर अमूर्त्त है और अमूर्त्त की मूर्त्ति ही नहीं हो सकती। जब कि ईश्वर की मूर्त्ति ही नहीं है तो

ऋषि दयानन्द उसके तोड़नेवाले भी नहीं हो सकते। तोड़-फोड़ भाव पदार्थों का ही हो सकता है, अभाव का नहीं।

(ख) वेद के अक्षरों से यदि महात्मा जी का यहाँ पर आशय व्यवहार-सिद्धि के लिए कल्पित शब्दों के दृश्य आकारों से है तब तो यह आक्षेप भी मिथ्या है; क्योंकि ऋषि दयानन्द का कोई ऐसा लेख नहीं है कि जिससे रोशनाई से बने हुए शब्दों के दृश्य आकार नित्य या ईश्वर सिद्ध हो सकें; किन्तु इसके विपरीत ऋषि ने सत्यार्थ-प्रकाश के सातवें समुल्लास में स्पष्ट लिखा है।

"(प्रश्न) वेद नित्य हैं वा अनित्य ? (उत्तर) नित्य हैं; क्योंकि परमेश्वर के नित्य होने से उसके ज्ञान आदि गुण भी नित्य हैं। जो नित्य पदार्थ हैं, उनके गुण-कर्म-स्वभाव भी नित्य और अनित्य द्रव्य के अनित्य होते हैं। (प्रश्न) क्या यह पुस्तक भी नित्य है (उत्तर) नहीं; क्योंकि पुस्तक तो पत्र और मसी का बना है। वह कैसे नित्य हो सकता है ? किन्तु जो शब्दार्थ और सम्बन्ध हैं, वे नित्य हैं।"

इससे स्पष्ट प्रकट है कि ऋषि ने रोशनाई से बने हुए साकार अक्षरों को नित्य नहीं किन्तु अनित्य माना है; इसलिए अनित्य को ईश्वर-स्वरूप बतलाना ऋषि के सिद्धान्त के अत्यन्त विरुद्ध है।

यदि महात्मा जी का अक्षर से अभिप्राय शब्द है तो भी इस आक्षेप का स्थान नहीं है। क्योंकि शब्द को स्वामी जी ने गुण और निराकार माना है और निराकार मूर्त्ति नहीं हो सकती और न ऋषि के किसी लेख ही से शब्द या शब्दार्थ सम्बन्ध रूप

वेद ईश्वर-स्वरूप ही सिद्ध हो सकता है, क्योंकि वह ईश्वर को द्रव्य और शब्द को गुण मानते हैं और द्रव्य व गुण के स्वरूप में बहुत अन्तर है; इसलिए महात्मा जी चाहे कुछ लिखें, परन्तु दार्शनिक दयानन्द शब्द को ईश्वर-स्वरूप कदापि नहीं मानते। इस हेतु जब यह निश्चित बात है कि ऋषि दयानन्द के किसी भी लेख से वेद के शब्द या महात्मा जी के शब्दों में वेद के अक्षर ईश्वर-रूप और मूर्तिमान् सिद्ध नहीं हो सकते तो फिर उनकी मूर्ति की पूजा की स्थापना क्योंकर हो सकती है और यदि आप केवल इस विचार ही से ऋषि दयानन्द को मूर्तिपूजा की स्थापना का स्थापक ठहराते हैं कि उन्होंने शब्दार्थ और सम्बन्ध-रूप वैदिक-ज्ञान को ईश्वर के समान ही सत्य और नित्य माना है तो भी इससे मूर्त्ति-पूजा की सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि यदि अमूर्त्त ईश्वर की पूजा करना मूर्त्ति-पूजा नहीं कहलाती तो अमूर्त्त ईश्वरीय-ज्ञान की पूजा भी मूर्त्ति-पूजा नहीं कहला सकती; ज्ञान को सच्चा और अविनाशी मानना और उसके अनुसार कार्य करना ही उसकी पूजा है। उसकी मूर्त्तिपूजा से कोई तुल्यता नहीं है; क्योंकि आवाहन करना और भोग लगाना इत्यादि मूर्त्ति-पूजा की विधि इससे बिलकुल निराली है, इस हेतु भी उसको मूर्त्ति-पूजा नहीं कह सकते। इसके अतिरिक्त यह भी एक सच्ची घटना है कि ऋषि दयानन्द किसी किसी समय वेदों के पुस्तकों को सर्व-साधारण के सामने अपने घुटने के नीचे इसलिए रख लेते थे कि जिससे

अज्ञानी लोग पुस्तक-पूजकों की भाँति वेद-पुस्तकों ही की पूजा न करने लग जायें; अतः जब कि ऋषि के विचार और व्यवहार से भी साकार वेद-पुस्तकों की पूजा का निषेध होता है तो फिर यह दोषारोपण कैसे सत्य हो सकता है कि ऋषि दयानन्द के प्रयत्नों का फल सूक्ष्मरूप में मूर्त्ति-पूजा की स्थापना हुई है। सम्भव है कि यहाँ पर यह कहा जाय कि इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि ऋषि दयानन्द मूर्त्ति-पूजक नहीं थे; परन्तु चूँकि उन्होंने सीमा से बढ़ी हुई वेद-भक्ति की धुन में अक्षरों के समूह वेदों को यहाँ तक महत्त्व दिया है कि उन्हें ईश्वर ही बना दिया है और लोगों को उनके एक एक अक्षर को सत्य मानकर उनके सामने सिर झुकाने की शिक्षा दी है; अतः इस प्रकार उनके मूर्त्तिमान् अक्षरों में मूर्त्ति-पूजा की अनजान में स्थापना हो गई है। इसका उत्तर पहले भली-भाँति दिया जा चुका है। केवल इतना और निवेदन करता हूँ कि ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध में यह विचार करना ऋषि के सम्बन्ध में अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है; क्योंकि ऋषि दयानन्द केवल भक्त ही नहीं थे; किन्तु तार्किक भी थे और महात्मा जी की भाँति वह अनिश्चित सिद्धान्त के भी नहीं थे; किन्तु उनके सिद्धान्त बिलकुल निश्चित थे; अतः उनसे इस प्रकार की भूल को सम्बद्ध करना बिलकुल मिथ्या है कि उनसे एक सिद्धान्त को सिद्ध करते करते, उनके निजी माने हुए दूसरे सिद्धान्त का खंडन हो गया है अथवा न माने हुए मन्तव्य का मंडन हो गया है।

(२) आक्षेप का दूसरा अंश है कि स्वामी दयानन्द ने इस काल के विज्ञान अर्थात् साइन्स के प्रत्येक अन्वेषण को वेदों में से सिद्ध करने की चेष्टा की है।

इस आक्षेप का कुछ महत्व उसी दशा में हो सकता था कि जिसमें आक्षेपकर्त्ता महात्मा ऋषि दयानन्द के वेद मंत्रों के साइन्स सम्बन्धी अर्थों को मिथ्या सिद्ध करके दिखलाते; परन्तु सच तो यह है कि आपकी संस्कृतज्ञता की योग्यता से यह बाहर है कि आप साक्षात् वेदार्थ को जान सकें और ऋषि दयानन्द कृत वेदार्थ पर समालोचना कर सकें; अत: वेद-मंत्रों के यथार्थ अर्थ जानने में असमर्थ होते हुए भी वेदों के अद्वितीय विद्वान्, वेदार्थ में परम प्रामाणिक ऋषि दयानन्द पर आपका यह लांछन लगाना अनधिकार चेष्टा है। इस हेतु इस पर अधिक न लिखते हुए केवल एक लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् अरविन्द घोष जी की सम्मति उपस्थित की जाती है:—

"दयानन्द के इस विचार में कोई धार्मिक उन्मत्तता नहीं है कि वेदों में धर्म-सम्बन्धी सच्ची बातों के अतिरिक्त साइन्स की सच्ची बातें भी विद्यमान हैं। मैं तो यह भी कहूँगा कि मुझे विश्वास है कि वेदों में साइन्स की अन्य ऐसी सचाइयाँ भी मौजूद हैं, जो वर्त्तमान संसार को ज्ञात भी नहीं है। इस हेतु दयानन्द ने वेदों की गंभीरता और विस्तार के सम्बन्ध में कोई अत्युक्ति नहीं की।" (मासिक-पत्र "आर्य"—दयानन्द और वेद पृष्ठ ६)

आर्यसमाज-सम्बन्धी

महात्मा जी के लेखों का प्रभाव

महात्मा जी ने ऋषि दयानन्द और आर्य-समाज पर जो दोष लगाये थे, उन सब आक्षेपों का जो मूल हेतु था, वह तो पाठकों पर भली भाँति प्रकट किया जा चुका है। अब आपके आर्य-समाज-सम्बन्धी लेखों का प्रभाव और परिणाम भी अवलोकन कीजिये; क्योंकि किसी लेख के अच्छा या बुरा होने का ठीक निर्णय उसके प्रभाव और परिणाम के जानने पर अधिक ही उत्तमता से किया जा सकता है।

(१) महात्मा जी ने अपने २९ मई सन् १९२४ ई० की प्रसिद्ध घोषणा में आर्य-समाज के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा था, उसका एक भाग तो वह था जिसकी पड़ताल पहले की गई है और जिसका अवलोकन पाठक-वर्ग भली भाँति कर चुके हैं। उसका दूसरा भाग आर्य-समाज के प्रसिद्ध और पूज्य संन्यासी श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में था; जिसमें आपने श्री स्वामी जी को "वीर और हिन्दू-मुस्लिम-एकता का इच्छुक लिखते हुए यह भी लिखा था कि स्वामी जी के भाषण प्रायः चुभनेवाले होते हैं और वह हर एक मुसलमान को आर्य बनाने की संभावना पर विश्वास रखते हैं। आपमें उतावलापन है और आप सुगमता से व्यथित हो जाते हैं। अन्य आर्य-समाजियों की

भाँति इनमें भी संकुचित दृष्टि और लड़ने-झगड़ने का भाव पर्याप्त मात्रा में मौजूद है।"

चूँकि यह लेख "हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य और उसके कारण और उनकी चिकित्सा" के प्रकरण के नीचे लिखा गया था, इस हेतु भी और महात्मा जी जैसे सहृदय, अहिंसा के पालनकर्त्ता का लेख होने के कारण भी इसका प्रभाव और परिणाम तो यह होना चाहिए था कि वह उस समय के उपद्रवों की चिकित्सा बनकर सुख और शान्ति स्थापित करता, परन्तु चूँकि यह लेख अयुक्त व राजनीति के विरुद्ध और बेमौके लिखा गया था, क्योंकि उस समय खिलाफ़त कमेटियों के संगठन और कांग्रेस व कुछ सरकारी अधिकारियों के पक्षपात व अनुचित सहायता के कारण मुसलमानों का साहस बढ़ा हुआ था, जिसके कारण कई स्थानों पर दंगे भी हो चुके थे, हिन्दू भी पिटकर अब बाध्य होकर अपने डिफेन्स (रक्षा) और सामना करने के लिए तैयार हो गये थे, इसलिए हुआ क्या? यह कि जिसका महात्मा जी को अनुमान और स्वप्न भी नहीं था, अर्थात् महात्मा जी की इच्छा और आशा के बिलकुल विरुद्ध, न तो यह लेख उपद्रव-रोग की चिकित्सा ही सिद्ध हुआ और न तो उपद्रवों के रोकने में उससे कुछ सहायता ही मिली, किन्तु उस लेख से रोग बढ़ गया अथवा वह लेख रोग को बढ़ानेवाला विष सिद्ध हुआ। उसने हिन्दू-मुसलमानों के विरोध को और भी बढ़ा दिया। घोषणा में क्रमशः की हुई आर्यों और उनके प्रवर्त्तक, कार्यों व सिद्धान्तों की अनुचित

निन्दा और इस्लाम की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा से विशेषकर आर्य-समाजियों और साधारणतया हिन्दुओं में बड़ी अशान्ति फैली। आपका लेख आर्यसमाज के विरुद्ध हथियार बन गया। मुसलमानों की तबलीग़ों, अंजुमनों (इस्लाम-प्रचारिणी सभाओं) ने उसको लेकर आर्यसमाज पर खुलकर आक्रमण करना आरंभ कर दिया, जिनसे श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के विरुद्ध भी मज़हबी दीवाने मुसलमानों का उत्साह और क्रोध बहुत बढ़ गया। उन्हें उनकी ओर से मार डालने की निरन्तर धमकियां मिलने लगीं। यहाँ तक कि आप एक मज़हबी दीवाने अब्दुल रशीद नामक मुसलमान के हाथ से शहीद किये गये। इस कथन से मेरा यह आशय कदापि नहीं है कि महात्मा जी के इस लेख का कोई सीधा सम्बन्ध श्रीस्वामी जी के वध से था, क्योंकि ऐसा कहना या मानना सत्य की हत्या करना है और महात्मा जी के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में इस प्रकार का अनुमान करना भी परले सिरे की मूर्खता है। तथापि मेरा और मेरे अन्य अनेक आर्य भाइयों का ईमानदारी से यह विश्वास है कि किसी अंश तक यह लेख भी श्री स्वामी जी के वध किये जाने का इस हेतु उत्तरदायी है कि उससे आर्यों के विरुद्ध विशेष रीति पर आक्रमण आरंभ करने में मुसलमानों को बहुत प्रोत्साहन मिला और मज़हबी दीवानों के पक्षपात-पूर्ण भाव श्री स्वामी श्रद्धानन्द के विरुद्ध भड़क उठे।

(२) आपका दूसरा लेख एक अहमदी के आर्यसमाज के प्रवर्त्तक की निन्दा में लिखे हुए "उन्नीसवीं शताब्दी का महर्षि"

नामक ट्रैक्ट के उत्तर में महाशय राजपाल द्वारा प्रकाशित "रङ्गीला रसूल" नामक ट्रैक्ट की समालोचना है। मुझे यहाँ पर उस समालोचना की समालोचना करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि मुझे तो यहाँ पर केवल उस समालोचना के प्रभाव या परिणाम को ही दिखलाना है। रङ्गीला रसूल नामक ट्रैक्ट के सम्बन्ध में महात्मा जी की समालोचना करने के पूर्व मुसलमानों ने सामूहिक रूप से उसका कोई नोटिस नहीं लिया था, अप्रसन्नता प्रकट नहीं की गई थी, न आन्दोलन किया गया था परन्तु महात्मा जी की समालोचना के बाद अहमदियों, खिलाफ़तियों और अन्य मुल्लाओं ने इस ट्रैक्ट के नाम पर शान्ति में ऐसी आग लगाई कि न केवल हिन्दुस्तान, अपितु हिन्दुस्तान के बाहर और सीमा-प्रान्त के इस्लामी संसार में भी इसकी ज्वालाएँ प्रज्वलित हो गईं। आर्यसमाज और हिन्दुओं के प्रति मुसलमानों के क्रोध और उत्तेजना की कोई सीमा न रही। ट्रैक्ट को प्रकाशित करनेवाले और आर्यों को मार डालने के लिए स्पष्ट भाषण दिये गये। मुस्लिम समाचार पत्रों में भी मुसलमानों को इसके निमित्त बड़ी उत्तेजना दिलाई गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि मज़हबी दीवाने मुसलमानों की ओर से महाशय राजपाल और आर्य-समाज के पूज्य संन्यासी श्री स्वामी सत्यानन्द जी महाराज व कई दूसरे आर्यसमाजी व हिन्दू भाइयों पर घातक आक्रमण करके उन्हें (सख़्त ज़ख़्मी) घायल किया गया। यहाँ तक कि रङ्गीला रसूल को प्रकाशित करनेवाले महाशय राजपाल को अभियोग से मुक्त करनेवाले, पञ्जाब हाईकोर्ट के ईसाई जज

आनरेबुल मिस्टर दलीपसिंह के विरुद्ध भी इतनी अनर्थक चिल्ल-पों मचाई गई कि गवर्नमेंट को उनकी प्राण-रक्षा का प्रबन्ध करना पड़ा। सीमा-प्रान्त के बिलकुल अनभिज्ञ, असम्बद्ध और निरपराध हिन्दुओं को भी वहाँ के उत्तेजित मुसलमानों ने देश-निर्वासन कर दिया। बहुतेरे हिन्दुओं की सम्पत्तियाँ भी लूट ली गईं और वे बेचारे बहुत दिनों तक पेशावर आदि स्थानों में स्त्री व पुत्रों के सहित कष्ट व अपमान सहते रहे। अन्त में एक उन्मत्त व भ्रान्त मुसलमान युवक इल्मदीन ने दूसरी बार आक्रमण करके महाशय राजपाल का वध कर डाला। चूँकि इन करुणोत्पादक और रक्त-पूर्ण घटनाओं का विस्तृत वर्णन तो इतिहास लिखनेवाले लिखेंगे, इसलिए इसके सम्बन्ध में यहाँ पर अधिक न लिखकर पाठकों से यही निवेदन करूँगा कि वे इस बात का स्वयं निर्णय कर लें कि महात्मा जी के ये लेख धर्म, देश और जाति के लिए कहाँ तक लाभ-प्रद और कहाँ तक हानिप्रद सिद्ध हुए।

क्या ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज

हिन्दू व अहिन्दू एकता के बाधक हैं ?

कुछ पक्षपाती मतवादी और अनेक अनभिज्ञ राजनीतिक भाई आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक और सत्यार्थ-प्रकाश पर यह दोष लगाते हैं कि वे हिन्दू-अहिन्दू एकता के अवरोधक हैं। मतवादियों और कुछ पक्षपाती मुसलमानों के इस कलंकारोपण का हेतु तो समझ में आ सकता है और वह यह कि वे आर्यसमाज की धार्मिक और सामाजिक सुधार की तत्परताओं से भयभीत हैं। सत्यार्थ-प्रकाश और आर्यसमाज की विद्यमानता में वे न तो अपनी मज़हबी सचाई और जातीय गौरव की अनुचित डींग मार सकते हैं और न अब हिन्दू-जाति के बच्चों को ही सुगमता से इस प्रकार हज़म करके अपनी संख्या ही बढ़ा सकते हैं कि जिस प्रकार वे शताब्दियों से बढ़ाते चले आये हैं। वे तो चाहते हैं कि सरकार को बहका कर, कांग्रेस को उकसा कर, मज़हवी दीवानों से दंगा करा कर, जिस प्रकार भी हो सके, सत्यार्थ-प्रकाश और आर्यसमाज को मिटा दें और मनमानी करते रहें या मज़हब के नाम पर जो कुछ चाहें करें, इस हेतु उन पक्षपाती स्वार्थियों के कोलाहल का कोई मूल्य नहीं हो सकता। हाँ, राजनीतिक भाइयों को भ्रान्ति का दूर करना आवश्यक प्रतीत होता है;

अतः मैं उन भाइयों की सेवा में निवेदन करूँगा कि क्या कभी वे इस बात का विश्वास कर सकते हैं कि वर्त्तमान समय में जिस महापुरुष ने सबसे पहले स्वराज्य और स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग का उपदेश किया हो, जिसने कैसरी दरबार में प्रसिद्ध ईसाई पादरियों और मुसलमान लीडरों आदि को इस हेतु निमंत्रित किया हो कि आओ मजहबों के सुधार और भारतवर्ष के हित व उन्नति के निमित्त मिलकर विचारें व कार्य करें, जिसने मत-मतान्तरों के सुधारार्थ हिन्दू व अहिन्दू सम्प्रदायों में कोई भेद न रक्खा हो और सबसे समान व्यवहार किया हो, जिसने अपना कोई नया मत या मजहब भी स्थापित न किया हो, जिसका सम्पूर्ण जीवन स्वार्थ-रहित और परोपकार में व्यय हुआ हो और जिसने अन्त में अपना प्राण भी इसी निमित्त दिया हो; किन्तु जिसने अपने स्थापित किये हुए आर्यसमाज का महान् उद्देश्य भी यह रक्खा हो कि "संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है," जिसके स्थापित किये हुए आर्यसमाज के बच्चे-बच्चे के हृदय में धर्म, देश और जातीय उन्नति की लगन हो, क्या वह ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज अपने उपर्युक्त उद्देश्य के अत्यन्त लाभदायक साधन हिन्दू और अहिन्दू-एकता को कभी भूल सकता है? यह कब संभव है कि वह उसका विरोधी हो। यदि कोई मनुष्य उन पर एकता के बाधक होने का दोष लगाता है तो मैं कहूँगा कि यह उसकी भूल या अज्ञता है और वह ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज को नहीं जानता; क्योंकि यह एक खुली हुई सचाई है कि ऋषि दयानन्द के जीवन

का उद्देश्य ही संसार को मजहबी भ्रम-जालों, पक्षपातों और साम्प्रदायिक झगड़ों से छुड़ाकर धर्मात्मा और सुखी बनाना था। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसने 'आर्यसमाज' की स्थापना की। इसी के निमित्त उसने स्वयं आजन्म कार्य किया। यदि यह बात आपको विदित नहीं है तो लीजिये मैं ऋषि ही के शब्दों को आपके सामने रख देता हूँ।

"और जो मत मतान्तरों के परस्पर झगड़े हैं; उनको मैं पसन्द नहीं करता; क्योंकि इन्हीं मतवादियों ने अपने मतों का प्रचार कर, मनुष्यों को फँसा के परस्पर शत्रु बना दिये हैं। इस बात को काटकर सर्वसत्य का प्रचार कर सबको एकमत करा, द्वेष छुड़ा, परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त कराके सबसे सबको सुख लाभ पहुँचाने के लिए मेरा यत्न और अभिप्राय है।" (सत्यार्थप्रकाश के अन्त में)

"क्योंकि एक मनुष्य जाति को बहकाकर, विरोध-बुद्धि कराके एक दूसरे को शत्रु बनाकर लड़ा मारना विद्वानों के भाव से बाहर है"। (सत्यार्थप्रकाश)

क्या इस लेख के लिखनेवाले के सम्बन्ध में कि जिसका विचार और आचार एक समान रहा हो, कोई मनुष्य यह कह सकता है कि वह एकता का पक्षपाती नहीं था, अथवा वह मतमतान्तरों या विभिन्न सम्प्रदायों को आपस में लड़ाना चाहता था। हाँ, यह बात अवश्य है कि उसका "एकता का साधन" राजनीतिक लीडरों के साधन से भिन्न था और ऐसा होना अनिवार्य भी था, क्योंकि

दोनों की स्थिति और कार्य-क्षेत्र में अन्तर था। इस पर भी आक्षेप किया जा सकता है कि "इस लेख में प्रकट किया हुआ अभिप्राय तो निस्सन्देह अति उच्च है, परन्तु स्वामी जी और आर्यसमाज का जो मत-मतान्तरों या मज़हबों का खण्डन है, वह आपके इस अभिप्राय का विरोधी है।" तो मैं इसके उत्तर में भी ऋषि दयानन्द ही के निम्न-लिखित वाक्यों को सामने रक्खूँगा।

"जो जो इसमें सत्यमत का मण्डन और असत्य का खण्डन लिखा है, वह सबको जताना ही प्रयोजन समझा गया है। इस मेरे कर्म से यदि उपकार न मानें तो विरोध भी न करें। क्योंकि मेरा तात्पर्य किसी की हानि या विरोध करने में नहीं है, किन्तु सत्यासत्य के निर्णय करने-कराने का है।" (सत्यार्थ-प्रकाश ग्यारहवें समुल्लास की अनुभूमिका)

"यह लेख केवल सत्य की वृद्धि और असत्य के ह्रास होने के लिए है, न कि किसी को दुःख देने व हानि करने अथवा मिथ्या दोष लगाने के लिए।" (सत्यार्थ-प्रकाश तेरहवें समुल्लास की अनुभूमिका)

यह लेख केवल मनुष्यों की उन्नति और सत्यासत्य के निर्णय करने के लिए लिए सब मतों के विषयों का थोड़ा थोड़ा ज्ञान होवे, इससे मनुष्यों को परस्पर विचार करने का समय मिले और एक दूसरे के दोषों का खण्डन कर गुणों का ग्रहण करें। न किसी अन्य मत पर न इस मत पर झूठ-मूठ बुराई-भलाई लगाने का प्रयोजन है.........क्योंकि यह लेख हठ, दुराग्रह, ईर्ष्या, द्वेष, वादविवाद

और विरोध घटाने के लिए किया गया है, न कि उनको बढ़ाने के अर्थ।" (सत्यार्थ-प्रकाश चौदहवें समुल्लास की अनुभूमिका)

ऋषि के ये लेख स्पष्ट बतला रहे हैं कि ऋषि ने मज़हबों का खण्डन भी उसी लोक-हित के पवित्र उद्देश्य को पूरा करने के लिए ही किया है कि जिसका वर्णन ऊपर किया गया है।

परन्तु इस पर भी आक्षेप-कर्त्ता कह सकता है कि यह मान लेने पर भी कि ऋषि दयानन्द मत-मतान्तरों या मज़हबों के दोषों का खण्डन करके उनके पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष को मिटाकर उनमें एकता कराना चाहते थे; परन्तु उनका और आर्यसमाज का कठोरता से मज़हबों के दोषों का खण्डन करना, उनके ईर्ष्या-द्वेष के मिटाने और एकता कराने का उपयुक्त साधन नहीं है; क्योंकि अपने दोषों के खण्डन से भी मतवादी उत्तेजित होकर उपद्रव मचाने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं; अतः मज़हबी एकता के लिए वही दो साधन अधिक उपयुक्त और प्रभावशाली हो सकते हैं, जो कि काशी के दैनिक समाचार-पत्र 'आज' में छपे हुए देश के प्रसिद्ध 'नेता महात्मा गान्धी जी और दार्शनिक बाबू भगवानदास जी के परस्पर निम्न-लिखित वार्त्तालाप में लिखे गये हैं—

बाबू जी—अब दूसरे प्रश्न पर आता हूँ। क्या विभिन्न मज़हबों की एकता उस समय तक हो सकती है, जब तक कि उन लोगों को यह न समझाया जाय कि सब मज़हबों का मूलाधार एक है। इसका अभिप्राय यह है कि क्या मज़हबों की यथार्थ एकता सिद्ध किये बिना, उनकी एकता हो सकती है ?

महात्मा जी—नहीं।

बाबू जी—जिस अवस्था में भिन्न भिन्न मजहबवालों को समझाया जाय कि सब धर्मों का हृदय एक है, उस अवस्था में उनकी एकता होगी।

महात्मा जी—हाँ!

बाबू जी—इसके निमित्त कौन सा प्रयत्न करना चाहिए?

महात्मा जी—सब मजहबों के जो अच्छे और सच्चे धर्म पर चलनेवाले लोग हैं, उनको इस बात का विचार करना चाहिए।

बाबू जी—आपने इसके सम्बन्ध में कोई विशेष प्रयत्न किया?

महात्मा जी—वैयक्तिक रूप से मैंने काफी प्रयत्न किया है, जो आज तक जारी है। इस प्रकार के प्रचार के लिए हिन्दुस्तान में बहुत कम लोग मिल सकते हैं, जो सब मज़हबों के दोषों की उपेक्षा करते हुए उनके गुणों को एकत्र करके लोगों के सामने रक्खें।

बाबू जी—तो क्या आप जैसे प्रभावशाली नेता यह प्रयत्न करना उचित नहीं समझते कि भारतवर्ष में जो धर्म प्रचलित हैं, उनके कुछ निर्वाचित उदार और उच्च विचार के प्रतिनिधि एकत्र होकर एक कमेटी बनावें, जो भाषण, लेख और कार्यशैली से उस एकता का प्रचार करें।

महात्मा जी—अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार मैंने कार्य किया है, परन्तु विद्वानों को एकत्र करके ऐसी प्रयत्न कराने की मुझमें योग्यता नहीं है। इस हेतु अपने ही वैयक्तिक प्रयत्न से मुझे सन्तोष है। (२३ फ़रवरी सन् १६२७ ई० प्रताप, लाहौर—"आज" से उद्धृत")।

इस आक्षेप के आरम्भिक अंश अर्थात् ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के मज़हबों के दोषों के खण्डन की कठोरता का उत्तर तो "आर्यसमाज पर आक्षेपों का कारण" शीर्षक लेख के नीचे महात्मा जी के लेख के प्रमाण ही से प्रस्तुत पुस्तक के प्रारम्भ में भली भाँति दिया जा चुका है। पाठकों को वहीं देखना चाहिए। शेष रहा मज़हबों के दोषों के खंडन से उनके माननेवालों का उत्तेजित होकर उपद्रव के लिए तैयार हो जाना, सो इसमें ऋषि दयानन्द और आर्यसमाजियों का क्या अपराध? अपराध तो उनकी निजी मज़हबी दूषित शिक्षा और अन्ध-विश्वास का है, जिससे उन्हें सच्ची बातों का सुनना भी सह्य नहीं हो सकता। वास्तव में देखना तो यह चाहिए था कि मज़हबों के दोषों का खंडन और उनके सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की की हुई समालोचना ठीक और उचित है या नहीं। यदि उसके ठीक व उचित होने में किसी को सन्देह हो तब तो आर्यसमाज उसको दूर करने के लिए हर समय तैयार है और यदि वह ठीक व उचित है तो अपराधी को न धिक्कार कर निर-

पराध सुधारक पर कलंक लगाना कहाँ का न्याय है। यदि मूर्ख और पक्षपाती लोगों की उत्तेजना से डरकर सुधारक सच्ची और उचित समालोचना को भी त्याग दें तो संसार में सुधार का होना ही असंभव हो जाय।

आक्षेपकर्त्ता महाशय ने उल्लिखित महात्मा जी और बाबू भगवानदास जी के वार्त्तालाप में मजहबी एकता के जिन दो साधनों की चर्चा की है, वे यह हैं—"(१) मजहबों की यथार्थ एकता के लिए सब मजहबों के मौलिक सिद्धान्तों की एकता लोगों को समझाना। (२) सब मजहबों के दोषों से उपेक्षा करके उनके गुणों का प्रचार करना।"

हमारा उत्तर इनके सम्बन्ध में यह है कि प्रथम साधन का उपयोग ऋषि दयानन्द और उसके बाद आर्यसमाज ने बराबर किया है; किन्तु वर्त्तमान काल में धर्म के मौलिक सिद्धान्तों का प्रचार ऋषि दयानन्द से बढ़कर किसी ने भी नहीं किया। आर्यसमाज भी उनके पद-चिह्नों पर बराबर चलता रहा। श्री पं० गंगाप्रसाद जी एम० ए० ने "धर्म का आदि स्रोत" (Fountain Head of Religion) नामक पुस्तक इसी अभिप्राय से लिखा है। श्री मास्टर लक्ष्मण जी आर्योपदेशक ने भी महान् शहीद श्री पं० लेखराम जी रचित ऋषि दयानन्द के जीवन-चरित्र की भूमिका में इस विषय को बड़े विस्तार से लिखा है। दूसरा साधन मजहबों की बुरी बातों से उपेक्षा करके उनके गुणों को वर्णन करना है। यह साधन केवल राजनीतिक नेताओं के प्रयोग का हो सकता है,

सुधारकों के उपयोग का नहीं, क्योंकि राजनीतिक नेता स्वराज्य और सुधारक सुधार चाहते हैं। राजनीतिक नेताओं को तो प्रत्येक भले बुरे देशवासी को अपने साथ रखकर स्वराज्य के निमित्त प्रयत्न करना पड़ता है। उनको इस बात की अधिक चिन्ता नहीं रहती कि झूठा है या सच्चा, दुराचारी है या सदाचारी। वह तो अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए 'समय की आवश्यकता' बतलाकर झूठ और सच, शुद्ध और अशुद्ध, उचित और अनुचित के बीच भी समझौता कराते हैं; क्योंकि उन्हें सबको अपने साथ और प्रसन्न रखने की आवश्यकता है। इस हेतु उन्हें उन लोगों के सम्पूर्ण कुकृत्यों से भी उपेक्षा करनी पड़ती है। महात्मा जी का बाजारी स्त्रियों (वारांगनाओं) को भी कांग्रेस का मेम्बर बनने की स्वीकृति दे देना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यही कारण है कि राज-नीतिक नेताओं को सुधारकों की उचित समालोचना, दोषों और असत्य का खंडन और अधर्म व पाप के साथ समझौता न करना भी एकता के विरुद्ध प्रतीत होता है, यद्यपि वे स्वयं गवर्नमेण्ट की समालोचना सदैव करते रहते हैं; परन्तु सुधारक ऐसा कदापि नहीं कर सकते। वास्तव में आक्षेपकर्त्ता भाई अपने स्वार्थ की धुन में इस बात को भूल जाते हैं कि जो जिस प्रकार के कार्य-क्षेत्र में होता है, वह एकता के निमित्त भी उसके अनुकूल साधनों का ही प्रयोग करता है। यही कारण है कि ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज ने जहाँ मत-मतान्तरों के गुणों को सच्चे धर्म का अंश समझकर स्वीकार किया है, जैसा कि ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश

की भूमिका में लिखा है कि 'जैसे मैं पुराणों, जैनग्रन्थों, बाइबिल और क़ुरान के गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग करता हूँ वैसे ही सबको करना चाहिए' वहाँ उनकी सचाई के विरुद्ध झूठी बातों और विरोध उत्पन्न करनेवाले दोषों का खंडन भी किया है; क्योंकि ऋषि इस बात से भली भाँति अभिज्ञ थे कि वास्तव में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष के बढ़ानेवाले उनके धर्म-विरोधी साम्प्रदायिक मिथ्या-विचार और आचार-रूपी दोष हैं, न कि उनके गुण। जब तक वे दोष या अवगुण दूर न होंगे तब तक न तो उनका सुधार होगा और न तो उनमें एकता होगी; क्योंकि रोग का मूल कारण बने रहने से आरोग्यता कदापि नहीं हो सकती। मज़हबों के केवल गुण वर्णन करने को, उपद्रव के मूल हेतु उनके वैमनस्य को बढ़ानेवाले दोषों की चिकित्सा बतलाना वैसी ही भूल है, जैसे कि कोई डाक्टर रोगी के रोने-चिल्लाने के भय से उसके फोड़े के मवाद को तो नहीं निकालता और केवल रोगी की विद्या, शूरता और सुन्दरता आदि गुणों को वर्णन करके उसे नीरोग करना चाहता है। वास्तव में यह एक दोषयुक्त और अहितकर उपाय है; क्योंकि उनके उस आन्तरिक दोष को, जो उनमें धर्म अर्थात् सत्यता, न्याय, शान्ति और समानता इत्यादि के विरुद्ध है और एक को दूसरे के प्रतिकूल उत्तेजित करता है, जब तक यह दूर न हो, केवल गुणों के वर्णन करने से एकता की आशा करना वृथा है। मजहबी एकता तो उसी दशा में संभव हो सकती है, जब कि मजहबों के एक दूसरे के विरुद्ध

ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न करनेवाले बुरे विचारों और आचारों का सुधार कर दिया जायगा।

इसमें सन्देह नहीं है कि इसमें अधिक विलम्ब लगेगा और इससे मज़हबों के अल्पज्ञ-वर्ग में कुछ व्याकुलता फैलेगी; परन्तु यह निश्चित है कि इसका परिणाम सुधार और एकता अवश्य होगी। मैं बड़ी नम्रता से यह भी निवेदन करूँगा कि मज़हबों के दोषों की उपेक्षा करना और केवल उनके गुणों ही को प्रकट करना मानो दोषों और अज्ञान का समर्थन करना या उन पर परदा डालना है। इससे दोष और अज्ञता बराबर बनी रहती है कि जिनके मूलोच्छेदन की इच्छा प्रत्येक सज्जन करता है और जिनको दूर करने के निमित्त सुधारक अपने प्राणों को भी बलिदान करते रहे हैं। धर्म के विचार से भी मज़हबी दोषों की उपेक्षा करना पाप का छिपाना और सुननेवालों को धोखा देना या उनका अनुचित पथ-प्रदर्शन करना है। इससे यह भी परिणाम निकलना संभव है कि किसी मज़हब के दोषों से अपरिचित मनुष्य उसके गुणों को सुनकर अपने अच्छे धर्म को त्यागकर उस मज़हब को ग्रहण कर ले। इस हेतु ऐसा करना उनको भ्रम में डालना होगा। मेरी ऊपर की बात न केवल तर्कशास्त्र की युक्तियों से ठीक सिद्ध होती है; किन्तु महापुरुषों और सभा-सोसायटियों के अनुभवों से भी इसका समर्थन होता है। फलतः एक ओर तो महात्मा बुद्ध, हज़रत ईसा, हज़रत मुहम्मद, गुरु नानक और ऋषि दयानन्द आदि सुधारक हैं कि जिन्होंने अपने अपने काल के मत-मतान्तरों व समाज-सुधार के

लिए उनके अज्ञान और दोषों का खंडन किया है, जिसे अब भी उनसे सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकों में से दिखलाया जा सकता है, और दूसरी ओर ब्रह्मसमाज और थियोसोफिकल सोसाइटियाँ हैं, जिन्होंने केवल मत-मतान्तरों के गुणों ही को स्वीकार किया है। पाठकवृन्द उनके कार्यों के परिणाम से स्वयं अनुमान कर सकते हैं कि सफलता किसके साथ रही है। दूर जाने की जरूरत नहीं स्वयं महात्मा जी ने सदैव मजहबों के गुणों ही का वर्णन किया, परन्तु आप उनमें एकता न करा सके और निराश होकर पीछे हट गये। कांग्रेस ने भी इसी एकता के निमित्त मजहबी आधार पर बने हुए समूहों की प्रसन्नता के लिए समय की आवश्यकता को समझकर साम्प्रदायिक रिआयतें और शुद्ध मजहबी या साम्प्रदायिक सिद्धान्त खिलाफ़त को अपनाया। संगठित राष्ट्रीयता को विनष्ट करनेवाली साम्प्रदायिकता को जीवित रखनेवाले "अल्लाह-अकबर और सत् श्री अकाल" का उच्चस्वर से घोष किया गया। राष्ट्रीय झंडों में सम्प्रदायों को प्रकट करनेवाले लाल, हरा और सफेद रंगों को रखकर साम्प्रदायिकता की पूजा की। एकता-सम्मेलन करके, कुछ लेकर और कुछ देकर व्यापारिक नियम और पुरानी रीतियों के आधार पर एकता कराना चाहा। परन्तु इसका भी परिणाम असफलता और लज्जा के सिवाय कुछ न निकला। क्या इतना प्रयत्न करने और सफलता न होने के पश्चात् भी किसी को इस बात में कुछ सन्देह हो सकता है कि मजहबी एकता कराने की यह रीति ठीक नहीं है। एक बात और है कि

राजनीतिक नेता जब कि स्वयं गवर्नमेंट को अपने अनुकूल बनाने के लिए उसके गुणों का वर्णन नहीं करते; किन्तु उसकी भूलों और दोषों ही को उसके सामने रखकर उनको दूर करने का प्रयत्न करते हैं तो फिर मतवादियों को अपने अनुकूल बनाने और सीधे मार्ग पर लाने के लिए वे अपने इस अनुभव और नैतिक अनुष्ठान के प्रतिकूल क्यों कहते हैं और धार्मिक क्षेत्र में उन्हीं के समान कार्य करनेवाले सुधारकों पर क्यों दोषारोपण करते हैं ? महात्मा जी ने उपर्युक्त वार्त्तालाप में ऐसे प्रचारकों की कमी बतलाई है, जो मजहबों के दोषों की उपेक्षा करके और गुणों का वर्णन करके उनमें परस्पर एकता करायें। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे उदार प्रचारक नहीं मिलते, जो अन्य मजहबों के दोषों की उपेक्षा करके उनके गुणों को लोगों के सामने रक्खें; परन्तु ऐसे प्रचारकों की कमी नहीं है, जो अपने मजहब के दोषों की उपेक्षा करके गुणों को जनता के सामने रक्खें; किन्तु ऐसा तो अब भी सब मजहबों के प्रचारक कर रहे हैं। यही नहीं किन्तु भिन्न मत के प्रचारक भी कभी कभी अन्य मत के किसी विशेष गुण को अपने मजहबवालों के सामने इस-लिए रखते हैं कि जिससे वे भी उन गुणों को धारण करें। इस हेतु यदि गुणों को वर्णन करने से एकता संभव होती तो मजहबों में कभी वैमनस्य ही न होता। एक और बड़ी भारी कठिनता यह है कि हर एक मत के अन्ध-विश्वासों और प्रचारकों ने अपने मत के सर्वसाधारण अनुयायियों की मनोवृत्ति ऐसी बना दी है कि उनको अन्य मत के गुण भी दोष और अपने मत के दोष भी गुण

प्रतीत होते हैं। इसकी चिकित्सा क्या होगी? इस हेतु मैं तो निवेदन करूँगा कि यदि ऐसे उदार प्रचारक मिल भी जायँ जो अन्य मज़हबों के दोषों की उपेक्षा करके केवल उनके गुणों ही को दूसरों के सामने रक्खें तो भी इससे मज़हबों की एकता न होगी। हाँ, ऐसे प्रचारकों का प्रत्येक मज़हब से ऐक्य बना रहेगा। मेरी सम्मति में मज़हबों की एकता के लिए मज़हबों के दोषों की उपेक्षा करके उनके गुण कथन करनेवाले प्रचारकों की अपेक्षा तो यह उत्तम होगा कि ऐसे सत्यपरायण और उदार प्रचारक उत्पन्न किए जायँ जो अपने अपने मज़हबों के दोषों को स्वयं स्वीकार करके उनको मज़हबवालों के सामने रखकर उदार प्रकारक दूर करने का प्रयत्न करें और अपने मतवादियों का सत्यता, न्याय और सहिष्णुता आदि धार्मिक गुणों की शिक्षा दें। इससे यह लाभ होगा कि एक भिन्न मज़हबवाले प्रचारक की समालोचना से जितनी व्याकुलता व अशान्ति फैलती है, उतनी नहीं फैलेगी और दोष भी दूर होंगे। दोष दूर होने से एकता भी होगी, क्योंकि वैमनस्य का असली हेतु मज़हबों के दोष हैं न कि अन्य मज़हबों के गुणों की अनभिज्ञता। ऋषि दयानन्द ने इस योजना को व्यवहार में लाने के निमित्त दिल्ली के सन् १८७७ ई० के कैसरी दरबार के अवसर पर सर सैयद अहमद ख़ाँ इत्यादि सब मज़हबों के प्रमुख व्यक्तियों को निमंत्रण देकर बुलाया था; परन्तु उनके सहयोग न करने से आप अकेले ही इसके निमित्त आजन्म कार्य करते रहे। मैं आक्षेप करनेवाले सज्जनों से यह भी निवेदन करूँगा कि वास्तव में उन्होंने

ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के मत-मतान्तरों या मज़हबों के सम्बन्ध में कार्य के यथार्थ अभिप्राय को जानने के लिए ध्यान ही नहीं दिया, केवल वाह्य-दृष्टि से ही उन्होंने उनके काम को देखा है। यदि वह उनकी मौलिक नीतिज्ञता पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करेंगे तो उन्हें ज्ञात होगा कि जिस भाँति मज़हबों के भ्रमजालों से मुक्त राजनीतिक नेता ईसाई और मुसलमान आदि मत-मतान्तरों के आपस के ऐतिहासिक रक्तपात और उनके वर्त्तमान संघर्ष को देखकर उन्हें राष्ट्रीयता या राष्ट्रीय एकता के लिए भयानक समझते हैं और यथासम्भव उनको निवल व अहानिकर बनाने अथवा मज़हब को राजनीति से पृथक् करने या उससे निम्न-श्रेणी में लाने की इच्छा और चेष्टा करते हैं, उसी भाँति ऋषि दयानन्द ने भी मत-मतान्तरों की सचाई, न्याय और पारस्परिक सहिष्णुता इत्यादि धार्मिक गुणों के विरुद्ध विश्वासों और कार्यों को निकालकर उन्हें अहानिकर बनाने की शुभ कामना ही से कार्य किया है। मत-मतान्तरों के सम्बन्ध में उन दोनों के उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं है। यह बात भिन्न है कि राजनीतिक नेताओं के साधन उसके सम्बन्ध में राजनीतिक होते हैं और ऋषि दयानन्द व आर्यसमाज के साधन धार्मिक हैं अर्थात् यदि कमालपाशा ग़ैर-मुस्लिमों की तुलना में मुसलमानों का पक्षपात करनेवाली ख़िलाफ़त और *शरई-अदालतों आदि को अपनी राज-

---

*शरई-अदालत = ऐसी कचहरी, जिसमें मुसलमानों के शरा के अनुसार निर्णय हो।

नीतिक शक्ति से दूर करके इस्लाम को ग़ैर-मुस्लिमों के लिए अहानिकर बनाता है तो ऋषि दयानन्द सचाई और न्याय-रूपी सार्वभौम धर्म की सत्यता की शक्ति से मत-मतान्तरों के अज्ञान से उत्पन्न अन्ध-विश्वासों और दोषों को दूर करके उन्हें आपस में गले मिलाने का प्रयत्न करता है। जिन भाइयों का यह विचार है कि ऋषि दयानन्द ने अपना मत फैलाने के लिए मत-मतान्तरों का खंडन किया है, यह उनकी भूल है; क्योंकि ऋषि दयानन्द ने साफ लिखा है कि उनका अपना कोई नवीन मत स्थापन करने का कदापि आशय नहीं है; किन्तु वह तो उसी मूल-धर्म को फैलाना चाहते थे, जो कि प्रत्येक मनुष्य के लिये एक समान है और सत्यता व न्याय आदि सार्वभौम सदाचार अथवा नैसर्गिक सचाइयों का पर्याय है और जिसकी आवश्यकता व्यक्ति, समाज और शासक-मडल को समान रूप से है; क्योंकि वह मानव जीवन की शुद्ध और पूर्ण कार्य-प्रणाली है। उसको धारण किये बिना, न तो मनुष्य मनुष्य, कहला सकता है और न संसार में संगठन और शान्ति ही स्थिर रह सकती है।

यहाँ पर संभव ही नहीं, किन्तु निश्चित है कि देश-प्रेम और स्वराज्य की धुन में मग्न या मुग्ध होनेवाले, मज़हबी और साम्प्रदायिक झगड़ों से ऊबनेवाले, केवल अभ्युदय-वादी (केवल भौतिक उन्नति के पक्षपाती) नवयुवक उपर्युक्त विचार को सुनकर यह कह उठें कि "मज़हब या धर्म तो बुद्धिमान् और चतुर लोगों या पूँजी-पतियों के निर्मित हैं, जो कि उन्होंने भोलेभाले लोगों के

भोलेपन और अज्ञान से लाभ उठाने तथा उन्हें अपने अधीन और सन्तुष्ट रखने के लिये बनाये हैं; अत: मजहबी एकता के लिये सोचना या प्रयत्न करना निष्फल है। मज़हबों का ऐक्य तो होना ही असंभव है; क्योंकि उनका पारस्परिक विरोध ही उनका जीवन और एकता ही मरण है। ये मज़हब या धर्म वास्तव में एक भयानक वस्तु हैं, उपद्रव के मूल हैं। उन्होंने मानव-समाज में अगणित रक्तपात कराये हैं। यह साम्प्रदायिकता के गढ़ हैं, जो कि जातीय एकता का घोर शत्रु है। संसार को मज़हबों की कोई आवश्यकता नहीं है। इस हेतु इनकी एकता की सनक को छोड़कर जितना शीघ्र संभव हो सके, इनको संसार से विनष्ट कर देना चाहिये।" तो इसका उत्तर मैं यह दूँगा कि मज़हब और धर्म को एक ही वस्तु मानना या समझना अनभिज्ञता पर निर्भर है। यह ठीक है कि मजहबों के भीतर धर्म का भी अंश है, जिससे उनका कुछ मान बना हुआ है और वे जीवित हैं परन्तु वास्तव में मज़हब धर्म नहीं है। फलत: मज़हब और धर्म में परस्पर जो अन्तर है, वह पहले "वैदिक धर्म की उदारता" के प्रकरण में स्पष्ट रीति से दिखलाया जा चुका है।

इसके अतिरिक्त यह पूर्ण सत्य है कि मनुष्यों को राजनीति की अपेक्षा आध्यात्मिकता, सत्यता, न्याय-परता, समानता और सहिष्णुता आदि गुणवाले सार्वभौम सदाचार या धर्म की अधिक आवश्यकता है। राजनीति जिस सुधार को मजिस्ट्रेटों, जजों और पुलिसों के द्वारा नहीं कर सकती, धर्म उसको सदाचार की प्रवृत्ति से कर सकता है। यदि यह कहा जाय कि राजनीति का वास्तविक

अभिप्राय अपने दंड आदि साधनों से लोगों को धर्मात्मा बनाने का है और राजनीति भी धर्मानुकूल होने ही से संसार के लिये लाभप्रद हो सकती है तो कदापि कोई अत्युक्ति न होगी; क्योंकि यदि राजनीति से धार्मिक भाव को पृथक् कर दिया जाय तो वह लूट-मार, छल और हिंसा के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहती। चूँकि बिना धर्म के संसार में संगठन और शान्ति एक मिनट के लिये भी स्थिर नहीं रह सकती, जिनकी संसार को अत्यन्त आवश्यकता है और जिनके बिना संसार दु:खों और विपत्तियों का घर बन जाता है, जैसा कि धर्म की इस संस्कृत परिभाषा से प्रकट है:—

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः

(महाभारत)

जिसके बिना संसार चल न सके, स्थिर न रह सके और जो पृथ्वी और लोकों को धारण करता हो, जिससे सब मनुष्य नियमबद्ध रहें और जिससे जनता की वृद्धि हो; वही धर्म है।

इसलिए धर्म के भाव या अस्तित्व को मिटा देने का विचार जहाँ एक अपवित्र विचार है; वहाँ वह किसी के मिटाये मिट भी नहीं सकता; क्योंकि स्वर्गीय लाला लाजपतराय के कथनानुसार धर्म का आशय संस्कृत में बहुत विस्तृत है; जैसे जब से संसार विद्यमान है तब से उसके साथ धर्म भी विद्यमान है। जिस तरह जल का धर्म, अग्नि का धर्म और वायु का धर्म है, उसी तरह मनुष्य

का भी धर्म है; इसलिए जब तक संसार में मनुष्य-जाति वर्त्तमान है तब तक उसका धर्म भी बना रहेगा।

शेष रहा मजहबों का लोप करना। यह कार्य भी इतना सुगम नहीं है कि जिसको प्रत्येक छोटा बड़ा आदमी कर सके। अनेक शताब्दियों से प्रचलित होने के कारण उनकी जड़ें बहुत गहरी और दृढ़ हो चुकी हैं। उनके रक्षक और प्रचारक भी उपस्थित हैं, जो उनके रक्षार्थ अपने प्राणों को अर्पण करने के लिए हर समय तैयार रहते हैं, इस हेतु केवल इस घृणा-युक्त छू-मन्तर से उड़ाये नहीं जा सकते। उनके उड़ाने या सुधारने की उचित रीति भी किसी यति दयानन्द सदृश सुधारक ही से सीखना होगा और उसके लिए दिनों, महीनों और वर्षों तक नहीं; किन्तु शताब्दियों तक सत्याग्रह करना होगा, सहस्रों सुकरात, लूथर और दयानन्द जैसे महान् सुधारकों के अमूल्य जीवन का बलिदान करना पड़ेगा। तब कहीं जाकर इन धर्माभासी मत-मतान्तरों अर्थात् मजहबों में परिवर्त्तन करते करते उनको धर्म की असली आकृति व प्रकृति में लाया जा सकेगा और यदि रूसी बोल्शेविकों व वीर कमालपाशा की तरह उन्हें राजनीतिक शक्ति से दमन करना होगा तो भी उसके लिए पहले प्रबल राजनीतिक शक्ति प्राप्त करनी पड़ेगी, नहीं तो अभी अमानुल्ला खाँ की भाँति मजहबों को उड़ाने के बदले स्वयं उड़ना पड़ेगा और शक्ति से दबाने पर शक्ति के अनुचित उपयोग से प्रजा की स्वाधीनता को कुचलने का अपराधी भी बनना पड़ेगा। यह मान लिया कि कुछ मजहबों ने रक्तपात कराया है

और उनसे संसार को बड़ी हानि पहुँची है; परन्तु राष्ट्रीयता के प्रेमी आक्षेपकर्त्ताओं ने कभी यह भी सोचा है कि जिस राष्ट्रीयता पर उन्हें इतना गर्व है और जिसकी बलिवेदी पर वे मजहबों का बलिदान करना चाहते हैं, वह राष्ट्रीयता भी इन मजहबों से कुछ कम भयानक नहीं है, किन्तु राष्ट्रीयता ने मजहबों की अपेक्षा बहुत अधिक रक्तपात कराया है और करा रही है।

यदि मजहब एक दूसरे के विरुद्ध हैं तो राष्ट्र भी एक दूसरे के घोर शत्रु हैं। यदि मजहब अपने अनुयायियों को एक दूसरे से लड़ाते हैं तो राष्ट्रीयता भिन्न भिन्न राष्ट्रों को आपस में लड़ाती है। यदि मजहब राष्ट्रीय एकता में बाधक हैं तो राष्ट्रीयता भी अन्तर्राष्ट्रीय एकता (विश्व-प्रेम) और सार्वभौम भ्रातृ-भाव में विघ्नरूप है। यदि मजहब मजहबी-विचार से दलबन्दी करते हैं तो राष्ट्रीयता देश के विचार से दलों को बनाती है। अस्तु।

आक्षेपकर्त्ताओं ने सब मजहबों के प्रवर्त्तकों को तो एक ऐसे हास्यास्पद जाल रचने का अपराधी ठहराया है; जो कि भोलेभाले लोगों से लाभ उठाने और उन्हें अपने अधीन रखने और अपनी पतित-अवस्था में सन्तुष्ट रखने के लिए निरन्तर जारी है। यद्यपि यह एक ऐतिहासिक सचाई है कि उनमें महात्मा बुद्ध के सदृश परम-त्यागी महापुरुष भी हुए हैं; जो सांसारिक प्रलोभनों से नितान्त मुक्त थे और संसार को सभ्य बनाने में उनका बड़ा भारी भाग है। परन्तु उन्होंने राष्ट्रीयता के प्रेमी उन राष्ट्रीय लुटेरों के पाप-पूर्ण जीवन की ओर कभी ध्यान नहीं दिया कि जिन्होंने केवल अपने

राष्ट्र का लोभ पूरा करने के निमित्त लाखों मनुष्यों की हत्या की, निर्बलों की सम्पत्तियाँ लूटीं, विधवाओं और अनाथों के स्वत्वों को नष्ट किया, बसे हुए देशों और हरी-भरी लहलहाती हरियालियों को विनष्ट कर दिया। मैं इन देश-प्रेमी, मजदूरों के प्रति सहानुभूति रखनेवाले व उनके पक्षपाती नवयुवकों के देश-प्रेम और ग़रीबों की सहायता के भाव का सम्मान करता हुआ भी निवेदन करूँगा कि उन्होंने इम्पीरियलिज़्म (साम्राज्यवाद) के विरोधी भावों और मजहबों को राष्ट्रीय एकता का बाधक, संघर्ष और दलबन्दियों से क्रुद्ध और उत्तेजित होकर ईश्वर, धर्म और सदाचार के विरुद्ध भी जो जहाद आरम्भ कर दिया है अर्थात् कुछ उत्साही नवयुवकों ने जो कहना व लिखना आरम्भ कर दिया है कि ईश्वर, धर्म और सदाचार का विचार भी पूँजीपतियों ने केवल भोली भाली जनता को उनसे डराकर अपने अधीन रखने और अपनी पतित दशा में सन्तुष्ट रहने के लिए ही संसार में फैलाया है, यह बड़ा भयानक है; क्योंकि वे अशिक्षित जनता को यह शिक्षा दे रहे हैं कि ईश्वर, धर्म और सदाचार या समाज (सोसायटी) के संगठन को स्थिर रखनेवाले नियम वास्तव में कोई पदार्थ नहीं हैं, उनकी कोई चिन्ता न करो और बिना लगाम के घोड़ा या "बिना नकेल की ऊँट" के समान जो जी में आवे सो करो। क्या वे अपने इस कृत्य से दुराचार और गुण्डापन का प्रचार करके समाज की जड़ों को खोखला नहीं कर रहे हैं? वे यदि शान्त-चित्त से सोचेंगे तो उन्हें विदित होगा कि वे

ग़रीबों की सहानुभूति और साम्राज्यवाद के विरोधी उत्साह में क्रूरता को फैला रहे हैं। संसार ने आज तक जो धार्मिक या सदाचार-मूलक उन्नति की है, वे इन सबको फिर से नष्ट करना चाहते हैं या यों कहिये कि ईश्वरोपासना, अध्यात्मवाद, सभ्यता, धर्म, सदाचार, संगठन और शान्ति इत्यादि मानव-गुणों को क्रूरता की भूमि में गाड़ देना चाहते हैं। उनका यह कार्यक्रम (Programme) आध्यात्मिकता, सभ्यता और सदाचार आदि के विनाश का कार्यक्रम है। उन्हें अपने इस कार्यशैली पर दुबारा ध्यान देना चाहिए। एक आँख से नहीं; किन्तु दोनों नेत्रों से देखने की आवश्यकता है। उन्हें अपना नाम संसार को विनाश की ओर ले जानेवालों की सूची में नहीं लिखाना चाहिए; अतः मैं इस असम्बद्ध कथन को यहीं समाप्त करके विचारशील सज्जनों की सेवा में, बिना हिचक के, यह निवेदन करूँगा कि स्थायी मज़हबी एकता कराने की यथार्थ रीति तो वही है, जिसका प्रयोग ऋषि दयानन्द ने किया है। अर्थात् मतों या मज़हबों की सचाई, न्याय, समानता और सहिष्णुता इत्यादि धार्मिक सिद्धान्तों के विरोधी विश्वासों व कार्यों को छुड़ाकर उन्हें एक सार्वभौम धर्म या सदाचार के केन्द्र पर संगठित किया जाय, न कि एकता के विरोधी उनके भीतरी दोषों पर परदा डालकर उनके गुणों की प्रशंसा के गीत गाये जायँ। यह बात ठीक है कि राजनीतिक नेता ऋषि दयानन्द की कार्यशैली को ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि यदि वे मज़हबी दोषों को प्रकट करेंगे तो मज़हबी दीवाने

उनके शत्रु बन जायँगे और इस प्रकार उनके लिए एक झगड़ा खड़ा हो जायगा; परन्तु मैं तो इस सचाई का माननेवाला हूँ कि मजहबी एकता कराना राजनीतिक लीडरों का कार्य ही नहीं है। यह कार्य तो सुधारकों का है, जो अपने प्राणों और सुखों को आपत्ति में डालकर इस कार्य को कर सकते हैं और कदाचित् लीडरों को इसकी इतनी आवश्यकता भी नहीं है, जितनी कि आजकल समझी जाती है। निस्सन्देह राजनीतिक नेताओं को राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता है और वह बिना मजहबी एकता के भी हो सकती है। यह मानते हुए भी कि मजहबी विरोध किसी सीमा तक राष्ट्रीय एकता के मार्ग में रुकावट का कारण है, यह कहना और मानना अत्युक्ति-पूर्ण नहीं है कि मजहबी एकता के बिना राष्ट्रीय एकता हो सकती है; क्योंकि इङ्गलैण्ड, अमेरिका, जापान आदि देशों में अनेक प्रकार के मजहब मौजूद हैं। उनमें परस्पर विरोध भी है। जब कि हिन्दुस्तान के ईसाई और पारसी आदि पृथक् पृथक् मजहब रखने पर भी राष्ट्रीय एकता में रुकावट के हेतु नहीं हैं तो फिर हिन्दू और मुसलमान क्यों हैं ? इसका यथार्थ उत्तर यही हो सकता है कि इसका कारण मजहब नहीं; किन्तु उनके साम्प्रदायिक (दलबन्दी के) स्वत्वों की प्राप्ति का संघर्ष, मुसलमानों का हिन्दुस्तान को अपना देश न समझना और विदेशी गवर्नमेण्ट की विग्रह नीति भी है, जिसको सब हिन्दू-मुस्लिम लीडर भी मानते हैं। इसलिए लीडरों को मजहबी एकता की उलझन में न पड़कर केवल साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व और स्वत्वों की भयंकर कार्य-शैली को मिटाने और

मुसलमानों को हिन्दुस्तानी बनाने पर ही अपना बल लगाना चाहिए; क्योंकि राष्ट्रीय एकता विशुद्ध देशप्रेम और समस्त भारतीयों के सम्मिलित स्वत्वों और हित के आधार ही पर स्थापित हो सकती है, न कि मज़हबी एकता के आधार पर। यहाँ पर यह कहना भी अनुचित और असंगत न होगा कि भारतीय मुसलमानों को भारतीय बनने के लिए आवश्यक होगा कि वे उसी प्रकार भारतीय महापुरुषों के जीवन-चरित्रों को और हिन्दी को राष्ट्रभाषा समझकर पढ़ें, भारतीय सभ्यता को अपनायें, भारतीय त्योहारों को राष्ट्रीय त्योहार समझ कर मनायें, जिस प्रकार कि ईरानी मुसलमानों ने मुसलमान रहते हुए भी ईरानी बनने के लिए ईरानी महापुरुषों के जीवन-चरित्रों और फ़ारसी भाषा को राष्ट्र-भाषा समझकर पढ़ा, ईरानी सभ्यता और त्योहारों को अपनाया, तब ही वे भारतीय बन सकेंगे। वे निस्सन्देह मुसलमान हैं और रहें, परन्तु वे भी उसी तरह भारतीय बनकर रहें जिस तरह कि अरब के अरबी, तुर्किस्तान के तुर्की और ईरान के ईरानी मुसलमान हैं। उन्हें देश-प्रेम के निमित्त इस मिथ्या-धारणा को छोड़ देना होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय विचार से उनका कोई नाता अरब, तुर्किस्तान या किसी दूसरे इस्लामी देश से है; क्योंकि उनके लिए वहाँ कोई स्थान नहीं है; जैसा कि वे हिन्दुस्तान से हिजरत (विदेश गमनार्थ प्रस्थान) करके अनुभव कर चुके हैं। अब तो उन्हें इस सचाई पर पूर्ण विश्वास करना होगा कि हिन्दुस्तान ही उनका देश या जन्म-भूमि है। इसके हित में उनका हित और इसके

अहित में उनका अहित है। जिस समय इस प्रकार का कार्य और मनोवृत्ति मुसलमान भाइयों की हो जायगी, उस समय हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य और राष्ट्रीय एकता होने में कोई बाधा न रहेगी।

क्या आर्यसमाज झगड़ा कराता है ?

कुछ पक्षपाती मौलाना और उनके दोषारोपण से प्रभावित होनेवाले भाई आर्यसमाज पर यह दोष भी मढ़ते हैं कि वह हिन्दू-मुस्लिम-कलह का हेतु है। जहाँ आर्यसमाज जैसे शिष्ट, शान्तिप्रिय और अपने कार्यों में अति संलग्न समाज पर यह दोष लगाना परले सिरे की संकीर्णता और मिथ्या कलंकारोपण है, वहाँ ऐसा कहना हिन्दुओं की योग्यता और मानसिक प्रवृत्ति का अपमान करना है कि वे आर्यसमाज के कहने या उकसाने पर मुसलमानों से लड़ाई करते हैं। भला आर्यसमाज को अपने मुसलमान भाइयों से हिन्दुओं को लड़ाने में क्या लाभ ? क्योंकि न तो वह लूट का माल प्राप्त करना ही उचित समझता है और न तो वह इस प्रकार के किसी मनुष्यता-विनाशक विश्वास का ही विश्वासी है कि अपने विरुद्ध मज़हब रखनेवाले देशवासियों के लूटने और मारे डालने से पुण्य या स्वर्ग मिलेगा कि जिसके प्रभावाधीन वह ऐसे नृशंस कार्य कराने का अपराधी बने। वास्तव में यह एक सच्ची बात है कि इन परस्पर के झगड़ों के कारण आर्यसमाज के धर्म-प्रचारादि सब

कामों में रुकावट पैदा होती है और क्षति पहुँचती है। क्या आर्यसमाज ऐसा अदूरदर्शी है कि वह अपने लाभ-हानि को भी नहीं समझ सकता। यदि किसी ने ऐसा समझा है तो यह उसकी नासमझी है। क्योंकि आर्यसमाज प्रायः शिक्षित और सभ्य मनुष्यों का समाज है। वह इस प्राकृतिक सचाई को भली भाँति जानता और मानता है कि देश के भाइयों या मनुष्यों को परस्पर लड़ानेवाला समाज और मजहब संसार के लिए अत्यन्त भयानक है। देश और संसार को उसकी कोई आवश्यकता नहीं है और जिसकी आवश्यकता नहीं, वह अनिवार्य रूप से शीघ्र या विलम्ब में संसार से मिट जायगा या मिटा दिया जायगा, वह कदापि जीवित नहीं रह सकता। दूसरे शब्दों में इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जो समाज या मजहब अपने किसी स्वार्थ या अज्ञानवश मनुष्यों या देश के भाइयों को आपस में लड़ाता है, वास्तव में वह अपने अस्तित्व को विनष्ट करने के लिए स्वयं खाई खोदता है; अतः हत्या-सम्बन्धी उन्मत्तता और क्रूरतापूर्ण कार्यों को आर्यसमाज से सम्बद्ध करना प्रत्यक्ष भ्रान्तिकारक है। आर्यसमाज तो इन झगड़ों को धर्म, देश और जाति के विनाश और सभ्य संसार के सम्मुख भारतीयों के कलंक का हेतु समझता है। आर्यसमाजियों के सम्बन्ध में यह अनुमान तो किया जा सकता है कि इस्लाम के उन सिद्धान्तों के विरुद्ध बोलें और लिखें, कि सचाई, स्वतंत्रता और न्याय के विरोधी विश्वास हैं। तबलीगी अंजुमनों (इस्लाम-प्रचारिणी सभाओं) के प्रकट और गुप्त अनु-

चित जहादी प्रोपेगेण्डा (जहाद-सम्बन्धी संगठित आन्दोलन) की निन्दा करें। आर्यसमाजियों से यह भी आशा की जा सकती है कि आक्रमणकारियों से डरकर आत्म-रक्षा के निमित्त भाग न जायें और अवसर पड़ने पर प्राण अर्पण कर दें; परन्तु उनसे यह आशा कदापि नहीं की जा सकती कि वे अवश्य झगड़ा कराकर देश और जाति को हानि पहुँचायें, कलंकित करें और संसार को अपनी मूर्खता पर हँसायें। क्योंकि आर्यसमाजियों को न तो अपने पूर्वजों ही से यह झगड़ालू-स्वभाव उत्तराधिकार में मिला है और न तो इनको यह भ्रम हुआ है कि डंडे के जोर से अपने विरोधी मजहबवालों को नीचा दिखला सकेंगे। आर्यसमाज भिन्न मतवादियों के पूजा-स्थानों को अपवित्र और ढहाने को पुण्य और ऐसी मूर्खता की लड़ाइयों में मर जाने को बलिदान भी नहीं ठहराता, दंगा कराना तो दूर रहा, आर्यसमाज पर तो जितने अपराध-जनक आक्रमण उसके विरोधियों की ओर से कभी कभी होते रहे हैं, वह उनके विरुद्ध क़ानूनी कार्रवाई करने से भी अब तक प्रायः अलग रहता आया है; क्योंकि उसके प्रवर्त्तक ने अपने कार्य से उसके सामने अपना यह आदर्श रक्खा है कि "मैं लोगों को स्वतंत्र कराने आया हूँ, न कि जेल में डलवाने"—(ऋषि दयानन्द का जीवन-चरित्र) इस हेतु आर्यसमाज के पास अपने विरोधियों और भ्रान्त जनों को सत्य मार्ग पर लाने की कोई वस्तु या साधन है तो वह केवल धार्मिक सत्यता और उसका प्रचार है और

[illegible]।

वास्तव में आर्यसमाज झगड़ों या दंगों का प्रेरक है या नहीं अथवा दंगा करानेवाला कौन है ? यह एक विस्तृत विषय है जिस पर विस्तार-पूर्वक यहाँ विचार करने का स्थान नहीं है। इस हेतु यहाँ पर तो इतना ही कहना काफ़ी होगा कि आर्यसमाज पर दंगा कराने का दोष लगाना बिलकुल मिथ्या कलंक है, जो कि उसके अत्यन्त चतुर विरोधियों की ओर से, अपना दोष छिपाने और आर्यसमाज को कलंकित करके गवर्नमेण्ट वा जनता को उसके विरुद्ध उकसाने या अप्रसन्न करने के निमित्त उस पर लगाया जाता है, अथवा आर्यसमाज पर उसके विरोधियों का एक नीच आक्रमण है जो उसके कार्यों की तत्परता को रोकने के लिए उस पर किया जाता है। वास्तव में दंगा कौन कराता और करता है, आज यह कोई अज्ञात पहेली नहीं रही जो समझ में न आ सके। उसके जाँचने के लिए गत दंगों के स्थानीय दशाओं का पढ़ना ही काफ़ी है। सबसे पहले दंगे का क्रम मालाबार से प्रारम्भ हुआ, जहाँ पर आर्यसमाज का अस्तित्व ही नहीं था। वहाँ पर इस दङ्गा के कर्त्ता मोपला मुसलमान थे, जिन्होंने मज़हबी उन्मत्तता में आकर क्रान्ति मचा दी थी। इस स्थान के हिन्दू केवल इस कारण मोपलों की जहादी-तलवार के शिकार हुए कि उन्होंने इस क्रान्ति में मोपलों का साथ नहीं दिया था और मोपला-क्रान्ति को दूर करनेवाले पुलिस के सिपाही हिन्दू थे, अथवा हिन्दुओं ने इस्लाम को ग्रहण नहीं किया। उनके इस क्रूरतापूर्ण कार्य को मौलाना हसरत मोहानी और आज़ाद सुभानी

जैसे मुस्लिम नेताओं ने भी न्यायोचित बतलाया था और उन्हें धन्यवाद देकर उनकी पीठ ठोंकी थी। इसके बाद मुलतान में यह प्रकट हुआ। वहाँ पर भी मुहर्रम के जलूस में एकत्र हुए मुसलमानों ने टेलीफोन के तार से ताजिया की चोटी तोड़कर या टूट जाने पर निरपराध व असावधान हिन्दुओं को लूटना-पीटना आरंभ कर दिया। इसी प्रकार हर एक स्थान के दङ्गों के आरंभिक कारण को यदि जाँचा जायगा तो विदित होगा कि उनमें आर्यसमाज का कोई हाथ न था और जिस समय मालाबार और मुलतान के दंगे आरंभ हुए, उस समय मलकानों की शुद्धि और वर्त्तमान हिन्दू-संगठन भी आरंभ नहीं हुए थे इस हेतु उनको भी गत हिन्दू-मुस्लिम-दंगों का प्रारंभिक कारण नहीं कह सकते, किन्तु यदि वर्त्तमान हिन्दू-संगठन का कारण उन्मत्त मुसलमानों के जहादी आक्रमणों को कहा जाय तो अनुचित न होगा; क्योंकि पिटते पिटते हिन्दुओं के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे गुण्डे मुसलमानों के आक्रमणों से अपना धन व प्राण और बहू-बेटियों के सतीत्व को बचाने के निमित्त संगठित हों। वस्तुतः इसी प्रकार की अवस्थाएँ और घटनाएँ थीं, जिनसे वाध्य होकर मुसलमानों से हार्दिक सहानुभूति रखनेवाले और हितैषी महात्मा गान्धी जी ने भी यह मान लिया कि वर्त्तमान हिन्दू-मुस्लिम-दंगों के पीठ-पीछे मुसलमानों का कोई गुप्त सङ्गठन अवश्य है, जो कि दङ्गा कराता है। आर्यों के शान्तिप्रिय और झगड़ों से पृथक् होने व मुसलमानों के किसी विशेष दङ्गा प्रेरक-संगठन के होने का इससे

बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता पूज्य श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज और महाशय राजपाल आदि अन्य दस-ग्यारह आर्य कार्यकर्त्ता मार डाले जाते हैं। पूज्य श्री स्वामी सत्यानन्द जी महाराज और अन्य अनेक आर्यों पर घातक आक्रमण होते हैं; परन्तु इन अत्यन्त उत्तेजक और असह्य कष्टों के उपस्थित होने पर भी आर्यसमाज तो शान्त रहता है और किसी भी प्रतिशोध का कर्त्ता नहीं बनता; परन्तु मुसलमान भाई खुल्लम-खुल्ला इन भ्रान्त मुसलमान हत्यारों व अपराधियों के छुटकारे के लिए हजारों रुपया व्यय करके हाईकोर्ट और प्रीवी कौन्सिल तक मुक़दमा लड़ते हैं। मुक़दमों के व्यय और हत्यारों व अपराधियों के कुटुम्बियों की सहायता के लिए अपीलें करके रुपया एकत्र करते हैं, जिससे स्पष्ट प्रकट है कि यह कार्य वैयक्तिक नहीं है, किन्तु इनके पीछे पक्षपाती मुसलमानों के किसी समूह का कोई नियमबद्ध व क्रमानुसार कार्य करनेवाला संगठन विद्यमान है। इसके अतिरिक्त उत्तरदायित्त्व-पूर्ण हिन्दू-मुस्लिम लीडर इस बात को भी मान चुके हैं कि हिन्दू-मुस्लिम-दङ्गों की जड़ में विशेष कर कुछ स्वार्थी चतुर लोगों और दलबंदीवाले लीडरों के व्यक्ति-गत स्वार्थ और साम्प्रदायिक स्वत्वों का लोभ है, जिनके निमित्त वे मजहब के नाम पर अशिक्षित जनता को भड़काकर दङ्गा के लिए कटिबद्ध करते हैं। इसलिए उपर्युक्त दशाओं और घटनाओं की उपस्थिति में यह कहना उपहास से बढ़कर नहीं है कि "आर्यसमाज हिन्दू-मुस्लिम-दङ्गों का करानेवाला है।"

आश्चर्य की बात है कि अपने लेखों और भाषणों से प्रत्येक उचित और अनुचित रीति से मुसलमानों को अन्यों को मुसलमान बनाने की प्रेरणा करते हुए, खुली सभाओं में मुर्तिदों (इस्लाम को त्यागनेवालों) और मुर्तिद करनेवालों अर्थात् इस्लाम छुड़ानेवालों के वध को विहित बतलाकर अपढ़ मुसलमानों को दंगा के लिए प्रस्तुत करते हुए भी ये पक्षपाती मौलाना, जहाँ अपनी व अपने इस्लाम की सहिष्णुता, निर्दोषता और शांतिप्रियता के गीत गाते हैं वहाँ उनके इस प्रकार की स्वतंत्रता और न्याय के विरुद्ध कार्यों को अनुचित व निषिद्ध बतलानेवाले आर्यसमाज और हिन्दू-संगठन के सहायकों पर दंगा कराने का लांछन भी लगाते जाते हैं। भला इन भलेमानुषों से कोई पूछे कि क्या आपने अन्य सभी लोगों को इतना बुद्धिहीन समझ रक्खा है कि वे आपकी इस शान्ति-भंजक कार्य-शैली को देखते और जानते हुए भी आपके इस प्रत्यक्ष मिथ्या-कथन पर विश्वास करेंगे ? यह हो सकता है कि अपरिचित लोग कुछ समय के लिए आपके इस घृणित प्रोपैगंडा को उचित मान लें, परन्तु सचाई अधिक समय तक छिप नहीं सकती; क्योंकि इसके जो भयानक परिणाम घटनाओं के रूप में निकलते हैं, वे उसके यथार्थ-रूप को बिलकुल स्पष्ट कर । हैं। इस कारण वे अपनी इस चालबाजी से संसार की आँखों में धूल नहीं झोंक सकते। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि मौलाना अब्दुलबारी साहब तथा अन्य मौलानाओं के मुर्तिद व मुर्तिद करानेवालों के वध के प्रोपैगंडा और दुष्टतावर्द्धक आन्दोलन व शरा-सम्बन्धी विश्वास के प्रभाव

के कारण होनेवाले पूज्य श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी और महाशय राजपाल जी इत्यादि की हत्या और पूज्य श्री स्वामी सत्यानन्द जी आदि पर किये हुए घातक आक्रमणों, कोहाट के निरपराध हिन्दुओं व सिक्खों का विनाश, मौलवी नियामतुल्ला खाँ और अन्य अहमदियों को काबुल में पत्थरों की वर्षा से मार डालना और अन्य तत्कालीन अफ़ग़ानिस्तान के शासक-मंडल का मूलोच्छेदन इत्यादि घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि जहाँ इन 'मुल्लाओं का इस्लाम' ग़ैर-मुस्लिमों की स्वतंत्रता, न्यायपरता और शान्ति का विरोधी है वहाँ यह राष्ट्रीय एकता, सुधार और देश के हित व उन्नति के लिए भी अत्यन्त भयंकर है। यह हो सकता है कि उन्हें अपने इस भयानक प्रयत्न से इस्लाम व मुसलमानों को अस्थायी रूप से कोई लाभ और आर्यसमाज व हिन्दुओं को हानि पहुँचती दिखाई देती हो; परन्तु यथार्थ यह है कि मुसलमानों की विचार-शील श्रेणी ने भी कह दिया है कि इनका इस प्रकार का प्रयत्न इस्लाम और नागरिक जीवन के लिए भी भयानक है और जो लोग ऐसा कार्य करते हैं वे इस्लाम और मुसलमानों की भी कोई सेवा नहीं करते। उनका यह समझना कि वे अपने इस भयानक कार्य से आर्यों (हिन्दुओं) को डराकर उनके धार्मिक और सामाजिक सुधार-सम्बन्धी प्रयत्नों को बन्द कर देंगे या अपना प्रशंसात्मक प्रोपैगंडा करके अपने दोषों को छिपा लेंगे, यह आज से तेरह सौ वर्ष पूर्व के स्वप्न हैं। क्योंकि यह निश्चित बात है कि कागज़ के तावों (तख्तों) और ग्रामोफ़ोन के प्लेटों पर स्वर भरनेवाली इस

बीसवीं शताब्दी में न तो वे अपने इस कुटिलतापूर्ण चरित्रों के इस रेकार्ड को इतिहास के पृष्ठों से मिटा सकते हैं, जो कि वर्त्तमान व भविष्य संसार के सामने इस्लाम व मुसलमानों के डरावने स्वरूप को उपस्थित करता है व करेगा तथा जनता के हृदय में इस्लाम व इस्लाम के माननेवालों के प्रति घृणा का बीज बोता है व बोयेगा। और न तो इससे आर्यसमाज को अपराधी ठहराकर उसको और वैदिक-धर्म को संसार से मिटा सकते हैं, क्योंकि आर्यसमाज मिटने के लिए नहीं, किन्तु जीवित रहने के लिए है।

ऋषि दयानन्द व आर्यसमाज

और उसके सम्बन्ध में महात्मा जी की की हुई समालोचना पर सुप्रसिद्ध विचारकों की सम्मतियाँ

पाठकवृन्द ! ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के सम्बन्ध में महात्मा जी की की हुई समालोचना के तत्व को मैंने आपके सामने रख दिया है। परन्तु अन्त में यह भी उचित और आवश्यक विदित होता है कि महात्मा जी की इस समालोचना और ऋषि दयानन्द व आर्यसमाज के सम्बन्ध में महात्मा जी के सहयोगी अन्य प्रसिद्ध लीडरों, विद्वानों और विचारकों की, जो आर्यसमाजी नहीं हैं, सम्मतियों को भी आपके सामने रक्खा जाय, जिससे आपको तथ्य के जानने और तत्व के समझने में अधिक सुगमता हो।

(१) श्रीयुत सी० एस० रङ्गा स्वामी अय्यर, मेम्बर लेजिस्लेटिव असेम्बली

मैं सोचता और चकित होता था कि महात्मा गान्धी को आर्यसमाज, सत्यार्थ-प्रकाश और स्वामी दयानन्द सरस्वती

के सम्बन्ध में इस तरह की बात क्यों करनी चाहिए थी, जिस तरह करनी उन्होंने पसन्द की है। महात्मा जी कहते हैं कि इस बड़ी पुस्तक (सत्यार्थ-प्रकाश) का जेलखाने में पहली बार अवलोकन किया है और उन्हें निराशा हुई है। मेरे सदृश तुच्छ व्यक्ति को भी कारागार में ही सत्यार्थ-प्रकाश पढ़ने का विरल संयोग प्राप्त हुआ था। कारागार की छड़ों के पीछे एक वर्ष तक सत्यार्थ-प्रकाश मेरा मित्र, प्रकाश-रूप और जीवन बना रहा। सत्यार्थ-प्रकाश में वेदों का तत्व है। सत्यार्थ-प्रकाश के महत्व को कम करने का यह अर्थ है कि वेदों के बहुमूल्य सार की प्रतिष्ठा व मूल्य को कम किया जाय। महात्मा गान्धी और स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में यह निर्णय करना बहुत कठिन नहीं है कि वेदों का अधिक ज्ञाता कौन है? महात्मा गान्धी ने जो आक्षेप किये हैं उनको ध्यान में रखते हुए मेरा विचार नहीं है कि महात्मा जी ने सम्पूर्ण वेदों को पढ़ा हो, उनके अर्थों को समझना तो दूर रहा! स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में महात्मा जी के रिमार्क्स (टिप्पणियों) को मैं दोहराना नहीं चाहता। दयानन्द सन्यासी और उनके जीवन के कार्यों को राजनीतिक दृष्टिकोण से देखना न्याय नहीं है। आर्यन (Aryan) आन्दोलन के महान प्रवर्तक के सम्बन्ध में महात्मा जी की समालोचना राजनीतिक कारणों पर अवलम्बित है। हिन्दू-मुस्लिम-एकता उनकी अन्तरात्मा का भाव है। और महात्मा जी अपने अड़ोस-पड़ोस

में देखकर आर्यसमाजियों को ही उसमें एक रुकावट पाते हैं और वह उन सब दोषों को दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं से सम्बद्ध करते हैं। जब महात्मा गान्धी समाजियों के दोषों को दयानन्द की शिक्षा से सम्बद्ध करते हैं तो कोई मनुष्य यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकता कि एक महान् पुरुष एक दूसरे महापुरुष के सम्बन्ध में कठिनता से न्याय करने के योग्य है।.....मध्य कोटि के मनुष्य ही श्रेष्ठ मनुष्यों के सम्बन्ध में न्याय कर सकते हैं। (२२ जून, सन् १९२४; 'प्रताप', लाहौर।)

(२) लीडर, इलाहाबाद

महात्मा गान्धी के लेख से स्पष्ट है कि उन्होंने आर्य-समाज के आन्दोलन या उसके पूज्य प्रवर्त्तक के भावों को बिलकुल नहीं समझा। हर एक प्रोटेस्ट (Protest) और सुधारात्मक आन्दोलन की भाँति इसका भी युद्धप्रिय होना आवश्यक था।............बहुत सी वर्त्तमान सामाजिक कुरीतियाँ, जो हिन्दू-जाति के शरीर को भीतर ही भीतर घुन की तरह खा रही थीं, उनकी आज्ञा पुराणों और स्मृतियों द्वारा मिल चुकी है और उन पुराणों और स्मृतियों को वास्तव में वह मान नहीं दिया जा सकता जो कि वेदों को प्राप्त है। और स्वामी दयानन्द ने बिलकुल ठीक कहा है कि उन्हें वह पद नहीं दिया जाता। यद्यपि स्वामी दयानन्द वास्तव में एक मजहबी सुधारक थे, परन्तु आपके कार्यों ने विशेषकर सामाजिक सुधार और शिक्षा-प्रचार में अति गौरवपूर्ण परिणाम

पैदा किये हैं। उच्च आदर्शों और उच्च शिक्षा के प्रचार के भाव से प्रभावित होकर स्वामी जी के अनुयायियों ने स्त्री-शिक्षा और दलित जातियों की शिक्षा में विशेषतः, और हिन्दू-जाति को विद्या-ग्रहण कराने में साधारणतः, हिन्दू-जाति की अन्य शाखाओं से बढ़कर उत्तम काम किया है। इतना ही नहीं, किन्तु हिन्दुओं को अहिन्दू-मजहबों में जाने से रोकने व विधवा-विवाह को प्रचलित करने, नशों (मादक द्रव्यों) के विरुद्ध शिक्षा-प्रचार करने, बाल-विवाह और परदा-प्रथा के विरुद्ध प्रचार करने में हिन्दू-जाति के अन्य सम्प्रदायों से बाजी जीत ली है............इसलिए हिन्दू-धर्म को संकुचित करने का दोष स्वामी दयानन्द जी या उनके अनुयायियों पर न्याय की दृष्टि से आरोपित नहीं हो सकता। (१३ जून, सन् १९२४, तेज—देहली।)

(३) अखबार 'मराठा', पूना

सम्प्रति साबरमती के ऋषि ने बिना कारण आर्य-समाजियों का दिल दुखाया है। उन्होंने हिन्दुओं को बहुत कुत्सित रूप में पेश किया है। उन्होंने देश-प्रेम से अत्यन्त रहित मनुष्य के समान समाजियों का दिल दुखाया है। (२८ जून, सन् १९२४ ई०, 'प्रताप' लाहौर।)

(४) महात्मा टी० एल० वास्वानी

हैदराबाद में कांग्रेस के मेम्बरों ने महात्मा गान्धी और आर्यसमाज के सम्बन्ध में महात्मा टी० एल० वास्वानी से निम्न-लिखित प्रश्न किये और उन्होंने उत्तर दिये।

(प्रश्न) महात्मा गान्धी जी ने यंग इण्डिया के नये अंक में आर्यसमाज, उसके प्रवर्त्तक और सत्यार्थ-प्रकाश पर सम्मति दी है। महात्मा जी की इस समालोचना के सम्बन्ध में आपकी क्या सम्मति है ?

(उत्तर) मैं कोई राजनीतिक विचारक नहीं हूँ और न होना चाहता हूँ। मैं तो एक नम्र और धार्मिक विद्यार्थी की भाँति कुछ कहना चाहता हूँ। मैंने सत्यार्थ-प्रकाश का अवलोकन नहीं किया है। मैं उसके सम्बन्ध में सम्मति देने का अधिकारी नहीं हूँ। मैंने उसके कुछ अंशों को पढ़ा है, उनको मैं पसन्द करता हूँ। मैं उस महापुरुष के पुस्तक के एक-आध वाक्य पर चैलेञ्ज करके कोई अनुमान नहीं लगाना चाहता। मैं सत्यार्थ-प्रकाश को पूर्णतया पढ़ूँगा और उस पर विचार करूँगा।

स्वामी दयानन्द जी के सम्बन्ध में मेरे हृदय में प्रेम और मान है। मैं इससे सहमत नहीं हूँ कि स्वामी दयानन्द ने हिन्दू धर्म को संकुचित कर दिया है; किन्तु मैं विश्वास करता हूँ कि उन्होंने हिन्दू-धर्म को विस्तृत किया है। स्वामी जी ने न केवल छूत-छात के अभिशाप को दूर करने का प्रचार किया, किन्तु जाति-पाँति के बन्धन को भी दूर करने का प्रचार किया। आपने स्वदेशी, राष्ट्रीय-शिक्षा, राष्ट्रभाषा इत्यादि के दावों का समर्थन किया और अपने कट्टरपन को तोड़ दिया। आपने नाइयों और अन्य नाम-मात्र के

अन्त्यज जातियों को धार्मिक अधिकार भी दिये थे। मैं विश्वास करता हूँ कि स्वामी जी वर्त्तमान युग के हिन्दुस्तान की आर्य सभ्यता और शिष्टता के सर्वोपरि साक्षी थे। वास्तव में मैं उन्हें केवल एक सुधारक ही नहीं समझता, किन्तु एक ऋषि समझता हूँ। लूथर को सुधारक कहा जाता है। मेरी सम्मति में स्वामी दयानन्द के जीवन और विद्या के सन्देश लूथर की अपेक्षा महान थे। मैं स्वामी दयानन्द को वर्त्तमान भारत के ऋषियों, मुनियों, विद्वानों और आत्मत्यागियों में सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ। (तेज—देहली, ३० जून, सन् १९२४ ई०)।

(५) श्रीयुत टी० वी० शेषागिरि, अय्यर, पूर्वजज हाईकोर्ट, मद्रास

सनातन-धर्म का रहस्य समझने के लिए वेद और केवल वेद ही हमारा मार्ग-प्रदर्शन कर सकते हैं और राष्ट्र के धार्मिक उत्साहों व आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये वेदों का अध्ययन ही पर्याप्त हैं। इन अवस्थाओं में विना अत्युक्ति किये और विना खंडन के भय के यह कहा जा सकता है कि स्वामी जी रचित सत्यार्थ-प्रकाश हमारी प्राचीन सभ्यता की कुंजी है।...........मैं स्पष्ट और खुले शब्दों में स्वीकार करता हूँ कि मैं मूर्त्ति पूजक हूँ और स्वामी जी ने मूर्ति-पूजा का जो खंडन किया है, उससे मैं सहमत नहीं। परन्तु यह मतभेद मुझे

स्वामी जी के महान् कार्य की सच्चे हृदय से प्रशंसा करने से नहीं रोकता। मैं उनको परमात्मा के उन अवतारों में समझता हूँ जो कभी-कभी हिन्दू-धर्म के सब दोषों को दूर करने के लिए प्रकट होते रहते हैं। चूँकि स्वामी दयानन्द का एक उद्देश्य वेदोपदेश के महत्त्व व गौरव का झंडा ऊँचा करना था, अतः आप अवतारों के समूह में स्थान पाने के अधिकारी हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि जिस युग में स्वामी जी प्रकट हुए, उस समय हिन्दू-धर्म में बहुत-से दोष उत्पन्न हो चुके थे। फलतः वल्लभसम्प्रदाय के स्थानापन्न की ओर से मान-हानि के अभियोग में जो जो रहस्य प्रकट हुए, उन समाचारों को जिन लोगों ने पढ़ा है, वे खूब जानते हैं कि पुराणोक्त घटनाओं से अनुचित लाभ उठाकर कितने सदाचार-नाशक और घृणित कर्म किये जाते थे और अन्ध-विश्वासों के कारण देश की क्या दशा हो रही थी।........ठीक ऐसे अवसर पर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अविद्या और अज्ञान के विरुद्ध क्रान्ति उत्पन्न की और ऋषियों के पवित्र धर्म की प्रसिद्धि व गौरव की रक्षा के निमित्त आप कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए। और उस उच्चादर्श की पूर्त्ति के लिए उनको बिलकुल उचित रीति से घोषणा करनी पड़ी कि धर्म का तत्त्व रामायण के आख्यानों या पुराणों में नहीं है, किन्तु वेदों के पवित्र मंत्रों में मिल सकता है। केवल यही नहीं किन्तु उन्हें संसार को यह भी दिखलाना पड़ा कि जो लोग ऋषियों के पवित्र और शुद्ध हिन्दू-धर्म पर आक्षेप करते हैं, स्वयं उनका मज़हब कितना बुद्धि-विरुद्ध और दोषपूर्ण है।

इसके बाद मद्रास में आर्यसमाज के प्रचार की आवश्यकता बतलाते हुए आप लिखते हैं—"सम्प्रति यदि कोई उचित व स्थायी प्रबन्ध शीघ्र न हो तो यह बात हर्षजनक है कि इस प्रशंसनीय व पठनीय ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश का अनुवाद इस प्रान्त की भाषा में होगया है।"—(प्रकाश, लाहौर का ऋष्यंक, १८ अक्तूबर सन् १९२५ ई०) ।

(६) श्रीयुत वी० जे० पटेल, प्रधान असेम्बली

बहुत से महानुभाव उनको सामाजिक और धार्मिक सुधारक कहते हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में तो ऋषि दयानन्द एक सच्चा पोलिटिकल लीडर था। क्योंकि ऋषि दयानन्द ही प्रथम व्यक्ति था जिसने यह कहा कि अन्यों का अच्छा शासन भी अपने शासन के तुल्य नहीं हो सकता। ४० वर्ष से जो प्रोग्राम (कार्यक्रम) इण्डियन नैशनल कांग्रेस का है, वह सब प्रोग्राम वही है जो ऋषि दयानन्द ने आज से पचास वर्ष पहले हम सबके सामने रख दिया था। समस्त भारत की भाषा, खद्दर और स्वदेशी का प्रचार, पंचायतों की स्थापना, अछूतों का उद्धार। निदान वर्त्तमान कांग्रेस के प्रत्येक प्रोग्राम का अंश भगवान दयानन्द का ही बतलाया हुआ है। सचमुच हम भाग्यहीन थे जिन्होंने ५० वर्ष पहले ऋषि दयानन्द के कार्यक्रम को समझकर उस पर आचरण नहीं किया। ऋषि दयानन्द के बतलाये हुए प्रोग्राम को

समझकर कार्य करते तो आज भारतवर्ष स्वतंत्र हो जाता। मैं ऋषि दयानन्द को अपना पोलिटिकल गुरु मानता हूँ और मेरी दृष्टि में वह सचमुच एक पोलिटिकल क्रान्तिकारी था। (तेज, देहली; १५ फर्वरी, सन् १९२५ ई०)

(७) श्रीमती सरोजनी नायडू पूर्व प्रेसिडेन्ट इण्डियन नेशनल कांग्रेस

ऋषि दयानन्द उस शीशा की भाँति है, जिसमें लोग भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग देखते हैं। किसी की दृष्टि में ऋषि दयानन्द एक सच्चा मनुष्य दिखाई देता है। कोई ऋषि दयानन्द को सम्पूर्ण गुणों का योग कहता है। किसी की दृष्टि में ऋषि दयानन्द स्वराज्य का जन्मदाता है। किसी की दृष्टि में ऋषि दयानन्द सचाई और निर्भयता का देवता और धर्म का अवतार है। कोई ऋषि दयानन्द को सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक सुधारक कहता है। वास्तव में लोग जो कुछ कहते हैं ऋषि दयानन्द सब कुछ है परन्तु मैं तो ऋषि दयानन्द को हर तरह की दासता और बन्धन से छुड़ानेवाला मानती हूँ। चाहे वह दासता मानसिक हो, चाहे धार्मिक या सामाजिक और देश की हो। मैं तो ऋषि दयानन्द को श्रीकृष्ण की वंशी बजाते हुए स्वतंत्रता और अपने कर्त्तव्यों से पालन करने की शिक्षा सुनाते हुए मानती हूँ और अनुभव करती हूँ कि परमात्मा ने भारतवर्ष और आर्य-

जाति का उद्धार करने के ही लिए राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, और भगवान दयानन्द को उत्पन्न किया था; अन्त में आपने कहा कि कर्त्तव्यों का पालन करना सौन्दर्य है; परन्तु मेरी दृष्टि में ऋषि दयानन्द के दृष्टिकोण से आत्मोत्सर्ग सौन्दर्य है, शूरता सौन्दर्य है, शक्ति सौन्दर्य है और स्वतंत्रता सौन्दर्य है। (१९ फर्वरी, सन् १९२९ ई०; तेज, देहली)।

(८) पञ्जाब-केसरी लाला लाजपतराय

मेरे जीवन में जो भाग दूषित है, वह मेरा अपना है। वह या तो मुझको उत्तराधिकार में मिला है या मेरे पूर्वजन्म के संस्कारों का फल है। परन्तु मेरे जीवन का जो उत्तम भाग है और लोगों में प्रशंसा पाने के योग्य है, वह सब आर्यसमाज के हेतु है। आर्यसमाज ने मुझे वैदिक-धर्म से प्यार करना सिखलाया। आर्यसमाज ने मुझे प्राचीन आर्य-सभ्यता का मान करना सिखाया। आर्यसमाज ने प्राचीन आर्यों से मेरा सम्बन्ध जोड़ा और मुझे उनका सेवक और भक्त बनाया। आर्यसमाज ने मुझे अपनी जाति को प्यार करना सिखलाया। आर्यसमाज ने मुझे आत्मोत्सर्ग का मार्ग दिखलाया। आर्यसमाज ने मेरे भीतर सत्य धर्म और स्वतन्त्रता का जीवन-संचार किया। आर्यसमाज ने मुझे संगठन का पाठ पढ़ाया। आर्यसमाज ने मुझे यह शिक्षा दी कि समाज, धर्म और देश की पूजा और सेवा करनी चाहिए। और इनकी सेवा में जो मनुष्य आत्म-बलिदान करता और दुःख उठाता है उसे स्वर्ग का राज्य

मिलता है। अभिप्राय यह कि मैंने सार्वजनिक सेवा के सब पाठ आर्यसमाज में रहते हुए आर्यसमाज से सीखे। आर्यसमाज के क्षेत्र में ही मैंने सार्वजनिक जीवन में पवित्रता के आदर्श देखे। आर्यसमाज के उपकार मुझ पर अनगिनत और असीम हैं। यदि मेरा बाल-बाल भी आर्यसमाज पर निछावर हो जाय तो भी मैं उन उपकारों से उऋण नहीं हो सकता। यदि मैं आर्यसमाज में प्रविष्ट न होता तो ईश्वर ही जाने कि क्या होता? परन्तु यह सच है कि मैं आज जो कुछ हूँ, वह न होता। (प्रकाश—लाहौर, १२ मई, सन् १६२६ ई०)

स्वामी दयानन्द मेरे गुरु हैं। मैंने संसार में केवल उन्हीं को एक मात्र अपना गुरु माना है। वह मेरे धर्म के पिता हैं और आर्यसमाज मेरी माता है। इन दोनों की गोद में मेरा पोषण हुआ और मेरा मस्तिष्क बना। मुझको अभिमान इस बात का है है कि मेरा गुरु बड़ा स्वतन्त्र व्यक्ति था। उसने हमको स्वतन्त्रता से विचार करना, स्वतन्त्रता से बोलना और स्वतन्त्रता से अपना कर्त्तव्यपालन करना सिखलाया। एक ने स्वतन्त्रता प्रदान की तो दूसरे ने मुझको डिसिप्लिन (आत्म-नियंत्रण) का दान दिया। बिना इसके न तो मनुष्य अपना सुधार कर सकता है और न किसी और का। स्वतन्त्रता और डिसिप्लिन (आत्म-नियंत्रण) भले मनुष्य के जीवन के आधार हैं।..........स्वामी जी महाराज ने हमको देश-प्रेम का मीठा फल खिलाया, जाति-सेवा और जाति-भक्ति का बीज हमारे भीतर बोया। साथ ही हमको यह उपदेश किया कि

हम अपने हृदय को खुला और विशाल रक्खें, जिससे मनुष्यमात्र उसमें समा जावें। हमारी देशभक्ति धर्म के अधीन है, यूरोपियन जातियों की भाँति वह संकुचित और कटु न होनी चाहिए इत्यादि। (प्रताप, लाहौर, २६ नवम्बर, सन् १६२३)।

(९) मौलाना हसरत मोहानी साहब

मेरे पास इस युक्ति के लिए काफी प्रमाण मौजूद हैं। मैं देखता हूँ कि जब कोई हिन्दू आर्यसमाज में आ जाता है तो उसमें एक विशेष परिवर्तन आ जाता है। उसके अन्तःकरण में साहस, देशभक्ति, निडरता और एक नए प्रकार का भाव कार्य करने लगता है। उसमें एक नवीन जीवन आजाता है। आर्य समाज का संगठन, जिसकी प्रशंसा मैं बार-बार करता हूँ, इसका एक प्रबल प्रमाण है। वही हिन्दू, जो हिन्दू रहकर कुछ न करते थे, आर्यसमाज में आकर एक संगठन में बँध जाते हैं और हर तरफ़ अपना उत्साह दिखलाते हैं। देश के कार्यों को ही देखिए। जब लोग स्वराज्य का स्वप्न देख रहे थे, श्री दयानन्द और आर्यसमाज अपने लेख व भाषण के द्वारा इसका प्रचार कर रहे थे। मैं प्रसन्नता से यह बात कहना चाहता हूँ कि असहयोग के समय में पहले लगभग ९० प्रतिशत आर्यसमाजी स्वराज्य के कामों में भाग लेनेवाले और लीडर थे। सब से पहले आर्यसमाज के मेम्बर ही कार्यक्षेत्र में उतरे और आरम्भ में वे ही हमारे लीडर बने। इस समय भी

देश का कार्य करने वालों में सब से अधिक संख्या आर्यसमाजियों की ही होगी।"—(तेज—देहली, ८ मार्च, १९२१ ई०)।

(१०) पादरी अहमद मसीह

ऋषि दयानन्द जी पक्षपातियों की दृष्टि में चाहे कुछ भी हों, परन्तु यह मानना पड़ता है कि ऋषि दयानन्द का उपकार न केवल आर्यसमाज और हिन्दुओं पर है, किन्तु सम्पूर्ण जातियों पर है, जिसके सम्बन्ध में धन्यवाद देना न केवल हमारा ; किन्तु हमारे उत्तराधिकारियों का भी कर्त्तव्य होगा कि उनके उपकार के गुण गायें।............अन्ध-विश्वासियों को तो स्वामी दयानन्द ने हिला दिया है। आजकल बड़ा कोलाहल है कि स्वामी जी के बनाये सत्यार्थ-प्रकाश का चौदहवाँ अध्याय (जिसमें इस्लाम की समालोचना है) ज़ब्त होजाना चाहिए। कुछ दिनों बाद हम ईसाई भी कोलाहल मचाने लगेंगे कि तेरहवाँ समुल्लास (जिसमें ईसाई मत की समालोचना है) भी ज़ब्त हो जाना चाहिए। परन्तु देखना यह है कि आप मित्र किसको समझते हैं। उसको जो दोषों को देखता हुआ यह कहता है कि आप अच्छे हैं अथवा उसको जो आपके दोषों को प्रकट करे। मैं तो समझता हूँ कि हरएक समझदार मनुष्य उसको मित्र कहेगा जो उसके दोषों को दूर कराके उसका सुधार कराना चाहता हो। इसलिये हमको दोषों को दूर करने का यत्न करना चाहिये और हमारे दोषों को

प्रकट करने के लिए हमें ऋषि दयानन्द का कृतज्ञ होना चाहिए। ('तेज', देहली; १५ फरवरी, १९२५ ई०)।

(११) श्री रङ्गा स्वामी आयंगर, मेम्बर लेजिस्लेटिव असेम्बली

आपने (ऋषि दयानन्द ने) आर्यसमाज की स्थापना की, परन्तु यह समझना कि ऋषि का प्रभाव केवल आर्यसमाज तक ही परिमित है, भूल है। वर्त्तमान हिन्दुत्व (Hinduism) पर आपके महान् व्यक्तित्व का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है और आपने जो शक्ति हिन्दुओं के भीतर पैदा की है उसने हिन्दू-जाति के आलसी से आलसी मनुष्य में परिवर्तन उत्पन्न कर दिया है। और इस प्रकार हिन्दू-धर्म को आपने एक जीवित और शक्तिशाली धर्म बना दिया है, इसलिए स्वामी दयानन्द हिन्दू-धर्म के पूज्य ऋषियों-मुनियों, याज्ञवल्क्य, बुद्ध, विश्ववन्द्य शंकर और रामानुज आदि की कोटि में स्थान पाते हैं। मैं स्वामी जी के चरणों में अपना सिर झुकाता हूँ। ('तेज', देहली, २१ फरवरी, १९२५ ई०)

(१२) ऋषि अरविन्द घोष

कुछ लोगों का विचार है कि स्वामी दयानन्द ने तनिक कठोरता से काम लिया है, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऋषि दयानन्द वह व्यक्ति था जो सचाई को किसी अवस्था में भी दबाना पसन्द न करता था। उसने परिश्रम का जीवन व्यतीत किया। उसके जीवन का उद्देश्य राष्ट्र और भारत-माता की सेवाओं का करना था। मैडम ब्लेवेट्स्की ने

दयानन्द के सम्बन्ध में ठीक कहा है कि दयानन्द निर्भय होकर अधर्म का सामना करनेवाला एक व्यक्ति है। उसने सामाजिक सुधार और आध्यात्मिकता का प्रचार निडर होकर किया। वह सचाई पर मोहित था। व्यर्थ रीतियों की उसने कभी पर्वाह नहीं की। वह संस्कृत का विद्वान् था। उसमें सबसे अधिक उत्तमता यह थी कि वह सच्चा देश-प्रेमी था। उसमें देश-प्रेम का भाव कूट-कूटकर भरा हुआ था और वह हिन्दू-जाति में आत्म-सम्मान का भाव पैदा करना चाहता था। हिन्दू-जाति आध्यात्मिकता को खो चुकी थी। दयानन्द की स्पिरिट (शक्ति) ने विद्युत् का काम किया और हिन्दू-जाति में जीवन के लक्षण प्रकट कर दिये। यह एक बड़ा कार्य था जो ऋषि दयानन्द करना चाहता था और बहुत सीमा तक वह इसमें सफल हुआ। (२७ फरवरी, सन् १९२५; 'प्रताप', लाहौर)

(१३) श्री विजय राघवाचार्य, भूतपूर्व प्रेसिडेण्ट इण्डियन नैशनल कांग्रेस

वेदों में जिस धर्म का वर्णन है, अवतार और ऋषि लोग उसके विशेष प्रकाशक हैं। ऐसे ऋषियों के अर्थ किये बिना हमारे शास्त्रों और अवतारों का तत्त्व हमें समझ में नहीं आ सकता। स्वामी दयानन्द सरस्वती हमारे महर्षियों में से एक थे। आपका जन्म हिन्दू-इतिहास के ऐसे युग में हुआ था, जिसका

पुरुषार्थ से कोई सम्बन्ध न था, परन्तु जिसमें बड़ी-बड़ी घटनाएँ देखी गईं। आप हमारे शास्त्रों का अर्थ अपने निराले ढङ्ग से, परन्तु प्रशंसनीय शैली में करते थे।.............स्वामी जी ने वर्त्तमान काल में हिन्दू-धर्म की जो सेवा की, वह हमारे विचार में किसी और मनुष्य ने नहीं की। आपने आजन्म एक कट्टर हिन्दू की भाँति नहीं, किन्तु सम्पूर्ण संसार के हितैषी की भाँति विचार किया और शिक्षा दी। इनका व्यक्तित्व संसार के लिए सर्वोत्तम सम्पत्ति थी और भारतवर्ष को इस व्यक्तित्व पर अभिमान करना चाहिए।..............
आप में सामाजिक सुधार का भाव जन्म-काल से ही था और मनुष्यों के साथ आपको जन्म से ही प्रेम था, क्योंकि आप मनुष्य थे। इन दोनों के द्वारा आपने हिन्दू-धर्म के इतिहास में एक नवयुग का आरम्भ किया जिसमें आपने यह घोषणा कर दी कि हिन्दू-धर्म का द्वार सबके लिए, जिनमें ईसाई और मुसलमान भी सम्मिलित हैं, खुला हुआ है। यदि ईश्वर आपको एक हज़ार वर्ष पूर्व जन्म देते तो हम हिन्दुस्तानियों का सामाजिक और राजनीतिक इतिहास इससे बिलकुल भिन्न होता, जैसा कि वह अब है और किसी मनुष्य ने हम हिन्दुओं को मुर्दा जाति न समझा होता। महर्षि ने अपने जीवन और अपनी शिक्षाओं से हमें जो पाठ पढ़ाया है, क्या हम धन्यवाद-पूर्वक उनसे उत्कृष्ट लाभ नहीं उठा सकते? अपने धार्मिक विचारों पर ध्यान न देकर हम सुगमता से यह स्वीकार कर लें कि महर्षि इस पृथ्वी के उन महान् आत्माओं

में से थे जो परमात्मा के साथ बहुत बड़ा सम्बन्ध रखते हैं। (तेज, देहली; १५ नवम्बर, सन् १६२६)।

(१४) श्रीयुत महात्मा सी० एफ० ऐण्ड्रयूज़

संसार में ऐसे बहुत से मनुष्य हुए हैं जिनकी धार्मिक बुद्धि अति उच्च-कोटि की थी। परन्तु उनके भीतर वह ईश्वर-प्रदत्त ज्वाला नहीं थी जो दूसरों के हृदय में धर्म की आग लगा दे और संसार में पीढ़ी दर पीढ़ी अपने अनुयायियों और धर्म-प्रचारकों का एक क्रम जारी कर दे। यह एक अत्यन्त सूक्ष्म परीक्षा है और इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि इस कसौटी पर ऋषि दयानन्द पूर्णतया उतरे हैं। दूसरों के हृदय में धर्म की आग लगाने में ऋषि दयानंद विशेष प्रसिद्ध थे ....
......अब परीक्षा का केवल एक ढंग शेष रह गया है और वह धर्म की अनुकूलता का है। एक अनुकूलता तो ऐसी होती है कि ज्यों ज्यों आगे बढ़ती है, मनुष्य तल्लीन होता जाता है। परन्तु मेरा अभिप्राय इस प्रकार की अनुकूलता से नहीं है। आर्यसमाज अफ्रीका या अन्य देशों में इस प्रकार उन्नति नहीं कर रहा है कि वह तल्लीनता को पहुँच रही हो, किन्तु इसमें वैयक्तिक जीवन हर समय विद्यमान रहता है। आर्यसमाजी के जीवन के अंग पर दृष्टि डालोगे उसी से सत्यता प्रकट होगी।.........महर्षि ने भारत के भविष्य को उज्ज्वल बनाने के निमित्त अपना सम्पूर्ण जीवन उसकी सेवा में लगा दिया था। उसने अपनी सोसायटी

का नाम आर्यसमाज रक्खा था। ऋषि दयानन्द के सामने आर्यों का प्राचीन युग था और वह भारतवासियों के, पुनः उसी आर्यावर्त्त के, उसी प्रकाशमान समय को जीवित करना चाहते थे। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि आर्यसमाज का प्रत्येक सभासद् प्राचीन आर्यावर्त्त का एक जीवित उदाहरण हो। यह बहुत सुगम था कि ऋषि दयानन्द उसी प्राचीन आर्य-जीवन का कोई बनावटी चित्र उपस्थित कर देते, परन्तु कृत्रिमता से उन्हें घृणा थी। सभ्यता के प्रेमी थे, इसी से तो इस नई सभ्यता के युग में उन्होंने भारत के प्राचीन जीवन का एक जीता-जागता चित्र उपस्थित कर दिया।........और जनता में नवजीवन का संचार किया। परन्तु इस नवीन जीवन को उन्नत करने और फल-फूल लाने के लिए एक और वस्तु की अति आवश्यकता थी, क्षेत्र को जंगली घास-फूस से रहित करना था, जिससे नये बीज की सारी शक्ति कहीं वे ही न चूस लें। यदि हम यूरोप की ओर दृष्टि करें तो उसके नये उदाहरण से इसका पता लग जायगा कि यह कार्य कितना आवश्यक था। यूरोप की जागृति के युग में कुछ ऐसे भी स्थान थे, जहाँ घास-फूस की राशि लगी हुई थी।........इस (आर्य) समाज का विश्वास है कि शताब्दियों की असावधानी और आलस्य के कारण देश में निकम्मे घास-फूस के जङ्गल खड़े हो गये हैं और उन्होंने बीज की असली शक्ति को चूस लिया है। यूरोपीय जागृति के

काल में लूथर और एमेरसन ने भी इस प्रकार की युक्तियाँ यूरोप के सामने उपस्थित की थीं, जिसका परिणाम आज यूरोप देख रहा है। जिस तरह उन्होंने यूरोप को जागृत करके उसके जीवन को बदल डाला, उसी तरह ऋषि दयानन्द ने हिन्दुस्तान के जीवन में बड़ा परिवर्त्तन उत्पन्न कर दिया है। ऋषि दयानन्द का मूर्ति-पूजा से इनकार और उसे वेदों के विरुद्ध बतलाना, ऋषि दयानन्द का जाति-भेद के छिलकों को उखाड़ फेंकना, दलित जातियों और अछूतों से प्रेम, पुराणों की शिक्षा को ईश्वरोक्त और प्रामाणिक न मानना, यह सब बातें हैं जिन्होंने आर्यसमाज को एक सुधारक दल बना दिया है। (१३-१४-१५ फ़र्वरी, १९२५ ई०; 'तेज', देहली)

(सूचना) पाठकवृन्द, यदि ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के सम्बन्ध में आपकी विस्तृत सम्मति देखना चाहें तो उन्हें वे चार निबन्ध देखने चाहिएँ जो आपने ऋषि-जन्म शताब्दी के अवसर पर 'लीडर', इलाहाबाद में लिखे थे।

(१५) रायबहादुर श्री पं० सीताराम जी, एम० ए० प्रेसीडेण्ट लेजिस्लेटिव कौन्सिल, यू० पी०

बहुत दिन हुआ, सनातनधर्मी दृष्टिकोण को ग्रहण किये हुए मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती का सम्मान करते हुए भी इसको अच्छा न समझता था, चाहे स्वामी दयानन्द के श्रद्धालु और अनुयायी उनको ऋषि कहें। परन्तु कई वर्ष से जैसे-जैसे मैं स्वामी जी

के उपदेशों पर विचार करता रहा और उनकी दूरदर्शिता और असाधारण शक्तियों को देखता गया, वैसे-वैसे मेरे हृदय में इसका पूर्ण विश्वास हो गया जिसको मैं अब कई वर्ष से स्वीकार करता हूँ कि श्री स्वामी जी हर प्रकार से ऋषि पदवी के योग्य अवश्य हैं। स्वामी जी विद्वान्, दार्शनिक, तार्किक, व्याख्याता, और मधुरभाषी व प्रगल्भ थे, इसमें किसी को आक्षेप नहीं। स्वामी जी की आत्मा बलवती और पवित्र थी, उनके चरित्र उच्च थे, उनके विचार विशाल थे, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। परन्तु ऋषि के लिए कुछ और बातें जरूरी हैं। ऋषि के लिए अद्भुत शक्ति आवश्यक है, कुछ दूरदर्शिता की आवश्यकता है। विदित होता है, ऋषि दयानन्द में ईश्वर की जीती-जागती कला थी। इसी कारण वह पूज्य और मान्य हैं। (प्रकाश का ऋषि नम्बर; १८ अक्तूबर, १९२५ ई०)।

(१६) श्रीमती खदीजा बेगम, बी० ए० (आनर्स)

मैंने उनके (स्वामी दयानन्द के) जीवन-चरित्र को ध्यानपूर्वक पढ़ा है और मैं यह कहे बिना नहीं रह सकती कि वे भारतमाता के सच्चे सपूत थे। सच तो यह है कि वे इस भूमि के सच्चे प्रेमी थे और उन्होंने अपनी सब आयु भारतमाता की सेवा में बिताई। उनकी शिक्षा-प्राप्ति, जीवन-प्रणाली और जन्म-काल से मरण-पर्यन्त अपने सुखों को तिलाञ्जलि देकर अनेक प्रकार के कष्टों को झेलना इस हेतु था कि वे विनम्रता और आत्म-त्याग से

भारतमाता की सेवा कर सकें।..........वह नितान्त निर्भीक और अत्यन्त सत्यवादी थे और किसी प्रकार सचाई को नहीं छिपाते थे। मृत्यु से कदापि न डरते थे.......... सोते-जागते, चलते-फिरते वह हर समय और प्रतिक्षण भारतमाता की सेवा में लगे रहे और अन्त में उन्होंने अपना प्रिय-जीवन अपने देश के निमित्त बलिदान कर दिया। यदि स्वामी दयानन्द सदृश महर्षि हिन्दुस्तान में पैदा न होते तो आज हमको महात्मा गान्धी जी, महात्मा तिलक जी और लाला लाजपतराय के समान कार्यकर्त्ता और देशभक्तों के दर्शन प्राप्त न होते। नैपोलियन और सिकन्दर जैसे सम्राट् संसार में बहुत से हो चुके हैं, परन्तु स्वामी दयानन्द जी महाराज उन सबसे बढ़कर और शक्तिशाली विजेता हुए हैं, जिन्होंने मन को वश में करके ब्रह्मचर्य का अनुपम पालन किया। (प्रकाश, लाहौर, ऋषि नम्बर, २२ अक्टूबर, सन् १६२२)

(१७) श्रीयुत जार्ज अरण्डेल, एम० ए०, डाइरेक्टर शिक्षा-विभाग रियासत इन्दौर

भारतीय शिक्षा को यथार्थ रूप में भारतीय बनाने के सम्बन्ध में आर्यसमाज ने भारत के सम्पूर्ण भागों में आश्चर्य-जनक कार्य किया है। कलंकारोपण, कष्ट देना और उपहास के मध्य में ही आर्यसमाजियों की दृढ़निश्चयता उन लोगों के लिए, जो वर्त्तमान कठिन समय में भारतमाता की सेवा करना

चाहते हैं, एक अनुकरणीय उदाहरण होना चाहिए। आर्यसमाज का हर एक मेम्बर जानता है कि उसे संसार को एक सन्देश देना है, जो स्वामी दयानन्द ने उसे सिपुर्द किया है। इसलिये वह विना किसी झिझक के सन्देश देता है और यद्यपि अनेक मनुष्य हैं जो इस सन्देश को पूर्णतया या उसकी वर्त्तमान व्याख्या को ग्रहण न कर सके हों, परन्तु सब मनुष्यों को इस बात पर सहमत होना चाहिए कि भारत के भविष्य हित के लिए यह सन्देश एक बड़ा और उच्च आध्यात्मिकता का महत्त्व रखता है और उन लोगों के लिए जो इसके प्रचार के उत्तरदाता हैं, अति उच्च आन्दोलन का हेतु है। (प्रकाश लाहौर का ऋष्यङ्क २२ अक्टूबर, सन् १९२२)।

(१८) श्रीयुत कालीनाथ राय, 'एडीटर' ट्रिब्यून लाहौर

आज भारत की सबसे बड़ी आवश्यकता जाति-निर्माण अर्थात् राष्ट्र-निर्माण है और किसी मनुष्य या वस्तु के सम्बन्ध में धारणा करने की भारी कसौटी यह है कि उसने इस सिद्धान्त की पूर्ति में कितनी सहायता दी है या देने के योग्य है। जो कोई इस कसौटी पर पूरा उतरेगा, वह अनिवार्य रूप से राष्ट्र के असीम नमस्कार और सम्मान का पात्र होगा और जो इस कसौटी पर पूरा नहीं होगा, वह चाहे कोई हो और कुछ भी क्यों न हो, उसे विनष्ट होनेवाले प्रभावों की सूची में अन्तिम स्थान ग्रहण करना पड़ेगा।

इस दृष्टि से आर्यसमाज की स्थिति क्या है? प्रत्येक

मनुष्य को विदित है कि उत्तरी भारत में एक धार्मिक और सामाजिक सुधारात्मक आन्दोलन की हैसियत से उसने कितनी बड़ी सेवा सम्पन्न की है। आप पंजाब में जीवन के किसी भाग को लें, चाहे वह विद्वानों का व्यवसाय हो या सरकारी नौकरी, शिल्प विद्या हो या व्यापार, आर्यसमाज का प्रभाव इन पर बहुत स्पष्ट रूप से विद्यमान है। परन्तु इन सब बातों के होते हुए वर्त्तमानकाल में आर्यसमाज हित और उपकार के लिए भारी प्रभाव डालनेवाला न हो सकता, यदि राष्ट्रनिर्माण में इसका इतना गौरवपूर्ण भाग न होता, जितना कि हमें विदित है कि अन्य अंशों में इसका है। सच्ची बात यह है कि इसका भाग इससे भी अधिक गौरवपूर्ण है। शासकवर्ग इस बात से परिचित है इस हेतु उनको आरम्भ से यह सन्देह हो रहा है कि आर्यसमाज स्वभावत: एक पोलिटिकल बाड़ी है।—('प्रकाश', लाहौर का ऋष्यंक; २२ अक्तूबर, सन् १९२२)।

यह पुराना विचार कि आर्यसमाज हिन्दुत्व का शत्रु है, इस समय तक जीवित है, तथापि यह विचार पूर्णतया और प्रत्यक्ष निराधार है।..............यह ठीक है कि इसके आरम्भिक समय में आर्यसमाज से प्रचलित हिन्दुत्व से टक्कर हुई। परन्तु सदा से सुधारकों के भाग्य में यही लिखा है, चाहे उनका स्वर्णयुग भूतकाल में हो या भविष्य में। हां, आर्यसमाज का उनसे इतना भेद अवश्य है कि आर्य-

समाज ने उन तीरों का, जो इसके शत्रुओं ने इस पर चलाये, वीरतापूर्वक सामना किया।..............कोई आर्यसमाजी किसी भी क्षेत्र में, चाहे धार्मिक हो या सामाजिक या कोई और अपने सुनानेवाले के सामने सिर न झुकायेगा, किन्तु शूरता से आगे बढ़ेगा और शत्रु का सामना करेगा। वह न किसी के साथ रियायत करता है और न किसी से रियायत की आशा रखता है। इत्यादि। ('प्रकाश', लाहौर का अर्ध्यंक; १८ अक्तूबर १६२५ ई०)

(१९) 'नवजीवन'

आर्यसमाज ने हिन्दू-समाज के दोषों को दूर करने का जो कार्य किया है, उससे मैं अनजान नहीं हूँ। क्या मैं यह बात नहीं जानता कि हिन्दू-धर्म को कलंकित करनेवाली कितनी ही कुप्रथाएँ आपने (आर्यसमाजियों ने) निर्मूल कर दी हैं। (१५ जून, सन् १६२४ ई०)।

॥ इति ॥

पुस्तक पर सम्मतियाँ

आर्य विद्वानों ने "इज़हार हक़ीकत" नामक उर्दू पुस्तक पर, जिसका "सत्य-निर्णय" हिन्दी अनुवाद है, निम्न सम्मतियाँ दी हैं:—

१—आर्य सार्वदेशिक सभा के प्रधान, पूज्यपाद महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज ने इस पुस्तक की भूमिका लिखी है। उक्त स्वामी जी की विस्तृत सम्मति जानने के लिए कृपया भूमिका पढ़ डालिये। स्वामी जी ने इस पुस्तक को बहुत पसन्द किया है। वे चाहते हैं कि इस पुस्तक का खूब प्रचार हो।

२—श्री पं० घासीराम जी, एम० ए०, मेरठ

लाला ज्ञानचन्द जी आर्यकृत पुस्तक (इज़हारे हक़ीकत अथवा सत्य-निर्णय) मैंने पढ़ी। लेखक ने पुस्तक को बड़े ही परिश्रम, अनुसन्धान, सूक्ष्मदर्शिता और बड़ी गम्भीरता से लिखा है। पुस्तक में सबसे बड़ा गुण यह है कि ग्रन्थकर्त्ता ने महात्मा गांधी की प्रतिष्ठा के विरुद्ध कहीं एक शब्द भी नहीं कहा है, और मैंने कहीं भी ऐसा नहीं देखा जिसमें अपना विचार प्रकट करने में ग्रन्थकर्त्ता ने अपने क्रोधादि मनोविकारों को प्रकट होने दिया हो। जो बात लिखी है, उसका पूरा प्रमाण दिया है। ग्रन्थकर्त्ता

ने दोपों के परिहार का जो ढंग पसन्द किया है, वह भी अति उचित और न्यायपूर्ण है। स्वयं महात्मा जी के वचनों से ही ग्रन्थकर्त्ता ने बड़ी सफलता के साथ अपने पक्ष को सिद्ध किया है। यह पुस्तक ऐसी नहीं है जो अल्पकाल तक ही उपयोगी हो, वरन् इसमें ऐसी महत्त्वपूर्ण बातें हैं जिससे यह पुस्तक स्थायी साहित्य में रखने के योग्य है।

३—श्री प्रोफ़ेसर रामदेव जी, आचार्य, गुरुकुल काङ्गड़ी

मैंने लाला ज्ञानचन्द्र जी आर्य-कृत..........को आदि से अन्त तक पढ़ा है। इस पुस्तक में महात्मा गान्धी जी के आर्यसमाज व उसके प्रतिष्ठित प्रवर्त्तक पर किये हुए आक्षेपों का उत्तर बड़ी गम्भीरता के साथ दिया गया है और महात्मा जी की युक्तियों की बड़ी खोज के साथ छानवीन की गई है। कोई निष्पक्ष पुरुप, चाहे उसका धर्ममत कुछ ही क्यों न हो, इस पुस्तक को पढ़कर इस परिणाम पर पहुँचे विना नहीं रह सकता कि महात्मा जी ने आर्यसमाज के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा था, वह यथावत् अध्ययन किये विना ही लिखा था। इस पुस्तक में बड़ा गुण यह है कि इसमें जहाँ महात्मा जी की युक्तियों का युक्तियुक्त, यथार्थ और प्रबल खण्डन किया गया है, वहाँ उनके सम्माननीय व्यक्तित्व और उनके उच्च चरित्र की यत्र-तत्र प्रशंसा लिखी गई है। सम्पूर्ण पुस्तक में एक भी ऐसा शब्द नहीं है जो महात्मा गान्धी के कट्टर भक्त के उचित भावों को ठेस लगाता हो। मैं अनुरोध करता हूँ कि आर्यसमाजी, हिन्दू,

मुसलमान, ईसाई, कांग्रेसी महाशय और हिन्दू-सभावाले सभी इस पुस्तक का अध्ययन शान्तभाव से करें।

नोट—आपने बहुत से हिन्दू-मुस्लिम लीडरों की सूची भेजी है कि इनके पास यह पुस्तक भेजी जाय।

४—श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय, एम० ए०, (प्रयाग)

बहुधा राजनीतिक नेता ऐसी घोषणा कर बैठते हैं, जिनसे आर्यसमाज के विषय में जनता में अनेक भ्रम उत्पन्न हो जाते हैं। "इज़हार हक़ीक़त" इन भ्रमों का अच्छा निराकरण करती है। इस पुस्तक ने एक बड़ी कमी को पूरा किया है।

५—प्रोफेसर सुधाकर जी, एम० ए०

मैंने·········नामक पुस्तक को आदि से अन्त तक बड़े ध्यान से पढ़ा। इसमें लाला ज्ञानचन्द जी ने महात्मा गान्धी जी के हिन्दू-धर्म, आर्यसमाज व उसके प्रवर्त्तक पर लगाये हुए दोषों की पड़ताल बड़े श्रम और योग्यता से की है। लाला जी की आलोचना-शक्ति······ है, पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ से यह बात सिद्ध हो रही है। लाला जी ने मैं मैं तू तू में न पड़कर समालोचना को तर्कशास्त्र का रूप देकर अपनी युक्तियों को ऐसा प्रबल बना दिया है कि पढ़नेवाला लाला जी के साथ सहमत होने के अतिरिक्त और कुछ कर ही नहीं सकता। महात्मा जी के लगाये हुए दोषों के खंडन में मैंने भी उस समय एक लेख लिखा था; परन्तु उस समय मेरा विचार था

कि महात्मा जी ने धार्मिक दृष्टिकोण से आक्षेप किया है। परन्तु इस पुस्तक में महात्मा जी के लेखों और भाषणों से इतने प्रमाण उपस्थित किये गये हैं कि मुझे अपना विचार एकदम बदल देना पड़ा और यह मानना पड़ा कि यह आक्षेप राजनीतिक आवश्यकता को दृष्टि में रखकर किया गया था। इस पुस्तक से पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि महात्मा जी हिन्दू-धर्म के तत्त्व से पूर्णतया परिचित नहीं हैं।

पुस्तक में वैदिक-धर्म के सिद्धान्तों की आलोचना जिस उत्तमता से की गई है, वह पढ़ने से ही ज्ञात होगी। ईश्वर करे, यह पुस्तक महात्मा जी की दृष्टि में पड़े और वे अध्ययन करें। मुझे विश्वास है कि वे इसके पाठ से अपने विचारों में अवश्यमेव परिवर्त्तन करेंगे। कम से कम आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध में उन्हें सम्मति बदलनी ही पड़ेगी। निदान लाला जी ने इस पुस्तक को लिखकर आर्यसमाज की बड़ी भारी सेवा की है। इसके पाठ से सर्व-साधारण के हृदय में वैदिक-धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होगी। इस पुस्तक के प्रचार से अनेक भ्रान्तियों के दूर होने की आशा है। मैं इसका हृदय से स्वागत करता हूँ।

६—शास्त्रार्थ-महारथी पं० रामचन्द्र (दिल्ली-निवासी)

मैंने लाला ज्ञानचन्द्र जी, आर्य-सभासद सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा की पुस्तक······को ध्यान-पूर्वक पढ़ा। मुझे रोचक और और लाभप्रद विदित हुई। महात्मा गान्धी ने जो आक्षेप और दोषारोपण आर्यसमाज और उनके संस्थापक पर लगाया था,

उसका निवारण इस सुन्दरता और गम्भीरता से किया है कि वह व्यक्ति भी, जो महात्मा जी का परम-श्रद्धालु हो, ग्रन्थकर्त्ता के प्रति किसी तरह के अनौचित्य का दोष नहीं लगा सकता और दूसरी ओर आक्षेपों व दोषारोपणों का तर्क-शास्त्र और ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसी दृढ़ता से उत्तर दिया गया है कि कोई रूखे से रूखा आर्यसमाजी भी ग्रन्थकर्त्ता पर महात्मा गान्धी के साथ अनुचित पक्षपात का दोष नहीं लगा सकता। जिन बातों को मैं अपने विचार से तुच्छ समझता था और यदि मैं इस पुस्तक को लिखता तो उनको अवश्य छोड़ देता, उनका भी उत्तर लाला जी ने इस उत्तमता से दिया है कि उनका विशेष प्रभाव पड़ता है।

मैं उपदेशक हूँ, इसलिए स्वभावतः इस बात में असावधान नहीं रह सकता कि इस पुस्तक में सिद्धान्त की ग़लती तो नहीं हो गई है। परन्तु मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि लेखक ने इसमें भी कौशल दिखलाया है। इससे भी लाला जी के स्वाध्याय और समाज से प्रेम का पता चलता है। आपने इस पुस्तक को लिखकर आर्य-समाज की बहुत बड़ी सेवा की है। महात्मा गान्धी के आक्षेपों तथा आरोपित दोषों का एक एक करके उत्तर देना मानों आर्यसमाज के सम्बन्ध में फैले हुए कुप्रभाव को शमन करने के तुल्य है।

यह मेरा काम जो लाला जी ने किया है, यदि इस पुस्तक का अनुवाद अङ्गरेजी में हो जाय तो संसार का बहुत बड़ा लाभ होगा।

अन्त में सब से प्रार्थना है कि इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें और देखें कि सचाई क्या है ?

७—श्री भाई परमानन्द जी एम० ए०

लाला ज्ञानचन्द्र जी बहुत पुराने व दृढ़ और सच्चे आर्यसमाजी हैं और उनके हृदय में आर्यसमाज के लिए अगाध श्रद्धा और भक्ति है।

कई वर्ष के परिश्रम और खोज के पश्चात् लाला जी ने एक पुस्तक·········के नाम से छपवाई है। इसमें हिन्दू-धर्म व आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द जी पर महात्मा गान्धी के द्वारा आरोपित दोषों का रहस्य प्रकट होता है और महात्मा जी के निजी लेखों से उनका खंडन किया है। पुस्तक विचार-पूर्वक और मनन करने के बाद लिखी गई है और इस समय जब कि महात्मा जी के विरुद्ध तर्क करना एक बड़ी वीरता और साहस का काम है, लाला जी ने अपने विचारों को पब्लिक के सामने रखकर बड़ा नैतिक साहस दिखलाया है। हम आशा करते हैं कि सत्यता के जिज्ञासु इसके अध्ययन से लाभ उठायेंगे, इत्यादि।

८—श्री स्वामी स्वतंत्रानन्द जी महाराज

लाला ज्ञानचन्द जी दिल्ली-निवासी ने·······नामक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक में उन आक्षेपों का उत्तर दिया गया है जो कि महात्मा जी ने आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द जी पर किये थे। इस पुस्तक की सबसे बड़ी उत्तमता यह है कि इसमें कोई बात विना प्रमाण के नहीं लिखी गई। दूसरे इस प्रकार की पुस्तकों में वाक्यों में प्रायः कटुता आ जाती है, परन्तु लाला जी

ने इस काम को बड़ी सुन्दरता से पूरा किया है। इसमें किसी स्थान पर भी कटुता नहीं प्रतीत होती, इसके लिए मैं लाला ज्ञान-चन्द्र जी को विशेष रूप से धन्यवाद देता हूँ। महात्मा गान्धी के आक्षेपों को पढ़कर कई स्थान पर विदित होता है कि महात्मा जी के सदृश ज्ञानी और अनुभवी पुरुष भी किस तरह की भूल कर सकता है, जिसका कोई आधार ही नहीं है। लाला जी ने एक-दो स्थान पर इस बात को स्पष्ट प्रकट किया है कि जो बात महात्मा गान्धी जी लिख रहे हैं, ऋषि का सिद्धान्त और काम बिलकुल इसके विपरीत है। इन स्थलों के पढ़ने से पता लगता है कि महात्मा जी ने आर्यसमाज को जानने का प्रयत्न नहीं किया। लाला जी ने इस पुस्तक में आर्यसमाज पर दोष लगाने का कारण भी बताने का प्रयत्न किया है। इसे पाठकों को ध्यान से पढ़ना चाहिए और फिर सोचना चाहिए कि लाला जी ने जो कुछ लिखा है, ठीक है या नहीं। यदि वह ठीक है तो कहना पड़ेगा कि बड़े आदमियों की भूलें भी बड़ी ही होती हैं। मैं आर्यसमाजियों को प्रेरणा करूँगा कि वे अवश्य इस पुस्तक को पढ़ें, जिससे आर्यसमाज की पोज़ीशन उनकी समझ में आ जावे।

९—श्री पंडित चमूपति जी, एम० ए०

आपकी लिखी पुस्तक मैंने पढ़ी। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता गया, मेरी प्रसन्नता बढ़ती गई। पुस्तक बड़ी गम्भीरता से लिखी गई है और बहुत ही युक्तियुक्त है। महात्मा गान्धी का ऋषि दयानन्द और सत्यार्थ-प्रकाश पर दोषारोपण एक अयुक्त बात थी। परन्तु

आपने न केवल उनके दोषारोपण को निराधार सिद्ध किया है, प्रत्युत स्वयं महात्मा जी के विचारों को महात्मा जी के निजी लेखों से ही अयुक्त और असंगत सिद्ध करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। एक राजनीतिक लेख में किसी समूह के शुद्ध धार्मिक सिद्धान्त पर आक्षेप करना महात्मा जी की भूल थी। इस आक्षेप की तह में महात्मा जी के धार्मिक दृष्टिकोण की कौन सी त्रुटि काम कर रही थी, यह इस पुस्तक के अध्ययन से विदित होता है। महात्मा जी के धार्मिक भाव अच्छे हैं। परन्तु विचारों और विश्वासों को तर्कशास्त्रानुमोदित, उचित और परस्पर-विरोध-रहित रूप प्राप्त नहीं हुआ। इसलिए वह धार्मिक दृष्टिकोण से आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द की समालोचना करने के अधिकारी न थे।............कुछ हो, आपने इस ग्रन्थ से आर्य-समाज की और साधारण धार्मिक जगत् की सेवा की है, जिस पर आपको धन्यवाद देता हूँ। पुस्तक इस योग्य है कि महात्मा जी भी इसपर ध्यान दें तो आशा है कि आपकी प्रशंसा करेंगे और आपके तर्कयुक्त समालोचना से लाभ उठायेंगे। आपकी पुस्तक किसी उद्वेग के समय की रचना नहीं है, इस हेतु इसका अध्ययन बड़ी शक्ति से किया जा सकता है। ता० १८ फर्वरी, सन् १६३१ ई०।

१०—श्री लाला गनेशदास सियालकोटी (रचयिता मेघ और उनकी शुद्धि, प्रार्थना-रहस्य आदि)

आज पुस्तक मिली। बहुत ही रोचक होने से सरसरी दृष्टि से लगभग समूची पुस्तक देख ली। पुस्तक प्रत्येक दृष्टि से

दर्शनीय और लाभदायक है। यह अपूर्व पुस्तक लिखकर आपने आर्यसामाजिक साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण वृद्धि कर दी है। धार्मिक, साहित्यिक और ऐतिहासिक ज्ञानों का उचित भंडार होने के कारण यह पुस्तक प्रत्येक आर्यसमाज और प्रत्येक ग्रन्थकर्त्ता व सम्पादक की लाइब्रेरी में आवश्यकता के निवारणार्थ उपस्थित रहनी चाहिए। आपके इस पुरुषार्थ की सफलता पर मैं आपको हार्दिक वधाई देता हूँ। ता० २-३-३१।

११—श्री लाला गङ्गाराम जी, ऐडवोकेट सियालकोट

मैंने आपकी पुस्तक.................पढ़ी है। यह एक अपूर्व पुस्तक है जो वर्त्तमान-काल में प्रत्येक पुरुष के पास होनी चाहिए। आपने महात्मा गान्धी जी (जिनको लोगों ने अवतार मान लिया है) की समालोचना करके बड़ा नैतिक साहस दिखलाया है और आर्यसमाज की बड़ी भारी सेवा की है। आपने इस पुस्तक में जो कुछ लिखा है, मैं उसके साथ पूर्णतया सहमत हूँ। मैं आपको आपके इस नैतिक साहस पर धन्यवाद देता हूँ। ता० १६-२-३१।

१२—श्री मास्टर आत्माराम जी, अमृतसरी (बड़ौदा)

ऋषि दयानन्द, उनके ग्रन्थ तथा आर्यसमाजियों के मन की गान्धी जी ने जो भारी हिंसा सन् १९२४ में की थी, उसके उत्तर आर्यजगत् के पत्र देते रहे; किन्तु वे भिन्न-भिन्न समाचार-पत्रों में ही हैं। इसलिए आवश्यकता थी कि अहिंसावादी महात्मा जी के हिंसापूर्ण युक्तिरहित लेखों व आक्षेपों को, जो जीवन्मुक्त ऋषि

दयानन्द तथा परोपकारी आर्यसमाज-सम्बन्धी हों, प्रायः उनके उत्तर युक्ति और प्रमाण से दिये जायँ। इस भारी त्रुटि को दिल्ली के आर्य लाला ज्ञानचन्द्र जी ने..................नामक पुस्तक रचकर बड़ी योग्यता से पूर्ण किया है। महात्मा जी के सब आक्षेपों के उत्तर आपने बड़ी सभ्यता तथा अनुसन्धान की रीति से दिये हैं। प्रत्येक देश-हितैषी, आर्यसमाजी विद्वान् को यह ग्रन्थरत्न जरूर पढ़ना चाहिए। प्रत्येक कांग्रेस-भक्त को, जिसने महात्मा गांधी जी का कोई भी जीवन-चरित्र पढ़ा है, इस ग्रन्थ को पढ़ना उसका धर्म है, क्योंकि उत्तर-ग्रन्थ के पढ़े विना हम नहीं जान सकते कि सचाई किस पक्ष में है? सत्य के प्रेमी ग्रन्थकर्त्ता के इसके रचने तथा प्रकाशन करने पर मैं मंगलवाद दिये विना नहीं रह सकता। इस प्रगति के युग में हमें अपने देश-नेता के सब प्रकार के लेखों तथा उसके उत्तर में लिखे अन्य लेखों को पढ़े विना सत्य की परीक्षा नहीं हो सकती।

१३–श्री गोपाल, बी० ए०

मैंने..............नामक पुस्तक को आदि से अन्त तक ध्यान-पूर्वक पढ़ा है। महात्मा गांधी जी का एक लघु सेवक होने के नाते से ही मेरे हृदय में यह इच्छा थी कि मैं इस पुस्तक को ध्यान से पढ़ूँ और महात्मा जी के लेखों का जो उत्तर इस पुस्तक द्वारा दिया गया है, इसी की अच्छी तरह पड़ताल करूँ।

मैं हृदय से अनुभव करता हूँ कि लेखक महोदय ने जिस सहिष्णुता और गम्भीरता से इस पुस्तक को लिखा है, वह वास्तव

में आर्यसमाज के साहित्य में एक नवीन अध्याय की वृद्धि करने में सहायक सिद्ध हुये हैं। महात्मा गांधी जी के श्रेष्ठ व्यक्तित्व को जो पद इस पुस्तक में दिया गया है, वह प्रकट करता है कि लेखक महोदय का हृदय कितना विशाल है। परन्तु इसके साथ साथ यह भी प्रकट किया है कि महात्मा गांधी जी को पोलिटिकल लीडर होने के हेतु धार्मिक बातों में दखल देने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

महात्मा गांधी जी ने आर्यसमाज और उसके नेताओं पर जो आक्षेप किये हैं, उनका खंडन प्रमाणों और युक्तियों से भली भाँति किया गया है। मैं समझता हूँ कि महात्मा गांधी जी को तथा उनके अनुयायियों को यह पुस्तक भेंट की जानी चाहिए, जिससे वे आर्यसमाज की पोजीशन को स्पष्टतया समझने के योग्य हो सकें। अन्त में मैं लाला ज्ञानचन्द्र जी को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने इस पुस्तक को लिखकर आर्यसमाज की बड़ी सेवा की है और प्रत्येक आर्य भाई का यह कर्त्तव्य है कि वह इस पुस्तक का यथासम्भव प्रचार करे। ता० २७-२-३२।

१४—श्री पंडित भगतराम जी, डंगर-निवासी

………को मैंने पढ़ा। मेरे विचार में इस पुस्तक का पढ़ना प्रत्येक आर्य पुरुष के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

इस पुस्तक में, शिक्षित लोगों की ओर से ऋषि दयानन्द के बनाये सत्यार्थ-प्रकाश पर जितने आक्षेप किये जा सकते हैं, उन सबका बड़ी सहिष्णुता और गम्भीरता से उत्तर दिया गया है।

महात्मा गांधी जी के आक्षेपों के हर एक अंश पर इस उत्तमता से विचार किया है कि जिसको पढ़नेवाले बड़ी सुगमता से इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि वैदिक-धर्म ही एक ऐसा है जो कि बुद्धिवादी लोगों के सामने ठहरने की क्षमता रख सकता है और शिक्षित व्यक्तियों के सामने प्रस्तुत किया जा सकता है। शुद्धि और अछूतोद्धार को लेकर जाति में जो वैमनस्य फैलाने का मूल कारण आर्यसमाज को माना गया है, उसका बड़ी ही बुद्धिमत्तापूर्वक और सहिष्णुता के साथ उत्तर दिया गया है और हर एक बात को ऋषि के निजी शब्दों से सिद्ध करने का पुरुषार्थ किया गया है जिसके लिये आर्य पुरुषों का लाला ज्ञानचन्द्र जी का बड़ा कृतज्ञ होना चाहिए। निदान यह पुस्तक प्रत्येक दृष्टि से ऐसी है कि इस पर विशेषतः आर्यसमाजी और सामान्यतः हिन्दू अभिमान कर सकते हैं।

१५—क्रान्ति, लाहौर (फर्वरी, सन् १९३१)

कुछ समय हुआ महात्मा गांधी ने आर्यसमाज और उसके पूज्य प्रवर्त्तक पर संकीर्णता, कठोरता और असहिष्णुता आदि का कलंक लगाया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने शुद्धि, पुनर्जन्म, वर्ण-व्यवस्था और विधवा-विवाह आदि विषयों पर भी अपनी उलटी-सीधी सम्मति प्रकट की थी। महात्मा गांधी के लेखों में जहाँ हिन्दू-धर्म और आर्यसमाज को खरी-खोटी सुनाई गई है, वहाँ इस्लाम की प्रशंसा के ख़ूब पुल बाँधे गये हैं। महात्मा जी इस समय भारत के सर्वोपरि लीडर हैं, उनकी गिनती संसार के महा-

पुरुषों में होती है। इस समय उनके विरुद्ध लिखना या कहना बड़े साहस का काम है। परन्तु सत्यता से बढ़कर पूजनीय और कोई नहीं। सत्य ही परम पूज्य है, इसके सामने व्यक्तित्व की कोई प्रतिष्ठा नहीं।

महात्मा गांधी राजनीति के भले ही विशारद हों, परन्तु धार्मिक विषयों में उनका ज्ञान अधूरा है। जिस प्रकार गांधी जी ने ऋषि दयानन्द के विरुद्ध लिखने का साहस किया है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को गांधी जी की बातों के जाँचने का अधिकार प्राप्त है। क्योंकि बड़े आदमियों की भूलें महाजातियों को बहुत अधिक हानि पहुँचाती हैं। इस हेतु ज्ञान का नेत्र मूँदकर अन्धा-धुन्ध किसी भी बड़े आदमी का अनुसरण न करना चाहिए। हमें यह देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है कि श्रीयुत ज्ञानचन्द्र जी ने सत्यता को प्रकट करने में अत्यन्त नैतिक साहस का प्रमाण दिया है। आपने प्रबल प्रमाणों और दृढ़ युक्तियों से गान्धी जी के लगाये हुए कलङ्कों को निराधार सिद्ध कर दिया है। उन्होंने गान्धी जी के लेखों और भाषणों का उद्धरण देकर यह भी दिखला दिया है कि महात्मा जी को हिन्दू-शास्त्रों और आर्यधर्म के सिद्धान्तों का कितना अल्प-ज्ञान है। महात्मा जी की बातें इस विषय में बहुत ही असंगत, अनिश्चित और परस्पर विरोधी हैं। उनकी मुस्लिमों पर कृपापूर्ण नीति का भी ग्रन्थकर्त्ता ने खूब ही भंडाफोड़ किया है। पुस्तक बहुत ही परिश्रम-पूर्वक लिखी गई है। सत्य के जिज्ञासुओं और विशेषकर महात्मा

गान्धी के अन्ध-भक्तों को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए।" पुस्तक बड़ी ज्ञानवर्द्धक है।

१६—आर्य मुसाफिर, लाहौर

पुस्तक........की तैयारी में असाधारण परिश्रम से काम लिया गया है। आदि से अन्त तक प्रत्येक विषय और लेखशैली से ग्रन्थकर्त्ता का वैदिक-धर्म और आर्यसमाज से अगाध प्रेम मालूम होता है। वैदिक सिद्धान्तों का जो सम्मान ग्रन्थकर्त्ता के हृदय में है और जिस उत्तमता से सिद्धान्तों को समझने और समझाने का यत्न किया गया है, उसके लिए हम ग्रन्थकर्त्ता को हृदय से बधाई देते हैं।

लाला ज्ञानचन्द्र जी ने सत्यता और धर्म के निमित्त वर्त्तमान स्थिति में भी जो साहस दिखलाया है, उसके लिये धन्यवाद और प्रशंसा के पात्र हैं। हिन्दू-धर्म, आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द पर महात्मा जी के द्वारा आरोपित दोषों का पूरा उत्तर गम्भीरता और योग्यता से दिया गया है। युक्तियाँ दृढ़ हैं, प्रमाण प्रबल हैं। और विशेषता यह है कि महात्मा जी के ही 'यङ्ग इण्डिया' और 'नवजीवन' समाचारपत्र से और उन्हीं के निबन्धों के उद्धरण से अपनी पोजीशन को दृढ़ करके आक्षेप के आधार तक को निर्मूल किया गया है। हम समझते हैं कि लाला ज्ञानचन्द्र जी अपने प्रयत्न और उद्देश्य में सफल हुए हैं। महात्मा जी की प्रतिष्ठा साधारण पोलिटिकल लोगों से उनके हृदय में अधिक मालूम होती है। परन्तु धार्मिक-क्षेत्र के गौरव को वह इस भावावेश से त्याग नहीं

सकते। आर्यों और सब सत्यता-प्रिय सज्जनों को इस अपूर्व पुस्तक का यथेष्ट प्रचार करना चाहिए''''''इत्यादि।

१७—प्रोफेसर रामदेव जी, एम० ए०, दिल्ली

मैंने लाला ज्ञानचन्द्र की लिखी पुस्तक''''''''को बड़े ध्यान से पढ़ा है। लाला ज्ञानचन्द्र जी ने बड़ी उत्तम रीति से यह दिखाया है कि न केवल महात्मा जी के लगाये हुए दोष ही निर्मूल हैं, प्रत्युत वे दोष अनजान में लगाये गये हैं। पिछली बात तो उन्होंने महात्मा गान्धी जी के ही लेखों से सिद्ध करके दिखाई है।

इस पुस्तक को पढ़कर आर्यसमाजियों को अपने धर्म के प्रति विश्वास में दृढ़ता होगी और अन्य पाठकों के हृदय से भ्रान्ति दूर होगी। प्रत्येक सत्य के जिज्ञासु को यह पुस्तक पढ़नी चाहिए। महात्मा जी के किये हुए आक्षेपों का आर्यसमाज की ओर से वास्तविक उत्तर जो इस पुस्तक में लिखा गया है''''इत्यादि।

इसके अतिरिक्त और कई सज्जनों की सम्मतियाँ भी आई हुई हैं, परन्तु विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखी जा सकतीं।